Ph.D THESIS

"समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता के बहुआयामी सन्दर्भ"

SAMAKALEEN KAHANI MEIN SAMPRADAYIKATA KE BAHUAAYAMI SANDARBH

Thesis
Submitted to

Cochin University of Science and Technology

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY
In
HINDI
Under the Faculty of Humanities

By

टीना टोमी

TEENA TOMY

Dr. N.G. DEVAKI
Professor and
Head of the Department

Dr. M. SHANMUGHAN
Professor (Retd.)
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 022

November 2014

Certificate

This is to certify that this thesis entitled **SAMAKALEEN KAHANI MEIN SAMPRADAYIKATA KE BAHUAAYAMI SANDARBH** is a bonafide record of research work carried by **Ms. Teena Tomy** under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Place: Kochi - 22
Date : /11/2014

Prof. (Dr.) M. SHANMUGHAN
Professor (Retd)
Supervising Teacher
Department of Hindi
Cochin University of Science & Technology

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled **SAMAKALEEN KAHANI MEIN SAMPRADAYIKATA KE BAHUAAYAMI SANDARBH** based on the original work done by me under the guidance of **Prof. (Dr.) M. SHANMUGHAN (Retd)** Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

Place: Cochin
Date : /11/2014

TEENA TOMY
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi - 682 002

प्राक्कथन

प्राक्कथन

मानवराशी के आध्यात्मिक और भौतिक विकास से सांप्रदायिकता का कोई संबन्ध नहीं है । धर्म की विशालता से अलगाकर मनुष्य को स्वार्थ की संकीर्णता में बांधने का प्रयास ही सांप्रदायिकता करती है । इस प्रयास में धर्म बाह्य रूप को छोड़कर कहीं भी धार्मिक नहीं होता है । वह पूर्णतया कुटिल राजनीति का हिस्सा बन जाता है । कुटिल राजनीति मूल्यहीन धर्म की आड़ में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देती है । इसकी सहायता से आज सत्ता की राजनीति भी मज़बूत हो रही है । इस तरह सांप्रदायिकता की प्रक्रिया बुनीयादी तौर पर नहीं, बल्कि व्यावहारिक तौर पर भी राजनीतिक होती है। इसका इतिहास उक्त निर्णय को पुष्ट भी करता है। भारत के गत डेढ़ सौ साल के इतिहास से गुज़रने पर यह स्पष्ट हो जाएगा। अंग्रेज़ एवं अंग्रेज़ी सत्ता ने सांप्रदायिक राजनीति की सिर्फ शुरुआत नहीं की, उन्होंने खाद-पानी देकर पालन पोषण करके उसको बढ़ाया और उस फल का उपभोग भी किया ।

स्वाधीनता के बाद देशी राजनीति ने इस प्रक्रिया को जारी रखा । स्वतन्त्र भारत की घटनाएँ एवं समस्यायें उसके निदर्शन ही हैं । दिन-ब-दिन उसमें वृद्धि ही हो रही है । वैश्वीकृत दुनिया में यह राष्ट्र एवं राष्ट्रवादी चेतना को कटघरे में डालती है । आज सांप्रदायिकता का एक छोर देशी राजनीति के हाथ में है तो दूसरे उसके वैश्वीकृत संगठनों के हाथ में है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर से लेकर आज तक सांप्रदायिकता राष्ट्र एवं राष्ट्रवादी मुद्दों को मिटा देने की कोशिश करती आ रही है । वह

भी राष्ट्र, राष्ट्रीय संस्कृति और नैतिक मायनों को ढीला भी करती है । इन सबकी अभिव्यक्ति हिन्दी कहानी में हुई है और करती भी आ रही है । यह समझ ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की प्रेरणा है । इसका विषय है **'समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता के बहुआयामी सन्दर्भ'।** अध्ययन की सुविधा के लिए इसे छह अध्यायों में विभाजित किया गया है ।

पहला अध्याय है **सांप्रदायिकता का तात्विक विश्लेषण** । इस अध्याय में सांप्रदायिकता के मतलब को बारीकी से स्पष्ट किया गया है । विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष भी निकाला गया है । तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में धर्म और राजनीति का गठबंधन, धर्म की व्याख्या, सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप आदि मुद्दों पर भी प्रकाश डाला गया है ।

दूसरा अध्याय है **'भारत में सांप्रदायिकता की उपज एवं विकास'**। इसमें स्वतन्त्रतापूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिकता के विकास की चर्चा की गई है । इसके साथ भारत की ज्वलन्त समस्याएँ-पंजाब, कश्मीर, अयोध्या-आदि की बढ़ोत्तरी में सांप्रदायिक संगठनों की भूमिका पर भी इशारा किया गया है ।

तीसरा अध्याय है **'स्वतन्त्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर युग की कहानी में सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति'**। इस में प्रेमचंद, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', यशपाल, अज्ञेय, बदी उज़्ज़माँ, विष्णु प्रभाकर, महीप सिंह, भीष्म साहनी आदि कहानीकारों की कहानियों पर बहस की गई है ।

चौथा अध्याय है **'समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर'**। इस में समकालीन कहानियों में सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे को रेखांकित करते हुए कहानियों में दर्ज विरोधी स्वर को उठाया गया है ।

पंचम अध्याय है **'समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर'- 'सिख विरोधी दंगे', 'अयोध्या और कश्मीर' मसले के विशेष सन्दर्भ में'**। इस अध्याय में इन सब के परिप्रेक्ष्य में भीष्म साहनी, मंजुल भगत, स्वयं प्रकाश, हृदयेश, मृदुला गर्ग, पंकज विष्ट, हरि भटनागर, वंदना रागा, अखिलेश, पुष्पा सक्सेना, चन्द्रकान्ता आदि कहानीकारों की कहानियों की चर्चा की गई है ।

छठा अध्याय है **'कहानी के शिल्प पक्ष का अध्ययन** । इसमें स्वातंत्र्योत्तर और समकालीन कहानियों में प्रयुक्त बिंब, प्रतीक, संकेत, फैंटसी व विभिन्न शैलियों का विवेचन करते हुए भाषा की शक्ति का अध्ययन किया गया है ।

इस शोध प्रबन्ध कुसाट के आदरणीय गुरुवर डॉ. षण्मुखन (अवकाश प्राप्त) के निर्देशन में किया गया है । मैं उनके प्रति बेहद शुक्रगुज़ार हूँ । आदरणीय डीन डॉ. एन मोहनन, विभागाध्यक्षा डॉ. एन जी देवकी और विभाग के अन्य अध्यापक डॉ. के. वनजा, डॉ. अजिता, विशेषताः विषय विशेषज्ञ डॉ. शशिधरन, कार्यालय एवं वाचनालय के कर्माचारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

इस शोध कार्य में मेरे पति, माँ एवं दोस्तों का सहयोग अवश्य रहा है। उनके प्रति भी मैं शुक्रगुज़ार हूँ ।

सविनय

टीना टोमी

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन - 682 022

तारीख :

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय 1-31

सांप्रदायिकता का तात्विक विश्लेषण

धर्म और सांप्रदायिकता - धर्म की वास्तविक परिकल्पना - धर्म की व्याख्या - धर्म का महत्व - संस्थागत धर्म - सांप्रदायिकता की व्याख्या - सांप्रदायिक फासीवाद - सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

दूसरा अध्याय 32-102

भारत में सांप्रदायिकता की उपज एवं विकास

स्वतन्त्रतापूर्व भारत में सांप्रदायिकता - स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिकता - पंजाब मसला, अयोध्या मसला, बाबरी मस्जिद घटनाक्रम - गुजरात का नरसंहार - कश्मीर मसला और उसकी बढ़ोत्तरी में सांप्रदायिक संगठनों की भूमिका

तीसरा अध्याय 103-199

स्वतन्त्रतापूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर युग की कहानी में सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति

स्वतन्त्रतापूर्व कहानी - प्रेमचंद की कहानी - पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की कहानी - विष्णु प्रभाकर की कहानी - **स्वातंत्र्योत्तर कहानी** - यशपाल की कहानी - अज्ञेय की कहानी - मोहन राकेश की कहानी - विष्णु प्रभाकर की कहानी - महीप सिंह की कहानी - बदी उज्ज़माँ की कहानी, भीष्म साहनी की कहानी

चौथा अध्याय 200-276

समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर

पार्टीशन - दूसरा कबीर - रशीद का पाजामा- बदली तुम हो सादिया- ये धुआं धुआं अंधेरा - काला शुक्रवार - लाल गोदाम का भूत - फसाद - जलता हुआ सवाल - सांप्रदायिकता और आर्थिक विपत्रता पर लिखी गई कहानी- चुनावी राजनीती की अभिव्यक्ति - दंगे के स्वरूप की अभिव्यक्ति - आम आदमी की त्रासदी की अभिव्यक्ति

पाँचवाँ अध्याय 277-333

समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर-सिख विरोधी दंगे, अयोध्या और कश्मीर मसले के विशेष सन्दर्भ में

सिख विरोधी दंगे के सन्दर्भ में रचित कहानी - झुटपुटा - अफवाहें - क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा - स्याह घर - अगली सुबह - **अयोध्या मसले पर लिखी गई कहानी** - परिंदे का इंतज़ार सा कुछ - अंधेरा - युटोपिया - कुंजरो वा - जय श्रीराम - उसके गले का राम - **कश्मीर मसले पर लिखी गई कहानी** - नवशीन मुबारक - शरणागत दीनार्थ - पायथन - काली बर्फ - जलकुण्ठ का रंग और नुसरत की आँखें - शायद संवाद

छठा अध्याय 334-375

कहानी के शिल्प पक्ष का अध्ययन

भाषा की शक्ति - धर्म एवं भाषा का संबन्ध - संकेत - बिंब - प्रतीक - फैंटसी - शैलियों का प्रयोग - वर्णनात्मक शैली - कहानी के शीर्षक - संवाद शैली - आत्मकथात्मक शैली - शब्दभण्डार की बहुलता

उपसंहार 376-383

सन्दर्भ ग्रंथ सूची 384-396

पहला अध्याय

सांप्रदायिकता का तात्त्विक विश्लेषण

सांप्रदायिकता का तात्विक विश्लेषण

वर्तमान वैश्विक समाज धार्मिक कट्टरता यानी सांप्रदायिकता के चंगुल में फंसा हुआ है जो दुनिया भर की ज्वलंत समस्याओं में से एक है । यह मानव समाज के विकास के लिए खतरनाक माना गया है, मानव के दिलो दिमाग में नासूर की तरह पलते यह अमानवीय भाव सचमुच मानवता के लिए श्रेयस्कर नहीं है । दरअसल मानव जाति के आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास से सांप्रदायिकता का कोई सरोकार नहीं है । धर्म की विशालता से आदम-जात को अलगाकर संकुचित स्वार्थ के घेरे में बांधने का कार्य ही सांप्रदायिकता करती है । इस प्रक्रिया में धर्म का बाह्य रूप ही बरकरार रहता है, आंतरिक तौर पर उसकी धार्मिकता लुप्त होती है । इतना ही नहीं, वह कुटिल राजनीति का हिस्सा भी बन जाता है । सचमुच धर्म और सांप्रदायिकता के अंतर का बारीकी विश्लेषण से ही सांप्रदायिकता का सही बेनकाब हो सकता है ।

धर्म और सांप्रदायिकता

धर्म की वास्तविक परिकल्पना

विश्व के मानव समाज का ज़्यादातर हिस्सा धर्म से जुड़ा हुआ है। यह सही है कि धर्म फिलवक्त उसकी परिकल्पना से कोसों दूर पहुँचा है । इस वक्त हम यह सोचने केलिए मज़बूर हो गए हैं कि धर्म का आविर्भाव कैसे

हुआ होगा ? इसमें सन्देह तो नहीं कि यह मानवनिर्मित है । देशकाल की माँग के अनुसार मनुष्य के धर्म (दायित्व) के बारे में महामनीषियों द्वारा की गई एवं संग्रहीत बातें ही धर्म का आधार रही होंगी ।

भारतीय ऋषियों और मुनियों ने धर्म तत्व पर जो अंतरमंथन किया, उससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि धर्म एक ऐसी आन्तरिक क्रान्ति है जिसका मूल उद्देश्य अनुभूति द्वारा अंतस में ऐसा रूपान्तरण करना है कि वह प्राणिमात्र ही नहीं, बल्कि समस्त प्रकृति के लिए पूर्ण रूप से सहयोगी बन जाए ।

वेदों में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ धारण करने या पालन करने से किया जाता है । उपनिषद में धर्म का प्रयोग धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में किया गया है । श्रीमद् भागवत् महापुराण में विशेष प्रकार के आचरणों को धर्म बतलाया गया है। जैमिनी सूत्रकार जैमिनी ने भी धर्म का प्रयोग आचरणार्थक रूप में ही किया है । उन्होंने कहा है - "वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है।"[1]

आधुनिक युग के महान विचारक मार्क्स ने धर्म के बारे में लिखा है - "धर्म एक एतिहासिक, प्राकृत घटना है । इतिहास के सबसे पहले चरण

---

1. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा -डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिंतन, पृ. 49

में जन मानव असभ्य था, धर्म नहीं था । भविष्य में भी धर्म न होगा । यद्यपि शोषक वर्ग के सिद्धान्तकार धर्म को शाश्वत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि धर्म का जन्म स्वतः स्फूर्त हुआ । इसकी समाप्ति तब होगी जब पुराने समाज के स्थान पर नये समाज के निर्माण के लिए लक्ष्यबद्ध काम किये जाएंगे।"[1]

आधुनिक चिंतक धर्म को आचरण से जोड़ते है । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, धर्म को आचरण के रूप में देखने के पक्ष में है । वे स्पष्ट रूप में कहते है कि धर्म का अर्थ ही मानव कल्याण है । धर्म व्यक्ति के आचरण में ही प्रकट होता है ।"[2]

उपरोक्त मान्यताओं को देखने से यह लगभग स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की अवधारणा के मूल में मानव आचरण की बात ही प्रमुख है ।

कालान्तर में इन दायित्वों (Duties) में अनेक बातें जोड़ी गईं, कई तरह की व्याख्यायें की गई जिनके बीच मूल अंश गौण हो गया । दायित्व (duties) के सम्बन्ध में मतभेदों का होना ही असंगत लगता है । इन्हें अलग पंथों के रूप में बांटने पर ही खतरा पैदा हुआ होगा । महान रचनाकार भीष्म साहनी धर्म को अपने आप में खतरनाक नहीं मानते । उनके शब्दों में -"संस्थागत धर्म इंसान को इंसान से अलग करते हैं, उनमें भेद भाव

---

1. सूर्यनारायण भट्ट - धर्म और जीवन, पृ. 12
2. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा -डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिंतन, पृ. 49

पैदा करते है और राजनीति से जोड़ते हुए भेदभाव को वैमनस्य के स्तर तक बढ़ावा देते हैं । संस्थागत धर्म में ज्यों-ज्यों अनुयायियों की संख्या बढ़ती है उसी अनुपात में सत्तालोलुप होने लगते हैं । विरोध करनेवालों के विरुद्ध उसमें लामबंदी होने लगती है, सत्तालोलुप राजनीति में गठजोड़ होने लगती है, यह अकारण नहीं है कि ऐसे धार्मिक संगठन उन तानाशाहों के गुण गाते हैं जिन्होंने भारी संख्या में नरसंहार किए।"[1] इस परिमार्जन की जगह प्रक्षिप्तों को छोड़कर उन्हें मानव विरोधी-बनाना उनके संकुचित स्वामियों का मकसद है ।

धर्म की व्याख्या

"धर्म, मनुष्य की आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति का साधन है । वह मूलतःमनुष्य को सभ्यता की राह पर उच्चतर मूल्यों की ओर मुखातिब करने के लिए अस्तित्व में आए थे, आडम्बर फैलाने के लिए नहीं ।"[2] प्राचीन युग में धर्म ही नैतिकता का एकमात्र स्रोत था । दुनिया के सभी धर्मों में किसी न किसी बहाने मनुष्य को तुच्छता से उच्चता की ओर ले जाने की व्यवस्था है।"[3] जिससे उन्नति और कल्याण की सिद्धि होती है, वह धर्म है ।

धर्म जन-कल्याण की भावना से ओतप्रोत है । आलोचक कृष्णकुमार के शब्दों में धर्म की सामान्य और सरल व्याख्या है - "किसी के प्रतिकूल

1. भीष्म साहनी - आज की अतीत, पृ. 392
2. वही - पृ. 393
3. शंभूनाथ - धर्म का दुःखान्त, पृ. 17

आचरण न करना ही धर्म का सार है।"[1] सही धर्मावलंबी दूसरे धर्मों के साथ घृणा आदि भाव नहीं रखते । उक्त मार्ग से बढने पर टकराहट की संभावनाएँ बहुत कम होंगी । हमारे प्रथम राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार - "अर्द्ध धार्मिक और अधार्मिक लोग मतवाद लेकर झगड़ते हैं, न कि वे लोग सचमुच धार्मिक है।"[2] सभी धर्मों ने अपने अनुयायियों को काम, क्रोध और लोभ से बचने का उपदेश दिया है । संसार में आज हज़ारों धर्म और संप्रदाय हैं । इन सभी में समानताएँ अधिक हैं । धर्मों में भिन्नता प्रमुखतः अनुयायियों की आस्थाओं, आचरणों की वैयक्तिक अवधारणाओं में है । इन भिन्नताओं को ही धर्म के सत्तापक्ष और राजनीतिज्ञ जटिल बना देते हैं । यहाँ राही माज़ूम रज़ा का मत ध्यातव्य है - "धर्म वजू के पानी या चंदन के तिलक का नाम नहीं है । धर्म का नाम है सच बोलने का । इसलिए आइए सच बोलें।"[3] मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाने की चीज़ है धर्म । शुभ होना और शुभ करना ही धर्म का पूर्ण सार है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म मानव कल्याण के लिए रूपायित तथ्यों का संघात है । वह मानव की ही विशेषता है । सब के साथ मानवीयता से पेश आना ही सही धर्म का सार है ।

धर्म का महत्व

मनुष्य किसी धार्मिक अथवा ईश्वरीय चेतना को लेकर जन्म नहीं

1. कृष्णकुमार - प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास - पृ. 42
2. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन - धर्म और समाज, पृ. 46
3. राही माजूम रज़ा - छोटे आदमी की बड़ी कहानी, पृ. 16

लेता । "वक्त बीतने पर शायद प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए एक छोटा सा निजी धर्म गढ़ लेता है।"[1] जन्म के बाद, जिस धर्म, संप्रदाय के सदस्य के रूप में उनका जन्म हुआ है, उसी संप्रदाय से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धार्मिक चेतना का अनुप्रवेश कराया जाता है । मनुष्य पहले आया और धर्म बाद में, यह असंदिग्ध है । आज अधिकांश लोग किसी न किसी धर्म में आस्था रखते हैं। आज इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करके भी जनसाधारण की मानसिकता में धार्मिक विश्वास और ईश्वरीय चेतना की जड़ें बहुत गहराई तक फैली हैं । भारतवर्ष में बहुत कम ही लोग हैं जो नास्तिक है; भारतीय परंपरा में धर्म को मानवीय स्वभाव के रूप में स्वीकृत किया गया है ।

विनोदशाही के अनुसार - "जिस प्रकार अग्नि का धर्म दाहकता है उसी प्रकार मनुष्य के भी कुछ धर्म है जो 'धर्म' मानव स्वभाव में निहित 'मानवीय गुणों' दया, प्रेम, करुणा, मैत्री, सद्भावा आदि में प्रकट होते है न कि हत्या, घृणा, वैरभाव आदि में । आवश्यकता धर्म से 'मुक्त' होने की ही नहीं धर्म के यथार्थ स्वरूप को पहचान कर उससे 'युक्त होने की है । यह याद करने की ज़रूरत है कि जब मनुष्य अपने धर्म' अथवा अपनी प्रकृति के विरुद्ध आचरण करेगा तो वह नष्ट हो जाएगा और जब अपनी स्वाभाविक और उदात्त गुण विकसित होंगे मनुष्य मात्र की सर्व-रूपेण संवृद्धि होगी।"[2] मानव जीवन में धर्म का प्रभाव सदियों से हो रहा है । आज भी अधिकांश

1. भीष्म साहनी - आज की अतीत, पृ. 287
2. विनोदशाही - विचारधारा, विज्ञान, सांस्कृति और धर्म, समयांतर - पृ. 26

लोग धर्म में अपनी सुरक्षा ढूँढते हैं । सभी धर्म, प्रेम और करुणा की शिक्षा देते हैं, फिर भी अधिकांश धर्मावलंबी वैर और घृणा की दीक्षा पा जाते हैं।

मानव सभ्यता की विकास यात्रा में धर्म की अनिवार्यता को पूरी तरह से नहीं नकारा गया है । जो सबको सँभाले और मिलाए रखे वास्तव में वही धर्म है । गाँधीजी का धर्म से मतलब धर्म के ऊँचे और उदार तत्वों से था । अजाँ देने, नमाज़ पढ़ने, का नाम धर्म नहीं है । गाँधी जब भी धर्म कहते थे, उनका आशय अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, कर्मकांड़ और वर्ण आश्रम व्यवस्था से नहीं था । उन्होंने धर्म को सुन्दर ढंग से जाना क्योंकि उन्होंने अधर्म को जाना था। वे कहते थे- "धर्म-आचार-विचार के निजी और नैतिक नियमों का संग्रह है।"[1] जिस बात से किसी को कोई कष्ट न हो वास्तव में वही धर्म है ।

यहाँ धर्म के बारे में जो अभिमत पेश किए गए हैं पश्चिम के रिलीजियन' या मजहब के अर्थ में नहीं है । धर्म को स्वार्थ पूर्ति का साधन नहीं बनाया जा सकता है और न संकीर्णता अथवा असहिष्णुता का । धर्म तो नितांत वैयक्तिक बात है । सामूहिकता में प्रवेश करते ही धर्म अपना मौलिक स्वभाव खो देता है । ऐसा रूपांतरित धर्म समाज को छोटे छोटे हिस्सों में बाँटता है, मानवता को विभाजित करता है, उसे सांप्रदायिक बनाता है ।

---

1. राज किशोर - नैतिकता के नए सवाल, पृ. 43

धार्मिकता एक मौलिक क्रांति है । वह हमें सांप्रदायिकता से बहुत दूर ले जाती है । लेकिन आज धर्म इतना प्रदूषित हो गया है कि उसका सर्वाधिक प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा के लिए किया जाता है । धर्म का जो संस्थागत रूप है वह इंसान की विपरीत दशा की ओर चलता रहता है । भीष्म साहनी के शब्दों में 'धर्म तो मनुष्य को बेहतर इंसान बनने उसके मानवीय गुणों का विकास करने, उसे सभ्य और सुसंस्कृत बनाने की प्रेरणा देता है, दृष्टि की विशालता देता है, इंसान को जोड़ने की, उसे दूसरों के खून की प्यासा बनाने की प्रेरणा कहाँ देता है ? धर्म मनुष्य को सच्चा और अच्छा मनुष्य बनने की सीख देता है । मनुष्य एवं मनुष्य के बीच दीवार खड़ी करने, एक मनुष्य को दूसरे से नीचा समझने, हिंसा और लूटपाट करने की शिक्षा कोई धर्म नहीं देता है ।

मनुष्य अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए और सत्ता हासिल करने के लिए कुछ भी करने को तैयार है । ऐसी स्थिति में नैतिकता, धर्म, आदर्श, ईमान आदि हर काल और हर देश में मानवीय समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अनिवार्य है । सभी धर्म इंसान को इंसान बनाये रखने के लिए अपने दायित्वों की याद दिलाते हैं । परन्तु जब धर्म के केन्द्र में किसी एक नायक की प्रतिष्ठा और उसी के द्वारा बताये गए रास्तों को धर्म मानने पर उनमें अलगाव के तत्व घुसने लगते हैं। इस प्रकार धर्म संप्रदाय बन जाता है और अपने मकसद से अलग होने लगता है । इसकी पहचान अनिवार्य है ।

संस्थागत धर्म

धर्म का आध्यात्मिक रूप आधुनिक युग में बदला है । आज धार्मिक मूल्यों का विघटन होने लगा है । धार्मिक नेता धन और प्रतिष्ठा के पीछे भाग रहे हैं । धर्म के नाम पर राजनीतिक अभिलाषाएँ पूरा करने की साज़िशें चल रही हैं । मानव अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए सही धर्म को भूलकर विकृत 'धर्म' के चंगुल में फँसने लगा है । इसप्रकार के विकृत धर्म संगठित होकर सत्ता हासिल कर रहे हैं ।

संस्थागत धर्म के बारे में भीष्म साहनी का मत भी ध्यान देने योग्य है । उनके अनुसार "जहाँ विधिनिषेध, धर्माचार, कर्मकांड, विधवत्, पूजा अराधना, जातिगत संगठन नियमावलियाँ, प्रचार प्रसार आदि जहाँ धार्मिक, संस्था के सरोकार और भूमिका उत्तरोत्तर लौकिक होने लगते हैं, धर्माचरण, व्रत-उपवास आदि का रूप ले लेता है और धार्मिक संस्था में संगठन के जातिगत हितों पर अधिक बल दिया जाने लगता है, संस्थागत धर्म अपनी ही मूल स्थापनाओं से धीरे-धीरे दूर जाने लगता है, अपनी ही मान्यताओं से उसका संबन्ध विच्छेद होने लगता है, और वक्त रहते, न रहते वह सत्ता की राजनीति से जुड़ने लगता है।"[1] संस्थागत धर्म से उपजे बाह्य प्रतीकों (जैसे मन्दिर, मस्जिद, गिरिजा घर आदि) का महत्व मानव मन के विकास को सीमित करता है । सामान्यतः ये बाह्य प्रतीक समाज में विभाजन और

1. भीष्म साहनी - आज की अतीत, पृ. 291

सांप्रदायिकता के साधन बन जाते हैं । पर एकत्व के चिंतन में बाधक बनने लगते हैं । क्योंकि इन प्रतीकों के साथ राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वार्थ जुड़ जाते हैं । मानव के समस्त अंधविश्वास इन विकृत धार्मिक रूपों से जुड़े हुए हैं ।

धर्म का काम इन्सान को इन्सान से जोड़ना है। मुहब्बत की जगह एक-दूसरे से नफरत करना न सिखाए, अंधविश्वास को बढ़ावा देकर लोगों के दिमाग को न कुंद करे उससे यही अपेक्षा है । लेकिन आज हालत बदल गई है । आज मनुष्य जितना धार्मिक होंगे दूसरे धर्मों से उतनी ही घृणा करेंगे। यही हमारी धार्मिकता का परिचय है । युवा वर्ग में संगठित धर्म के संस्थाबद्ध रूपों के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है । इन सारी प्रक्रियाओं में धर्म, अध्यात्म और नैतिकता का कोई जगह नहीं है । 'धर्म और जाति कोढ़ की तरह है और यदि आज के सन्दर्भ में देखा जाए तो भारत की सबसे बड़ी समस्या है सत्ता के लिए धर्म का दुरुपयोग।"[1] आज धर्म सिर्फ राजनीति में चलनेवाला सत्ता संघर्ष का वाचक है । सारे संगठित धर्म एक-दूसरे की होड़ में कट्टर और हिंसक बनते ही जाएँगे ।

"धर्म जब व्यक्तिगत दायरे में रहता है, वह आध्यात्मिक होता है । लेकिन जैसे ही वह किसी समूह की पहचान या प्रवृत्ति बनता है, वह सांप्रदायिक हो उठता है । समूह में आते ही वह संस्थान का रूप लेने लगता

1. राही माज़ूम रज़ा - लगता है बैकार हो गये हम (भुमिका में)

है । संस्थान बनते ही उसे सत्ता की ज़रूरत पैदा हो जाती है।"[1] धर्म के द्वारा सत्ता हासिल करना धार्मिक नेताओं का लक्ष्य है । "वास्तव में धर्म मानवता के विशुद्ध प्रचारक हैं । उनसे बढ़कर दूसरा कोई भी मानव का मित्र नहीं हो सकता है, परंतु अत्यंत खेद की बात है कि, मानव-मानव के बीच घृणा फैलाने में आधुनिक काल में वे संलग्न पाये जाते हैं । धर्म ढकोसला हो गया है, जिससे दृष्टि को विस्तार मिलना चाहिए, उससे दृष्टि संकीर्ण होकर रह गई है । वे अंधविश्वास को पुख्ता करने में लगे हुए है । कर्मकाण्ड फिर पनपने में आ रहा है । धार्मिक नेता धर्मरूढ़ तो है ही, अब उनमें क्या शौक दर्शाया है, राजनीति में दखल देने का-क्या शंकराचार्य हो या मुसलमानों के धर्मगुरु दोनों की इच्छा है कि वे राजनीति में प्रवेश करें।"[2] इसप्रकार सत्ता के आधार की प्रक्रिया में कट्टरता और आक्रामकता का रास्ता धर्म चुनता है । इस होड़ में अपनी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयास भी करता है। इस सिलसिले में धर्म अपनी मूल आत्मा को खोकर एक बिलकुल विपरीत रूपाकार में पुनरवतारित होता है । अर्थात् जब धर्म सत्ता के रूप में काम करने लगता है, तब सांप्रदायिक बनता है । इस प्रक्रिया में वह दूसरे धर्मों के साथ प्रतियोगिता करता है, अपने को मज़बूत बनाने के लिए कट्टर कानून बनाता है, और दूसरे से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए आक्रामक रुख अपनाता है । ये सारी बातें सामाजिक विकास में बाधक बनने लगती हैं ।

---

1. शंभूगुप्त - हंस - मई 2004, पृ. 24
2. राजेन्द्र मोहन भटनागर - दंगे क्यों, पृ. 82

वास्तव में पूँजीवादी बाज़ार और उसकी संस्कृति ने धर्म के परंपरागत रूपों को किनारे कर दिया है । धर्म को नए माहौल के अनुकूल परिवर्तित कर दिया है । धर्म को अनुकूलित करके उसे भी अपनी मंडी का हिस्सा बना दिया है । इससे धर्म पूँजीवादी सभ्यता का उपकरण भी बन गया है । उसने धर्म को वस्तु में बदल दिया है और वह सबसे अधिक बिकनेवाली चीज़ बन गया है । धर्म समाज की संगठन शक्ति भी बनने लगा है ।

धर्म के नए उभार में सच्चे भक्त की कोई जगह नहीं । जितना बड़ा तिलक है, उतनी ही बड़ी धर्म की दूकान भी होगी । पूँजीवाद ने धर्म के सार का हरण करके उसे दूकान में बदल दिया है । पुराने धर्म और उसकी अवधारणा से यह धर्म और अवधारणा भिन्न है और इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि आज धर्म का उभार या बढ़ाव नहीं है जितना कि एक नये प्रकार के धर्म का प्रसार नज़र आता है । सभी धर्मों का अपदस्थ करता हुआ यह एक नया धर्म पनप रहा है जिसे नई व्याख्या की अपेक्षा है ।

संक्षेप में कह सकते है कि आज धर्म का उदात्त रूप नष्ट हो गया है । हर धर्मावलंबी संगठित होकर अपना शक्ति प्रदर्शन कर अपनी वोट बैंक बढ़ाते हैं । इसप्रकार धर्म केवल शक्ति प्रदर्शन का साधन बन गया है । मनुष्य की स्वार्थपरता तथा तंग दृष्टि धर्म को, धार्मिकता को संकीर्ण बना देती है। तब धर्म अपनी बुनियादी संवेदनाओं दया, करुणा, परदुख, कातरता, आत्मीयता, इत्यादी - से पृथक होता है । धर्माचार धर्म का स्थान ग्रहण करते

हैं । ऐसे धर्म को राजनीति अपनाती है । इससे सांप्रदायिकता जन्म लेती है।

सांप्रदायिकता की व्याख्या

आज दुनिया की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक है धर्म का राजनीतीकरण अर्थात सांप्रदायिकता। सांप्रदायिकता, मानव समाज और देश के विकास केलिए खतरनाक चीज़ है । इसलिए मानव मन से उपजे इस विष बीज को जड़ से उखाड़ने की आवश्यकता है । सांप्रदायिकता पर अनेक मत प्रचलित है । 'संप्रदाय' का अर्थ एक मत या वाद होता है । सांप्रदायिक शब्द के साथ एक अप्रिय अर्थ-जुड़ा हुआ है । उस अर्थ में धर्म सांप्रदायिक तब बनता है जब वह सत्ता के रूप में काम करने लगता है । एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों पर जब अपना मत लागू करने और अपने धर्म को सर्वोच्च समझने लगता है तब धार्मिक असहिष्णुता का जन्म होने लगता है । सांप्रदायिकता का यही दूषित रूप आज पूरी दुनिया में फैल चुका है । एक धर्म या सांप्रदायवाले दूसरे धर्म या संप्रदायवाले से न केवल निंदा करते हैं बल्कि अपने उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए दूसरे के विरुद्ध दलबंदी भी करते हैं । मस्तराम कपूर के अनुसार "एक ओर धर्म अपने को मज़बूत बनाने के लिए कठोर कायदे कानून बनाता है, दूसरी ओर अन्य धर्मों के मुकाबले अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए वह आक्रामक रुख अपनाता है । दूसरे शब्दों में जब उसमें कट्टरता और आक्रामकता की प्रवृत्तियाँ पैदा होती है तो धर्म अपना सौम्य रूप खो देता है और सामाजिक विकास में

बाधक बनने लगता है।"[1]

धर्म का अर्थ सांप्रदायिकता नहीं है । धर्म और सांप्रदायिकता में अंतर स्पष्ट है । हबीब तनवीर के मत में "सांप्रदायिकता का संबन्ध क्या धर्म से है ? नहीं है । संस्कृति का, धर्म मजहब से बहुत गहरा ताल्लुक है । लेकिन सांप्रदायिकता का न कल्चर से ताल्लुक है, न धर्म से । ये बात आप और हम अच्छी तरह जानते हैं कि ये कोई और चीज़ है, इस चिड़िया का कुछ और ही नाम है । इसके पोलिटिकल काँम्प्लीकेशन है, ये पैदा की गई है, पहले नहीं थीं। अंग्रेज़ों ने इसे पाला पोसा बढ़ाया पनपाया।"[2] धर्म एक विश्वास प्रणाली है और लोग अपने व्यक्तिगत विश्वासों के अंग के रूप में उसका पालन करते हैं । इसलिए धार्मिक होना कोई खतरनाक बात नहीं। लेकिन मनुष्य की स्वार्थ -मोह, सत्तालोलुपता और नकारात्मक दृष्टि धर्म या धार्मिकता को संकीर्ण बना देती है । तब धर्म अपनी बुनियादी संवेदनाओं - मानवीयता, दया करुणा, आत्मीयता आदि से अलग हो जाते हैं । ऐसे धर्मों को राजनीति अपनाती है । इससे सांप्रदायिकता जन्म लेती है । धर्म के विपरीत संप्रदायवाद धर्म के मुखौटे पर आधारित सामाजिक और राजनीतिक पहचान की विचारधारा का नाम है । अभयकुमार दुबे के शब्दों में "सांप्रदायिकता का धर्म से केवल इतना ही ताल्लुक है कि वह धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक मकसद से दोहन करती है, एक धर्म के अनुयायियों की गोलबंदी

1. राजकिशोर - अयोध्या और उससे आगे - पृ. 104
2. हबीब तनवीर - नुक्कड जनम संवाद - जुलाई दिसंबर 2001, पृ. 110

के लिए वह दूसरे किसी धर्म के प्रति घृणा का प्रचार करती है, और इस तरह धर्म के नाम पर कुछ लोग 'अपने' और कुछ लोग 'पराये' घोषित कर दिये जाते हैं । यही 'अन्यीकरण' या 'अदरिंग' की वह प्रक्रिया है, जो यूरोप में कभी फासीवादियों ने यहूदियों के खिलाफ चलायी थी, और जो आम तौर पर कालों के खिलाफ गोरों के बीच नस्लवादियों द्वारा चलायी जाती रहती है । दक्षिण एशिया के आधुनिक राजनीति के गर्भ से निकलनेवाली यह एक अवांछनीय परिघटना है, जो उदारतावादी राजनीति और सेकुलर राष्ट्र के सिद्धान्त के खिलाफ सक्रिय रहती है ।"[1]

धर्म और राजनीति के गठबंधन से सांप्रदायिकता जन्म लेती है । आचार्य नरेन्द्र देव के शब्दों में - "धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु है । वह राष्ट्र के कार्य में बाधक क्यों हो?.... किंतु वास्तविकता यह है कि धर्म को लोग राजनीति के लिए उपयोग करते हैं और जनता की सांप्रदायिक बुद्धि होने के कारण जनता इन लोगों के हाथ में खेलती है ।"[2]

इसप्रकार धर्म में जब सत्तामोह का जन्म होता है तब वह सांप्रदायिकता बन जाता है । वैभव सिंह धार्मिक संगठन और राजनीति के गठबंधन के बारे में यों कहते हैं - "सांप्रदायिकता एक खतरनाक राजनीतिक विचारधारा तो है ही, साथ ही यह परपीड़ा में आनन्द उठाने की आदिम मनोवृत्ति का भी

---

1. अभयकुमार दुबे - बीच बहस में सेकुलरवाद - पृ. 484
2. आचार्य नरेन्द्र देव - साहित्य शिक्षा और संस्कृति, पृ. 56

हिस्सा है । इसी वजह से सांप्रदायिकता के उभार के समय हमें संकट में फंसे इंसान, जो दूसरे धर्म मज़हब का है, से हमदर्दी कम होती है बल्कि एक दुष्टतापूर्ण रोमांच हासिल होता है । इसमें समाज के लुंपेन क्लास और भद्र वर्ग में एक अद्‌भुत एकता स्थापित हो जाती है।"[1] धार्मिक संगठन राजनीति करेंगे तो सांप्रदायिकता होगी और समाज के काम में परेशानी होगी "सांप्रदायिकता एक धार्मिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि धार्मिक संकीर्णता के आधार पर एक राजनीतिक प्रक्रिया है । राजनीति में ऐसा एक निहित स्वार्थ उभर रहा है और इसकी कोशिश करता है कि समाज में रूढ़िवाद और धार्मिक संकीर्णता बढ़े। जब राजनीति में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आन्दोलन (उदारवादी या क्रांतिकारी आन्दोलन) नहीं रह जाते हैं, तब सांप्रदायिकता के आधार पर चलनेवाली राजनीति ही मुख्य राजनीतिक धारा रह जाती है ।"[2] वस्तुतः सांप्रदायिकता व्यक्ति के नैतिक मूल्यों में अवमूल्यन तथा अमानवीकरण को उद्‌घाटित करती है । सत्ता के स्वार्थ ने व्यक्ति को इस स्थिति तक पहुँचा दिया है जहाँ व्यक्ति का जीवन और मृत्यु का कोई महत्व नहीं है । सांप्रदायिकता का हर खेल अमानुषिकता को सुदृढ़ करता है ।

साँप्रदायिक भावना बढ़ाने में पण्डितों मुल्लाओं और पादरियों का हिस्सा कम नहीं है । साँप्रदायिक शक्तियाँ बहुत होशियारी से अपना खेल खेलती हैं । वे अपने समुदाय में यह भ्रम, पैदा करती है कि वे ही उसका

1. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया, पृ. 208
2. वही - पृ. 208

अकेला शुभ चिंतक है । "सांप्रदायिकता मूलतः सत्ता का संघर्ष है और इसकी रणनीति समाज में मौजूद धार्मिक समूहों को केन्द्र में रखकर बनायी जाती है, इसलिए सांप्रदायिक दिमाग किसी सच्चे बहस में पड़ता ही नहीं, वह सिर्फ अपने और पराये का भेद पहचानते हैं।"[1]

कवयित्री कात्यायनी धर्म और सांप्रदायिकता के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए कहती है कि "यह (सांप्रदायिकता) पूँजीवादी समाज में धर्म की राजनीति है । लेकिन सांप्रदायिकता का विरोध करते हुए धर्म दर्शन के विरुद्ध भी वैचारिक संघर्ष करना होगा, क्योंकि जनता में गहरी जड़ें जमाए धार्मिक रूढियाँ धार्मिक कट्टरपंथियों को मदद पहुँचाती हैं और जनता के धार्मिक रूढिबद्ध संस्कारों को उकसाने और मज़बूत बनाने का काम करते हुए धार्मिक कट्टरपंथी अपना उल्लू सीधा करने का काम करते हैं । सांप्रदायिकता के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष का परिप्रेक्ष्य सापेक्षतः अल्पकालिक होता है, जबकि धर्म के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष एक दीर्घकालिक संघर्ष है जो सर्वहारा आन्दोलन के प्रारंभिक दौर से लेकर समाजवादी संक्रमण की लंबी अवधि-तक लगातार जारी रहता है ।"[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म का गलत इस्तेमाल सांप्रदायिकता है । दूसरे शब्दों में, जब धर्म में राजनीति और राजनीति में धर्म घुस चुका होता है तब सांप्रदायिकता जन्म लेती है । सांप्रदायिकता आम तौर पर

---

1. राजकिशोर - एक अहिन्दू का घोषणापत्र - पृ. 43-44
2. कात्यायनी - धर्म मार्क्सवाद और भारतीय वामपंथ - समयांतर, पृ. 44

इतिहास की गलत समझ और अबोधता की ज़मीन पर ही अपना काम करती है । अतः उसके खिलाफ का संघर्ष एक व्यापक सांस्कृतिक अभियान माँगता है । इस अभियान को लगातार जारी रखना भी चाहिए ।

सांप्रदायिक फासीवाद

सांप्रदायिक फासीवाद को महज बीसवीं सदी की ईजाद या मुसोलिनी और हिट्लर जैसे चन्द पागल इनसानों का चरमपन्थी जुनून नहीं समझा जा सकता । फासीवाद एक संश्लिष्ट सामाजिक प्रक्रिया है जिसका बाज़ार और अर्थनीति से गहरा तालमेल है । इसके विस्तार के लिए व्यापक न सही, लेकिन एक सतही सीमा तक जन-समर्थन की भी ज़रूरत पड़ती है ।

वैश्वीकरण के नाम पर फिलहाल इस दुनिया में जो हो रहा है, उसे एक हद तक प्रादेशिक खेमाबन्दी या 'ग्लोबल कार्टेनाइज़ेशन कहना अधिक उपयुक्त होगा । वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप बहुभाषी बहुप्रादेशिक एवं बहुराष्ट्रीय परिवेशों में काम करनेवाले लोग सवाल करने लगे हैं कि इस सारी गहमागहमी में आखिर उनकी जडें कहाँ हैं । पर्लिट्ज़ का मानना है कि ये सारे सवाल आगे चलकर जातीय धार्मिक एवं सांप्रदायिक भावनाओं में बदल सकते हैं और कुछ हद तक बदल भी रहे हैं । हम स्वयं अपनी बदहवास जीवन पद्धतियों के कारण रूढ़िगत जीवन मूल्यों की ओर लौट रहे हैं और इन परिस्थितियों में फासीवाद के लिए जन आधार बनाना अपेक्षाकृत

1. जितेन्द्र भाटिया - वैश्वीकरण के तकाज़े और फासीवाद - आलोचना (2000) पृ. 65

आसान होता जा रहा है । हमारे अपने उत्तर-पूर्वी प्रान्तों में कलकत्ता से जानेवाले मारवाड़ी एवं अन्य जाति के उद्योगपतियों द्वारा आर्थिक स्तर पर एकाधिकार के परिणाम स्वरूप ही यहाँ विदेशियों वाले मसले ने इतना उग्र रूप ले लिया। सातवें दशक के मुंबई में राजनीतिक पार्टी शिवसेना ने अपना प्रारंभिक जनाधार ही बाहर से आनेवाले दक्षिण भारतीयों के विरोध के माध्यम से अर्जित किया था और यूरोप में ईसाइयों और यहूदियों के बीच की भरपूर लाभ उठाने के बाद ही हिटलर की नाज़ी पार्टी को अपने क्रूर सिद्धान्तों के पक्ष में अच्छा खासा जनमत मिलना शुरु हुआ था ।

फासीवाद शब्द हालाँकि मुसोलिनी की इटैलियन पार्टी के नाम से जुड़ा हुआ है, फिर भी हिटलर युग के नाज़ीवाद को पूरी दुनिया की फासीवादी शक्तियों के लिए सबसे बड़ा प्रेरणाश्रोत समझा जाता रहा है । दरअसल नाज़ीवाद की स्थापना से पहले के यूरोप में यहूदी एवं सामी जातियों के प्रति विद्वेष के भाव एवं दूसरे विश्वयुद्ध में हिटलर की हार के बाद लगभग बीस वर्षों तक नाज़ी अपराधों पर पर्दा डालने की विधिवत् कोशिशें के पीछे काम कर रही मानसिकता के विश्लेषण से ही हम फासीवादी प्रवृत्तियों की अन्दरूनी तहों तक पहुँच सकते हैं । हमारे देश में लगभग यही स्थिति महात्मा गाँधी की हत्या के बाद रही, जब आर.एस.एस एवं हिन्दू महासभा जैसी संस्थाएं न सिर्फ लगभग भूमिगत हो गई बल्कि गाँधी

के विरोध सहित स्वतंत्रता पूर्व के अपने समूचे फासीवादी इतिहास को भी उन्होंने राष्ट्रवाद का जामा पहनाकर पेश करने की भरसक कोशिश की ।

इस्राइल के सर्वाधिक लोकप्रिय प्रगतिशील लेखक ऐमोस ओज कहते हैं- "हर देश और काल में तानाशाही, दमन, नैतिक पतन, अत्याचार और नरसंहार का प्रारंभ हमेशा भाषा के प्रदूषण और विकृत क्रूर सत्यों को शराफत और सादगी भरे विश्लेषण दिए जाने से होता है । (जैसे नया विधान, 'अन्तिम समाधान', 'अल्पकालीन कदम' 'सीमित प्रतिबद्ध' आदि) या फिर जहाँ संवेदनशील और नाजुक शब्दावली की ज़रूरत होती है, वहाँ 'परजीवी','समाज के कीडे या 'राजनीतिक कोढ़' जैसे उथले और अमानवीय शब्द, इस्तेमाल में लाए जाते है ।"[1] लेखक को यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ भी इनसानों को परजीवी या कीड़ा कहकर बुलाया जाता है और नरसंहार को मुक्ति की संज्ञा दी जाती है तो भाषा के इस दूषण के साथ-साथ जीवन एवं मानवता के अपवित्रीकरण की तैयारी भी अनिवार्यतः शुरू हो जाती है ।"[2]

जर्मनी में 1933 में अडॉल्फ हिटलर के 'चांसलर ऑफ जर्मनी' बनने के बाद यही हुआ । नागरिकों के संवैधानिक अधिकार रद्द कर दिए गए, घरों में जाकर तलाशी लेना और जायदाद को जब्त करना जायज़ हो गया और सभी अवांछित तत्वों को यातना शिविरों में ठूँस दिया गया ।

---

1. जितेन्द्र भाटिया - वैश्वीकरण के तकाज़े और फासीवाद - आलोचना 2000, पृ. 67
2. वही, पृ. 67

नाज़ीवाद और फासीवाद के प्रचार-प्रसार की कार्यप्रणाली शुरु से ही यह रही है कि यदि एक झूठ को एक हज़ार या एक लाख बार बिना विचलित हुए दोहराया जाए तो वह झूठ झूठ नहीं रहता सच हो जाता है । हिटलर के दौर में विशेष रूप से बनाए गए गैस चेम्बरों में लगभग साठ लाख यहूदियों को गैस सूँघाकर मौत के घाट उतार दिया गया था । पोलौंड के आउसविद्ज और जर्मनी के डाचाऊ गैस चेम्बर अब राष्ट्रीय स्मारकों में बदल दिए गए हैं और बताया जाता है कि हिटलर की हार के बाद जब अमरीकी फौजें वहाँ पहुँची तो उन्हें हज़ारों की संख्या में शव मिलें । लेकिन इन सारे तथ्यों के बावजूद, आज भी यूरोप, अमेरिका और दूसरे प्रदेशों में ऐसे पैरवीकार है जो सिद्ध करने पर उतारू है कि ये चेम्बर वास्तव में कैदियों की जुएँ मारने के लिए बनाए गए थे और किसी भी चेम्बर में एक भी यहूदी को नहीं मारा गया । फासीवाद के समर्थन की यही अनुगूंज हमें 14 अक्तूबर 1938 को सावरकर द्वारा दिए गए अभिभाषण में मिलती है जिसमें उन्होंने देश की 'मुस्लिम समस्या' का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'कोई भी देश वहाँ रहनेवाले बहुसंख्यक समुदाय से बनता है । जर्मनी में रहनेवाले यहूदियों को चूँकि वे अल्पसंख्यक थे, उन्हें खदेड़कर बाहर निकाल दिया गया ।"[1]

इतिहास गवाह है कि सोशल डेमोक्रैटों के विरोध के बावजूद हिटलर की नाज़ी पार्टी को अपने समय में अगर इतना व्यापक जन समर्थन

1. जितेन्द्र भाटिया - वैश्वीकरण के तकाज़े और फासीवाद - आलोचना (2000) पृ. 68

प्राप्त न होता तो मानव-जाति पर इतनी यातनाएँ दागने का दुस्साहस यह पार्टी कभी न कर पाती । हर देश और काल में सतही प्रोपगैंडा के इस्तेमाल और एमोज़ ओज के कथानुसार भाषाई 'प्रदूषण' के ज़रिए फासीवाद अपनी जड़ें फैलाता रहा है । हमारे देश में लगभग सभी धर्मपन्थी संगठन, ज़रूरत पड़ने पर फासीवादी हथियारों का इस्तेमाल कर रहे हैं और कांग्रेस जैसी पार्टी में भी इन्दिरा गाँधी का एमरजैसी का दौर इससे दूर नहीं था।

पिछले कुछ वर्षों में छद्म राष्ट्रवादिता और धर्म की राजनीति के चलते फासीवादी ताकतों के अमूर्त चेहरे जनता के बीच अपनी एक सम्मानजनक छवि बनाने में भी सफल हुए है और इसी के समानान्तर वामपंथी जन आंदोलनों की शक्ति का ह्रास भी हुआ है । उदारीकरण के नए समर्थक अब नाज़ीवाद, फासीवाद एवं वामपंथ का ज़िक्र भी एक ही साँस में करने लगे हैं या फासीवाद की सुलभ लाठी से अब एकाधिक दुश्मनों को हाँकना संभव हो पा रहा है ।

टेलिविज़न और आई. टी के इस युग में राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक फासीवाद का जो खतरनाक स्वरूप सामने आ रहा है, उसमें नाज़ीवाद या फासीवाद के क्लासिकल एवं न्यायपरक मुखौटे हैं । अपने ही प्रदेश को लें तो सारी आवाज़ें यह कहती मिल जाएँगी कि इस देश की भ्रष्ट सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए एक जबर्दस्त तानाशाह की ज़रूरत है।

---

1. जितेन्द्र भाटिया - वैश्वीकरण के तकाज़े और फासीवाद - आलोचना (2000) पृ. 69

फासीवाद इन भोली अवधारणाओं का सूत्रपात करता है और आगे चलकर इनका भरपूर फायदा भी उठाता है ।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

आज सांप्रदायिकता सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नया नाम लेकर उपस्थित हुआ है । यह संप्रदाय या धर्म के खाने में संस्कृति की व्यापकता को समेटने की सुनियोजित कोशिश है । 'संस्कृति' को भी धर्म और राजनीति की घटिया चाल से घसीटा जा रहा है । यों सांप्रदायिक राष्ट्रवाद का नया रूप सांस्कृतिक राष्ट्रवाद सामने आता है ।

पिछले कुछ सालों से संघपरिवारवाले भारत एवं भारतीयता को हिन्दुत्व के तहत व्याख्यायित करते आ रहे हैं । हिन्दुत्व और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का बीज पहले सावरकर ने बोया था । गोलवलकर और हेडगेवार ने उसे पोषित किया । डॉ. के.एन. पणिकर के अनुसार संघपरिवार ने भारत के क्रियात्मक राष्ट्रीयता के रूप में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवादी' विचारधारा की शुरुआत की । 'हिन्दू और हिन्दुत्व के संबन्ध में सावरकर की परिभाषा ने इस सांस्कृतिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को ऊर्जा प्रदान किया । सावरकर के अनुसार मुसलमान और ईसाइयों की नस में हिन्दू खुन सामान्यतः कम है । उसे हम हिन्दू नाम से न पुकार सकते न केवल हिन्दू खून बहाने से ही हम हिन्दू हैं, बल्कि इससे परे हमारी महान संस्कृति से हमारा सम्मान-हमारी हिन्दू संस्कृति-इसकेलिए 'संस्कृति' से अधिक अच्छा शब्द नहीं है, क्योंकि यह

हमारे वंश के इतिहास में सबसे अधिक उत्कृष्ट और संरक्षण करने योग्य अंश का सूचक है । हम एक है, क्योंकि हम एक राष्ट्र है, एक वंश है, हमारे लिए एक समान संस्कृति है ।"[1]

गोलवलकर के अनुसार धर्म और संस्कृति एक है । इस मत से उनका लक्ष्य यह था कि धर्म संस्कृति और राजनीति के बीच एक अटूट संबन्ध स्थापित करना है । उनके अनुसार हिन्दुओं की भूमि हिन्दुस्तान में अभी तक रहने या आगे रहने योग्य एक मात्र राष्ट्र है 'हिन्दू राष्ट्र।' सही राष्ट्रीय आन्दोलन वह है - "जिनका लक्ष्य हिन्दुओं को जागृत करना, पुनः जीवित करना या पुनःसृजन करना है । गोलवलकर के अनुसार राष्ट्रीयता का अर्थ न केवल नवजागरण नहीं, बल्कि गैर हिन्दुओं को हिन्दुओं के अधीन बनाना या उसे बाहर फेंकने से भी है।"[2] इसप्रकार 'हिन्दू राष्ट्र' की परिकल्पना की नींव डालने में गोलवलकर और सावरकर की गहरी अहमियत है ।

आज संघपरिवार वाले पुरानी राष्ट्रीय संस्कृति को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में बदलकर संस्कृति का बुरी तरह इस्तेमाल कर रहे हैं । वे अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों के लिए संस्कृति को हथियार बना रहे हैं । हिन्दुत्व के नाम पर वोट बैंक बनाना और तद्वारा राष्ट्र की सत्ता हासिल करना उनका लक्ष्य है । इस हिन्दुत्व के पीछे आध्यात्मिक पिपासा

1. K.N. Pranickar before the night falls, p. 38
2. Do - p. 39

कम और लौकिक पिपासा एवं सत्ता मोह प्रबल है । सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उद्देश्य एवं लक्ष्य के बारे में किशन पटनायक स्पष्ट लिखते हैं - "जो लोग हिन्दू एकता का नारा दे रहे हैं, वे सामाजिक एकता नहीं चाहते हैं । सिर्फ राजनीतिक संगठन चाहते हैं । एक राजनीतिक लक्ष्य के रूप में हिन्दू एकता एक भ्रामक और विध्वंसक नारा है । यह भारतीय राष्ट्र और हिन्दू समाज को विभाजित करनेवाला है । शूद्र समूह के लिए यह एक निरर्थक नारा है । यह एक ब्राह्मण बनिया नारा है । भारत अव्यक्त रूप में एक हिन्दू राष्ट्र है । लेकिन जो इसको व्यक्त करना चाहेगा, वह इसको तोड़ेगा । वह राष्ट्र तोड़क होने के साथ-साथ हिन्दू तोड़क भी होगा।"[1]

हिन्दुत्व के नारे लगानेवाले चाहते हैं कि भारत एक मज़बूत हिन्दू केन्द्रीकृत राष्ट्र बने । इसके लिए एक केन्द्रीय सांस्कृतिक पहचान बनानी है और बहुलता को अनुशासित करना अनिवार्य है, जो नामुमकिन लगता है । इस भ्रामक कार्य के विरुद्ध राही माज़ूम रज़ा ने अपना मत प्रकट करते हुए शिवसेना के दिशाहीन एवं दृष्टिहीन लोगों से यों कहा था - "तुमसे भारतीय संस्कृति तो क्या, गाली बकना भी नहीं आता । ऐसे लोगों से उन्होंने कहा था कि 'आप लोग धर्म की धूल भरी गहरे रंगोंवाली ऐनक उतारकर धूप का असली रंग देखने को तैयार नहीं हो । भूल जाइए कि हिन्दुस्तान सिर्फ आप जैसे हिन्दुओं का ही है, हिन्दुस्तान मेरा भी है और वह किसी तरह भी कम

---

1. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया - पृ. 199

मेरा नहीं है ।"[1] इतिहास लेखन एवं इतिहास की पुनःर्चना भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक सीढ़ी है । वे लोग अपने ढंग से इतिहास की व्याख्या करके सबको गुमराह कर रहे हैं । ऐतिहासिक तथ्यों को अपने इच्छानुसार इस्तेमाल करके साधारण भोले-भाले बच्चों के मन में धर्मांधता का विष फूँक देते हैं। इसके लिए वे पहले इतिहास को भारतीय संस्कृति के साथ जोड़ देते है और भारतीयता को सांप्रदायिकता के साथ । "विदेशियों के आक्रमण के बाद राष्ट्र को नष्ट हो गए सत्ता और शान को वापस लाना हिन्दू सांप्रदायिकों का लक्ष्य है । इसकेलिए उसने इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या दी - प्राचीन भारतीय इतिहास और राष्ट्रीयता को वह अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ और 'हिन्दुत्व' माना है । हिन्दुओं को इसप्रकार स्वयं इतिहास के साथ जोड़कर अपनी खो गयी राष्ट्रीयता के बारे में भावुक बनाकर, उसके नाश के ज़िम्मेदार के खिलाफ विद्रोह करने की उत्तेजना प्रदान करते हैं । इसप्रकार एक 'आदर्श' और एक शत्रु को भी बनाते है ।"[2]

मंदिर-मस्ज़िद विवाद भी इतिहास के गलत इस्तेमाल का परिणाम है । बाबरी-मस्जिद ध्वंस के बाद 'राम' के मिथ को एक नई व्याख्या मिली है । इसे राजनीतिज्ञों ने एक हथियार बना दिया है और अपने इच्छानुसार व्याख्याएँ दे रहे हैं 'राम' अब 'हिन्दू राम' में परिणत हो गया है । "बाबर द्वारा मन्दिर तोड़ने का कोई तथ्य इतिहास में नहीं है,बल्कि उल्टी बात है ।

1. कुँवरपालसिंह - माध्यम - अक्तूबर - दिसंबर 2005, पृ. 49
2. K.N. Pranickar before the night falls, p. 89

बाबर ने अपने वसीयतनामों में अपने पुत्र को हिदायत दी थी कि तुमको हिन्दुस्तान का राजा बनना होगा तो गोमांस खाना छोड़ दो, मंदिरों को भी मत तोड़ों।"[1] राजकिशोर ने इसी विषय के बारे में अपना मत प्रकट किया है - "हमें भूलना नहीं चाहिए कि सांप्रदायिकता आम तौर पर इतिहास की गलत समझ और कुशिक्षा की ज़मीन पर ही अपना काम करती है । अतः उसके खिलाफ संघर्ष एक व्यापक सांस्कृतिक अभियान मांगता है । यह अभियान लगातार जारी रहना चाहिए । संप्रदायवादी अपना काम गलत और झूठे प्रचार के ज़रिए करता है । उसकी सतत काट होनी चाहिए।"[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास के गलत इस्तेमाल के पीछे राजनीति प्रेरित स्वार्थों की पूर्ति एक उद्देश्य है, जिसकी पोल-खोलना आज की ज़रूरत भी है, इतिहासकार इसके प्रति सजग रहना आज की माँग है । रोमिला थापर के शब्दों में "जातीय मूल और पहचान के सिद्धान्तों का उपयोग बड़ी सावधानी से किया जाए, वरना उसके कारण ऐसे विस्फोट हो सकते हैं, जो एक पूरे समाज को तबाह कर दें । इन परिस्थितियों में इतिहास के नाम पर बृहत्तर समाज द्वारा एतिहासिक विचारों के गलत इस्तेमाल के तरीकों से इतिहासकार को सावधान रहना होगा ।"[3] सांप्रदायिक राष्ट्रवादियाँ इतिहास, शिक्षा, भाषा आदि सभी क्षेत्रों में सांप्रदायीकरण करने का प्रयास कर रहे हैं। जो देश की एकता के लिए खतरा है ।

1. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं हैं दुनिया - पृ. 212
2. राजकिशोर - एक अहिन्दू का घोषणापत्र, पृ. 200
3. सं. रोमिला थापर - इतिहास की पुर्नव्याख्या - पृ. 65

यों स्पष्ट है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद वस्तुतः सांप्रदायिक फासीवाद का ही भारतीय संस्करण है । जहाँ एक वर्ण अपने को सर्वोच्च ज्ञान का अधिष्ठता, समाज का दिशादाता, प्राचीन ऋषियों का वारिस, इत्यादि कहकर उस सामन्ती व्यवस्था को वापस लाना चाहता है जहाँ कुछ का काम सेवा करना है और कुछ का सेवा करवाना । इस गैरबराबरी को मोहक, गरिमामय और पौराणिक शब्दावली में जन-जन के मन में उतारना ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है । वह आत्ममहिमा और दूसरों के प्रति घृणा का दर्शन है । सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भविष्य की दृष्टि से समाज बदलने का विरोधी और यथास्थितिवाद का पुरोगामी दर्शन है । यह एक ऐसा धार्मिक समाज बनाना चाहता है जहाँ इस सिद्धान्त में विश्वास न करनेवाले अधर्मों या विधर्मी घोषित कर दिये जाते हैं ।

बेरोज़गारी, आर्थिक मन्दी और विचारहीनता फासीवाद के लिए सबसे उपजाऊ ज़मीन है, जहाँ ज़िन्दगी की मूलभूत समस्याओं से ध्यान हटाकर अतीत के प्रतीकों और धार्मिक अन्धविश्वासों का माहौल पैदा किया जाता है । अपने यहाँ इस समय एक से एक चमत्कारी बाबा, आचार्य, धर्म के नाम पर भाग्य बदलनेवाले पूजा-पाठों का भव्य और भयानक प्रदर्शन और सट्टेबाजी इन्हीं मूल समस्याओं से ध्यान हटाए जाने के पैंतरे हैं । सारे समाज में ऊपर से नीचे तक लूट खसोट और हिंसा का वातावरण है । हिंसा

1. राजेन्द्र यादव - वैचारिक शून्य में पनपता फासीवाद - आलोचना (2000) पृ. 72

आज का डोमिनेंट स्वर है जहाँ भौतिक या सांस्कृतिक रूप से उन सारी आवाज़ों, संस्थाओं और आन्दोलनों को समाप्त किया जा रहा है ।

भारत के परिप्रेक्ष्य में देखें तो सिर्फ एक बार भारतीय राष्ट्र के सामने 1962 में चीन से पराजित होने के बाद सारा भारत अपमानित महसूस कर रहा था । उसके बाद दुबारा ऐसी स्थिति नहीं आई । इसलिए इस घटना से भारत में राष्ट्रीय प्रेम की भावना का उदय तो हुआ पर उसने जर्मन राष्ट्रवाद की तरह फासीवाद की पृष्ठभूमि तैयार नहीं की । इतना ही नहीं बाद के दिनों में परमाणु बम को लेकर जिस तरह का शीतयुद्ध चला, इस प्रसंग में भारत और उसके पड़ोसियों के बीच कई बार ऐसी स्थिति बनी कि युद्ध अब होगा ही । दूसरी बात अगर हमारे पास परमाणु नहीं होता तो बम के अभाव में धीरे-धीरे राष्ट्र के कमज़ोर होने की तस्वीर बनाई जा सकती थी । इससे लोगों के अन्दर हीनता की भावना आती और इसी हीनता को राष्ट्रवाद के रूप में विकसित कर कुछ लोग अथवा पार्टियाँ धीरे-धीरे फासीवाद जैसी स्थिति बना देतीं । पर भारत में इस तरह के फासीवाद के विकास की संभावना भी नहीं है । इसके बावजूद कुछ लोग एक दूसरे प्रकार का डर पैदा कर रहे हैं । धर्म संस्कृति के नाम पर । वे जबर्दस्ती भारत को एक विशेष समुदाय का राष्ट्र बनाना चाहते हैं ।

जन्म के साथ प्रत्येक व्यक्ति की एक सामुदायिक पहचान होती है। इसी प्रकार व्यक्ति की दूसरी पहचान होती है कि वह किस धर्म का है । इसे

हम धार्मिक पहचान कह सकते हैं ।

इधर की राजनीतिक संगठनों ने इस धार्मिक पहचान' को आक्रामक बनाया है और व्यक्ति की मनोवृत्ति को इस तरह विकसित किया है कि वह अपनी 'धार्मिक पहचान' को ही मुख्य पहचान बना ले । यह एक खतरनाक स्थिति है । क्योंकि भारत एक बहु-जातीय समाज है । यहाँ अनेक इकाइयाँ हैं और इनकी संरचना अत्यंत संश्लिष्ट है । सभी लोगों की अपनी सामुदायिक पहचान है । यह बुरा नहीं है । परन्तु जब यह सामुदायिक पहचान किन्हीं कारणों से 'धार्मिक पहचान' में तब्दील हो जाता है तब इससे फासीवाद के उभार का खतरा बढ़ जाता है ।

किसी भी व्यक्ति की सामुदायिक पहचान' जन्मजात होती है, परन्तु धार्मिक पहचान बनाई जाती है । कई बार ऐसा राजनीतिक प्रयास के तहत किया जाता है जैसा कि कुछ हिन्दू और मुस्लिम संप्रदाय से जुड़ी पार्टीयाँ कर रही हैं । इस तरह की पार्टियों से 'फासीवाद' के उभार में मदद मिलती है । दंगा भी इन्हीं कारणों से होता है । कट्टर धार्मिक लोग इसे बढ़ाते हैं और विडंबना यह है कि एक धर्म का कोई व्यक्ति जब इस धार्मिक पहचान को स्वीकार नहीं करता है तो सांप्रदायिक लोग उसकी हत्या कर देते हैं अथवा उसे धर्म विरोधी करार कर समाज से बहिष्कृत कर देते हैं ।

---

1. हरबंस मुखिया - राष्ट्रवाद का विकृत रूप है फासीवाद -आलोचना (2000), पृ. 77

समाज तथा व्यक्ति जीवन में यथाक्रम राजनीति और धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है । राजनीति और धर्म का संबन्ध मनुष्य जीवन से है यह तो ठीक है । लेकिन इन दोनों का आपस में मिलना एवं मिलाना समाज एवं व्यक्ति जीवन के लिए श्रेयस्कर नहीं है । वर्तमान भारतीय जीवन संकट के मूल कारणों में एक इन दोनों का मिलन है । बहुलतावादी समाज एवं राष्ट्र में दोनों को अलग रखना अनिवार्य हो गया है । धर्म का राजनीतीकरण भौतिक एवं भावात्मक दोनों स्तर पर खतरा सिद्ध हो रहा है, इतिहास भी इसकी सबूत ही पेश करता है । धर्म, जब तक व्यक्ति में सीमित रहता है उसमें मानवीय पक्ष की प्रमुखता है । लेकिन धर्म व्यक्ति से बाहर समाज में उसकी प्रतिष्ठा की कोशिश करता है तब उसमें स्वार्थता का उदय होता है। धर्म की सामाजिक पहचान संस्था का रूप धारण करती है । संस्थागत धर्म सत्तामोही होता है । सत्ता को हडपने के लिए धर्म राजनीति का सहारा लेता है । उल्टे स्वार्थी राजनीतिज्ञ भी अपनी सत्ता को कायम रखने के लिए धर्म के साथ हाथ जोड़ते है । इसप्रकार सांप्रदायिकता को बनाए रखने में संस्थागत धर्म एवं स्वार्थी राजनीतिज्ञ हमेशा कोशिश करते रहते हैं । सांपदायिकता की समस्या लोकतंत्र के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ी है । निस्सन्देह यह देश और मानव के सही विकास के लिए खतरा है ।

❖ ❖ ❖

दूसरा अध्याय

भारत में सांप्रदायिकता की उपज एवं विकास

स्वतन्त्रतापूर्व भारत में सांप्रदायिकता

जटिल परिघटना होने की वजह से सांप्रदायिकता को सिर्फ समसामयिक, सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में नहीं समझा जा सकता है । इसकी एक एतिहासिक पृष्ठभूमि भी है । 'प्राचीन भारत के पाटलिपुत्र में ब्राह्मण एवं बौद्धों में टकराहट हुई थी । मध्यकाल में पश्चिमोत्तर से सत्ता आकांक्षियों का आक्रमण होने लगा तो हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच टकराहट की स्थिति पैदा हुई थी । कभी सोमनाथ की मूर्ति तोड़ डाली गई तो कभी मरुप्रदेश के राजाओं ने जनता को लामबंद करने के लिए हिन्दू मिथकों का सहारा लिया ।"[1] मतलब सांप्रदायिक शक्तियाँ अपनी हरकतों को वैधता प्राप्त करने के लिए उसकी जड़ें इतिहास में तलाशती है । मध्यकाल से बाबर ने राम जन्मभूमि में स्थित मंदिर को गिरा दिया था । सांप्रदायिक शक्तियाँ यह भी मानती हैं कि मुस्लिम शासन हिन्दुओं पर अत्याचार और अपमान का युग था । यह अभिमत भी प्रचलित है कि अधिकतर मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं के मन्दिर गिराए और उनपर मस्ज़िदें बनवाई । इसलिए जिन्होंने सुलतानों और मुगल शासकों के खिलाफ विद्रोह किया उन्हें वीर करार कर दिए और उनको राष्ट्रीय नायकों की ओहदा प्रदान किया गया । राणा सांगा, राणा प्रताप, शिवाजी को स्वतंत्रता सेनानी के रूप में प्रस्तुत किया गया । वे दरअसल अपनी राज-सत्ता के लिए नहीं लड़ रहे थे । उन्हें

1. (सं) जितेन्द्र श्रीवास्तव - राजीव कुमारः दहशत की ज़मीन पर सत्ता की फसल उम्मीद, पृ. 180

मुस्लिम शासन की गिरफ्त से बचानेवाले हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के लड़ाकों के रूप में प्रस्तुत किया गया ।"[1]

इस सरलीकृत दृष्टिकोण के अनुसार शासक धर्म के आधार पर बंट गए थे न कि अपने राजनीतिक मंतव्यों से । यह माना जाता है कि सभी मुस्लिम शासक स्वभाव से दुराचारी थे और उनके धर्म ने उन्हें कट्टर, उग्र और हिंसक बनाया था । यह भी माना जाता है कि भारतीय इतिहास में 'हिन्दू काल' स्वर्ण युग था और पतन मुसलमानों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद ही शुरू हुआ । दूसरी ओर मुस्लिम सांप्रदायिकतावादी यह मानते हैं मुस्लिम काल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग है, मुसलमानों के आने से पहले भारत अंधकार में डूब पडा था । भारतीय तो भद्दे और असभ्य थे । मुसलमानों ने उनको सुसभ्य और सुसंस्कृत बनाया । साँप्रदायिक दृष्टिकोण इतिहास को केवल तोड़ता-मरोड़ता नहीं बल्कि धार्मिक भावनाओं को भी बढ़ाता है । सांप्रदायिक राजनीतिज्ञ भी सांप्रदायिक आधार पर मतदाताओं को अपने पीछे एकत्रित करने के लिए इसे एक शक्तिशाली हथियार के तौर पर प्रयोग करते हैं ।

अंग्रेज़ों के शासन काल में यह सांप्रदायिक दृष्टि और गहरी हो गई। अंग्रेज़ों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी और हिन्दू

---

1. असगर अली इंजिनीयर, सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 9 (भूमिका से)

मुसलमानों में तनाव पैदा किया । भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़े थे । इसके नेतृत्व में सामंतों के साथ कुछ जन नेता भी थे । इससे भारतीय जनमानस में देश की एकता के विचार पनपने लगे । कुशल अंग्रेज़ी शासक जनता के रग-रग से वाकिफ थे । इसके साथ कतिपय मौकापरस्त भिन्न-भिन्न बहाने बनाकर सुनियोजित ढंग से जनता के बीच दरारें पैदा करने लगे थे । अंग्रेज़ों के प्रभाव में आकर मुस्लिम नेता मुसलमानों को कांग्रेस और हिन्दुओं से पृथक रहने का आह्वान करने लगे । 19 वीं शती के मुसलमानों की आधुनिक आवाज़ सर सैयद अहमद ने इसका विरोध यह कहकर किया कि लोकतंत्र भारत के अनुकूल नहीं है और यह दो प्रमुख संप्रदायों में आपसी प्रतिस्पर्धा को जन्म देगा । सर सैयद के विचार में हिन्दुओं के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने की अपेक्षा मुस्लिम-अंग्रेज़ी समझौता मुसलमानों के लिए अधिक लाभप्रद है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह विचार-परिवर्तन मुख्यतः मिस्टर वेक के कारण हुआ जो अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपेल थे । अलीगढ़ कॉलेज के एक और प्रिंसिपल आर्किबैल्ड ने मुसलमानों के लिए आरक्षण (अलग-चुनाव योजना) की मांग करने की सलाह दी । इस सिलसिले को जारी रखने में लार्ड कर्सन और लार्ड मिंटो की भी भूमिका रही है । लार्ड कर्सन ने प्रशासनिक सुविधा के नाम पर 1905 में बंगाल को दो भागों में

1. पी. रवी - विभाजन और भारतीय कहानियाँ, पृ. 12
2. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 10-11

बांट दिया । इससे मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला । लार्ड मिन्टो ने मुस्लिम लीग के आरक्षण की माँग को स्वीकार कर इसे और भी गहरा बना दिया ।

अंग्रेज़ों की अविराम प्रेरणा से मज़हबी मुसलमानों ने 'मुस्लिम लीग' की स्थापना की । 30 दिसंबर 1906 को ढाका में इसकी स्थापना हुई थी । अंग्रेज़ एक ओर मुस्लिम सांप्रदायिकता को और दूसरी ओर हिन्दू सांप्रदायिकता को बढ़ावा दे रहे थे । भारत में सांप्रदायिक राजनीति का पहला एवं असली प्रयोक्ता अंग्रेज़ थे । राम पुनियानी के मत में "सांप्रदायिक तनाव मध्ययुगीन काल में भी मिलते हैं पर सांप्रदायिक राजनीति का उदय उपनिवेशवाद के दौरान हुआ । औद्योगिक समाज की ओर संक्रमण के दौरान सामंती तत्वों की राजनीति से सांप्रदायिकता का उदय हुआ।"[1]

मुगल शासन के पतन काल में अंग्रेज़ों ने भारत में अपनी शक्ति को मज़बूत करने की कोशिश की । ईस्ट इण्डिया कंपनी भारत के राजनैतिक विषयों में हस्तक्षेप और घुसपैठ की कोशिश करती रही । भारत के आर्थिक आधारों को नष्ट करके और राजनैतिक संप्रभुता को समाप्त करके ईस्ट इण्डिया कंपनी ने ब्रिटिश साम्राज्य को शक्तिशाली आधार प्रदान किया । राजनैतिक, नागरिक और सामाजिक विषयों में उनकी नीति 'फूट डालो और

---

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ.12

शासन करो' के तत्वों पर आधारित थी । क्योंकि भारत में हिन्दू-मुस्लिम संबन्ध और सहिष्णुता पर अंग्रेज़ आशंकित थे । 1857 का आन्दोलन इस आशंका को सही साबित करनेवाला ही था । इसी के साथ अंग्रेज़ शासकों ने भारत के बहुलतावादी समाज को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने अपनी सभा बनाए रखने के लिए संप्रदाय को एक हथियार के रूप में पहली बार इस्तेमाल किया । इसके बारे में भीष्म साहनी का मत है - "स्वतंत्रता आन्दोलन जो यहाँ तक ज्वार की तरह उठ रहा था कि कांग्रेस नेताओं के काबू से बाहर होता जा रहा था, उसे तोड़ने का अंग्रेज़ों के पास यही एक हथियार रह गया था ।"[1]

अंग्रेज़ों की कुटिल नीति को सफलता के मार्ग पर अग्रसर करने में सैयद अहमद खाँ का महत्वपूर्ण योगदान रहा । उन्होंने अंग्रेज़ों के प्रोत्साहन से अलीगढ़ एंग्लों ओरियंटल कॉलेज की स्थापना की । 1885 में इंडियन नाशनल कॉग्रेज़ की स्थापना के बाद यह कॉग्रेस के विरुद्ध प्रयोग करने के मंच के रूप में परिवर्तित हो गया । सैयद अहमद खाँ थियोडर बैक के प्रभाव से एक कट्टर हिन्दू विरोधी योद्धा बन गये । उनका अभिमत था कि भारत में बहुमत के शासन का अर्थ होगा हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों के लिए दासता, शोषण और दमन । वे मुसलमानों का संबोधन करते हुए बताता थे कि - "तुम, धर्म, जाति और परंपरा में हिन्दुओं से भिन्न हो, तुम्हारी संस्कृति भिन्न

---

1. भीष्म साहनी - अपनी बात, पृ. 167

है । तुम्हें बहुमत के शासन के सिद्धान्त का विरोध करना चाहिए । वह शासन मुसलमानों को उत्पीड़ित करेगा।"[1] इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक तनाव का भाव बढ़ाने में अंग्रेज़ सफल हुए । प्रथम हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष 1892-93 में हुआ । काँग्रेस पार्टी विभाजन और सांप्रदायिकता विरोधी रही थी । वह सभी वर्गों और संप्रदायों का नुमाइन्दगी करके स्वाधीनता के लिए लड रहा । लेकिन इसके विपरीत मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा की स्थापना मुस्लिम धर्म और हिन्दू के निजी स्वार्थी और भलाइयों की रक्षा के उद्देश्य से की गई थी । मोर्ले मिन्टो द्वारा 1909 में किए गए सुधारों में अलगाववादी प्रवृत्तियों को मान्यता प्रदान कर दी गयी । हिन्दू महासभा की स्थापना सांप्रदायिक भेद भाव को बढ़ाने का हेतु बन गई । यह इसका प्रमाण है कि अंग्रेज़ एक ओर मुस्लिम सांप्रदायिकता का और दूसरी ओर हिन्दू सांप्रदायिकता का पालन-पोषण कर रहे थे । 1912-14 के समय "मुसिलिम राजनीति का नेतृत्व अलीगढ़ पार्टी के हाथ में था । उसके सदस्य समझते थे कि सर सैयद अहमद की नीतियों की अमानत के रक्षक वे ही हैं। उनका मूल मंत्र यह था कि मुसलमानों को ब्रिटिश राज के प्रति वफादार और आज़ादी के आन्दोलन से दूर रहना चाहिए ।"[2] ब्रिटिश शासकों ने भारतवासियों का ध्यान अपनी तरफ से हटाने केलिए हर तरह से प्रचार कराया कि हिन्दू मुसलमानों के और मुसलमान हिन्दुओं के दुश्मन हैं । अयोध्यासिंह के शब्दों

1. ए.के. गाँधी, संपूर्ण गाँधी वाँङ्मय, खण्ड 18, पृ. 30
2. मौलाना अबुल कलाम आज़ाद - आज़ादी की कहानी, पृ. 8

में - "कितने ही ईमान्दार हिन्दू और मुसलमान ब्रिटिश शासकों की इस चाल के शिकार हुए और एक दूसरे के खिलाफ प्रचार करने लगे । इसी फिज़ा में हिन्दू महासभा का जन्म 1925 में हुआ । उसने और मुस्लिम लीग ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के खिलाफ भडकाने में होड लगाई। दोनों को ब्रिटिश शासक अपने दोस्त और मुसलमान या हिन्दू अपने दुश्मन दिखाई पड़ते थे । मुस्लिम लीग के कलकत्ता अधिवेशन (दिसम्बर 1925) के अध्यक्ष अब्दुलर्रहीम ने हिन्दुओं को मुसलमानों का सबसे बड़ा दुश्मन बताया और मुसलमानों से अपनी हिफाज़त के लिए हर तरह के कदम उठाने की अपील की।"[1] इसकी वजह से उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में सांप्रदायिक संकीर्णताओं के नाम पर समस्यायें उमड़ने लगीं । इन्हें देखकर भगतसिंह ने किश्ती में लिखा है- "भारतवर्ष की दशा इस समय बडी दयनीय है । एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों के जानी दुश्मन है । अब तो एक धर्म के होना ही दूसरे धर्म के कट्टर शत्रु होना है । यदि इस बात का अभी यकीन न हो तो लाहौर के ताज़ा दंगा ही देख लें ।"[2] उन्होंने यह भी लिखा था कि कोई विरले ही हिन्दू, मुसलमान या सिख होता है, जो अपना दिमाग ठण्डा रखता है, बल्कि सबके सब धर्म के रोब को कायम रखने के लिए डंडे-लाठियाँ, तलवारे-छुरे हाथ में पकड़ लेते हैं और आपस में सर फोड-फोड़कर मर जाते हैं । बाकी बचे तो फाँसी चढ़ जाते हैं और

1. अयोध्यासिंह - फासीवाद, पृ. 405
2. सं. चमनलाल - भगतसिंह के पूर्ण दस्तावेज़, पृ. 152

कुछ जेलों में फेंक दिये जाते हैं । इतना रक्तपान होने पर इन धर्मजनों पर अंग्रेजी सरकार का डंडा बरसाता है और फिर इनके दिमाग का कीड़ा ठिकाने पर आ जाता है । मुसलमान नेता फासिली के बारे में दुर्गादास कहते हैं कि अपने मन में देश-भक्ति की भावना होते हुए भी मियाँ साहिब ने सामाजिक अनैक्य का बीज बोया था । इस तरह के माहौल में हिन्दू और मुसलमान दोनों संत्रस्त रहे थे।

भारत में मुसलमान अल्पसंख्यक थे । अतः उनके मन में बहुमत के प्रति सन्देह उत्पन्न करा देना अंग्रेज़ों का लक्ष्य रहा था । अपनी स्वार्थता की पूर्ति के लिए नेता लोग इस शंका का फायदा उठाते थे । ब्रिटेन से 1937 ई. में मुहम्मद अली जिन्ना के पुनः भारत आगमन ने अंग्रेज़ों की फूट डालो और राज करो की नीति को नया आयाम प्रदान किया । मुस्लिम जनता का आखिल भारतीय नेतृत्व हासिल करने के लिए जिन्ना ने एक स्वच्छ सांप्रदायिक कार्यक्रम का आयोजन किया और लीग की अगली बैठक में अध्यक्ष-पद ग्रहण करने केलिए फासिली को आमंत्रित किया । लेकिन फासिली ने प्रस्ताव से मुँह मोड़कर अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि जिन्ना के लाहौर के दौर के वक्त कोई भी व्यक्ति उनसे न मिले । देश के चारों ओर से धार्मिक नेता जनता को उकसाते रहते थे । मई 1925 में बंगाल में फजलुल हक की अध्यक्षता में बंगाल मुस्लिमों की कांफ्रेस हुई थी । उसमें

हक साहब ने यह जहर उगला कि जिस गति से भारत स्वाधीनता की ओर अग्रसर होता जाएगा उसी वेग से हिन्दू, राज्यसभा पर काबिज होते जाएँगे । आगे उन्होंने आत्मरक्षा के सभी साधनों को अपनाने की सलाह देकर यह एलान किया कि मुसलमान अपना भाग्य हिन्दुओं के हाथ में नहीं छोड़ सकते।

सन् 1923 में बनारस में हिन्दू महासभा का अधिवेशन हुआ जिसमें कांग्रेस नेता मदनमोहन मालव्या ने भाग लिया । 1925 तक आते आते यह अखिल भारतीय संस्था बन गयी । तत्कालीन शासन की सहायता इसे भी प्राप्त थी ताकि राष्ट्रीय आन्दोलन धीमा हो जाय । इस भेद-नीति के बारे में डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है "अंग्रेज़ हिन्दू सभा से नहीं चिढ़ते थे, क्योंकि हिन्दू सभा सांप्रदायिकता की सहायिका होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन पर लगाम लगाने के काम आ सकती थी ।"[1]

इसप्रकार अपने शासन और शोषण को जारी रखने के लिए अंग्रेज़ों ने जबरदस्त प्रयास किए । ऐसे प्रयत्नों में मुख्य था विभिन्न संप्रदायों- हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों के भेद को रेखांकित करना और उनके बीच मनमुटाव और विद्वेष को उर्वर करना । इससे एक ओर मुस्लिम लीग अधिक

1. पी. रवि, विभाजन व भारतीय कहानियाँ, पृ. 14

सांप्रदायिक बनती गई तो दूसरी ओर हिन्दू महासभा भी ब्रिटिश शासकों ने हिन्दू और मुलमानों के इन मतभेदों को पहचाना और उन्होंने 'बाँटो और राज करो' की नीति अख्तियार कर ली । सांप्रदायिक राजनीति को बढावा देने में मुहम्मद अली जिन्ना अग्रणी थे । जिन्ना ने काँग्रेस के विरुद्ध मुस्लिम जनता को इकट्ठा किया । इस तरह उन्होंने सांप्रदायिक राजनिति को और अधिक दुर्भावनापूर्ण आयाम प्रदान किया । "1939 में लाहौर-प्रस्ताव पास हुआ, जो पाकिस्तान प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है और उसके बाद लीग ने अलगाववादी मार्ग की ओर अपने कदम बढ़ा दिए थे।"[1] उनका वादा था कि "नयी कार्य परिषद में मुस्लिम लीग ही मुसलमान सदस्यों को नामजद कर सकती है और काँग्रेस को किसी मुसलमान को नामजद करने का हक नहीं होगा । उनकी यही राय थी कि राष्ट्रीयता का आधार धर्म और संप्रदाय है । जिन्ना की घोषणा पर मौलाना आज़ाद ने लिखा है कि हिन्दुस्तान में कई राष्ट्रीयताएं हैं जिनका आधार धार्मिक भेद है । इनमें प्रमुख दो हैं - हिन्दू और मुसलमान। ये अलग-अलग होने के नाते उनके अलग-अलग राज्य भी होने चाहिए । जिन्ना सांप्रदायिक विभाजन हेतु खतरनाक भविष्यवक्ता के रूप में हानिकारक तरीके से बोलते थे । हिन्दू मज़हबियों की ओर से भी काँग्रेस विरोध शुरु हुआ था । साथ ही उन्होंने हिन्दू सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया।"[2] सावरकर के अनुसार हिन्दू महासभा ही हिन्दुओं की हितैषी है और

1. मौलाना अबुल कलाम आज़ाद - आज़ादी की कहानी, पृ. 137
2. वही, पृ. 129

उन्होंने काँग्रेस को हिन्दू विरोधी और मुसलमानोन्मुखी बताया । यह काँग्रेस के प्रति आक्रामक रवैया था । उनके अनुसार एक राष्ट्र की स्थापना के लिए विभिन्न धर्म के लोगों में एकता लाने का मतलब है मुसलमानों के हित के लिए हिन्दू हितों की बलि चढ़ाना । उनका विचार था कि कोई भी हिन्दू पहले हिन्दू है बाद में भारतीय। यही विचारधारा आगे चलकर हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, और मुस्लिम लीग की नींव डाली । ये तीनों संस्थाएँ धर्मनिरपेक्ष भारत की अवधारणा का विरोध और धर्म पर आधारित राज्य का समर्थन करती थी । उन्होंने अंग्रेज़ी शासन का विरोध नहीं किया था। वे अंग्रेज़ों के विरोध में आयोजित संघर्षों में शामिल भी नहीं थीं । उन्होंने भूमि सुधार का भी विरोध किया ।

एक दूसरे संप्रदायों के प्रति नफरत की भावना पर उन्होंने अपने आधार को मज़बूत किया । उनके अनुयायी ज़मींदार तथा पारंपरिक व्यापारी वर्ग थे । वे काँग्रेस की नीतियों के भी घोर विरोधी थे । वे अलग-अलग रूपों में दो राष्ट्र के सिद्धान्त में यकीन रखते थे । लेकिन यह 'सिद्धान्त' दोनों के लिए अलग-अलग था । मुस्लिम लीग का यह कहना था कि चूंकि मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं, इसलिए उनके लिए एक अलग देश बने । हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का यह मानना था कि यह भूमि हिन्दुओं की है और शेष धर्म यहाँ के मूल धर्म नहीं है । इसलिए विद्यार्थियों को हिन्दुओं के मातहत रहना होगा ।

मुस्लिम लीग का दावा था कि मुसलमानों की आबादी 25 प्रतिशत हैं, लेकिन किसी भी विधेयक को पारित करने केलिए दो तिहाई बहुमत आवश्यक है । मुसलमानों को विधानमण्डल में 1/3 प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए ताकि वे मुस्लिम विरोधी विधेयक को पारित होने से रोक सकें । भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के गठन और उसकी माँगों से अंग्रेज़ खुश नहीं थे । ऐसे मौके पर सर सैयद अहमद की इन माँगों का तिरस्कार उनके लिए फायदेमंद था और उन्होंने सर सैयद अहमद को उनकी 'सांप्रदायिक मांगों' के लिए प्रोत्साहित किया । अंग्रेज़ अपनी चाल में कामयाब रहे और हिन्दू-मुस्लिम मतभेद का लाभ उठाते हुए उन्होंने कई बार भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को नीचा दिखाने का प्रयास किया । उन्होंने मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में मुस्लिम नवाबों और जागीरदारों के एक गुट को मान्यता दी और साथ ही साथ हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को प्रोत्साहित किया । इनके ज़्यादातर अनुयायी हिन्दू ज़मींदार, रियासतों के राजा और बनिया थे।

धर्म के आधार पर विभाजन की बातें डॉ. मुहम्मद इकबाल द्वारा सन् 1930 में हलाहाबाद के मुस्लिम लीग की एक विशेष अधिवेशन में उठायी गयी थी । अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. मुहम्मद इकबाल ने उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना की योजना भी प्रस्तुत की । कुछ वर्ष बाद सन् 1936 में फासिली हुसैन की मृत्यु ने द्विराष्ट्रवाद को एक

नया मोड दिया । सबसे पहले अपने लाहौर प्रस्ताव में मुस्लिम लीग ने भारत के संभावित बँटवारे का ज़िक्र किया था । यही बाद में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' नाम से प्रसिद्ध हुआ । फिर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिन्दू महासभा ने अंग्रेज़ों की मदद् का निर्णय लिया । काँग्रेस मंत्रीमण्डल से इस्तीफा देकर लीग ने भी इसका साथ दिया । इसप्रकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध सिर्फ काँग्रेस पार्टी रही बाकी सब हिन्दू और मुसलमान अलग अलग देश होने के पक्ष में थे ।

1946 में काँग्रेस के नेतृत्व में नयी अन्तरिम सरकार बनी थी । सरदार पटेल ने यश लिप्सा के कारण गृह मंत्रालय को अपनाया था । वित्त-विभाग लीग के लियाकत अली को मिला । वित्त मंत्रालय शासन की कुंजी है जिसमें लीगी लोग काम करते थे । इसी से वह गतिरोध पैदा हुआ जिससे लार्ड माऊण्ट बैटन को हिन्दुस्तान के बँटवारे की भूमिका तैयार करने का मौका मिला । उन्होंने राजनीतिक समस्याओं को धीरे-धीरे नया मोड़ देना शुरु किया और काँग्रेस में यह बात जम गई कि बँटवारा अनिवार्य है । इसके लिए मुहम्मद अली जिन्ना और लियाकत अली के हठ और नकारात्मक रवैया भी मुख्य कारण बने थे । माँऊट बैटन के अनुसार "उन सारी मुसीबतों एवं समस्याओं के मूल हेतु मात्र जिन्ना थे, और अपने विरुद्ध उन्हें एक शब्द भी नहीं था । इन सारी बातों में उनकी पाश्विक प्रतिभा थी । वे आगे कहते

हैं कि इसकी हेतु गाँधी है ।"[1] जिन्होंने गाँधी को नहीं माना वे नेहरू को मानते थे । खींचताव से ऊबकर पटेल विभाजन के लिए सहमत हो गए जिन्हें सबसे पहले माऊट बेटन ने अपना साथ लिया । इस पर मौलाना आज़ाद ने लिखा है कि पटेल के मन में यह बात पक्की हो गयी थी कि वे मुस्लिम लीग के साथ काम नहीं कर सकते । उन्होंने खुले आम कहा था- "मैं इसके लिए तैयार हूँ कि लीग हिन्दुस्तान का एक हिस्सा ले लें पर हमें उनसे मुक्ति तो मिले।"[2] इससे बँटवारे के लिए सहमत होने की पटेल की विवशता व्यक्त होती है । हिन्दू सांप्रदायिकतावादियों ने अलग राष्ट्र की माँग तो नहीं की थी, लेकिन उन्होंने द्वि-राष्ट्र के सिद्धान्त में विश्वास जताया था । हिन्दू-महासभा ने 1937 के अधिवेशन में जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को स्वीकृति दी थी । अंग्रेज़ी शासन के अन्तिम दिनों में काँग्रेस का भी एक वर्ग विभाजन की योजना को स्वीकार कर रहा था । मौलाना आज़ाद ने कहा था - "काँग्रेसियों में विभाजन के सबसे बड़े समर्थक सरदार पटेल थे । यद्यपि वे विभाजन को समस्या का उत्तम समाधान नहीं मानते थे, लेकिन वित्तमन्त्री लियाकत अली खान के हर कदम पर नकारात्मक रवैया दिखता था । इससे सरदार पटेल तंग आ गए और गुस्से में निर्णय लिया कि यदि और कोई विकल्प ही नहीं है तो विभाजन ही बेहतर है । वे इस बात से सहमत थे कि नया देश पाकिस्तान विकल्प नहीं है, क्योंकि वह टिकाऊ नहीं होगा । उनका विचार

1. पी. रवि - विभाजन व भारतीय कहानियाँ, पृ. 16
2. वही - पृ. 16

था कि पाकिस्तान की सहमति मुस्लिम लीग को कडुवा सबक सिखाएगी...। शायद सरदार पटेल को आशा थी कि वे भारत में वापस आने के लिए बाध्य हो जाएंगे।"[1] उनका कथन है "मैं मानता हूँ कि उनमें मुस्लिम लीग के प्रति पूर्वग्रह पैदा हो गया था, मुस्लिम लीग का अनुसरण करनेवाले मुसलमानों के कष्टों से उन्हें कोई दुःख नहीं होता।"[2] नेहरू, कृपलानी, गाँधी और मौलाना विभाजन के विरुद्ध ही खड़े थे । फिर नेहरू और कृपलानी भी विभाजन के लिए राजी हो गये । 1945 में हुए कैबिनट मिशन योजना के बारे में जो कहा गया, वह जिन्ना के लिए बम का धमाका साबित हुआ । उनका बयान था - "मैं समझता हूँ कि एक ऐसी बलवती भावना थी कि यदि ऐसा संघ बनता है तो एक तो इससे आन्तरिक दबाव खत्म नहीं होते और दूसरे इसके विभिन्न संघटकों को सत्ता-हस्तान्तरण करने से केन्द्र सरकार बहुत कमज़ोर रह जाती, यह इतनी कमज़ोर रह जाती कि यह ठीक तरह से काम करने या प्रभावी आर्थिक कदम उठाने में भी सक्षम नहीं होती । यही असली कारण था जिससे अन्ततः विभाजन स्वीकार करना पड़ा । यह कितने भारी मन से किया गया चयन था, इसकी आप कल्पना कर सकते हैं । अब यह कहना मुश्किल है कि उन परिस्थितियों में और क्या किया जा सकता था।"[3]

जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल दोनों, मजबूत केन्द्र के पक्ष

1. असगर अली इंजिनीयर, सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 10-11
2. शैलेन्द्र श्रीवास्तव - भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास (1857-1947)पृ. 47-48
3. वही, पृ. 49

में थे । उन्हें कमज़ोर केन्द्र और अविभाजित भारत या मज़बूत केन्द्र और विभाजित भारत को चुना । यह स्पष्ट है कि दो समुदायों के अभिजात वर्ग के बीच सांप्रदायिक सवाल का हितकारी हल नहीं निकल पाया । हिन्दू, महासभा की भी सांप्रदायिक माहौल बनाने में अहम् भूमिका रही थी । उसकी भी यही अवधारणा रही कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं और ये सद्भावना से इकट्ठे नहीं रह सकते । सभी ने मुस्लिम लीग के 1940 के लाहौर प्रस्ताव से काफी पहले 1937 में इस आशय का प्रस्ताव पारित किया था । महासभा के नेता भाई परमानन्द ने 1938 में लिखा था - 'मि. जिन्ना मानते हैं कि इस देश में दो राष्ट्र है... यदि जिन्ना ठीक हैं और मैं मानता हूँ कि वे हैं , तो काँग्रेस की साझी राष्ट्रीयता की अवधारणा ही धराशायी हो जाती है । इस स्थिति के केवल दो ही समाधान हैं । एक तो देश का विभाजन और दूसरा देश के अन्दर ही एक अलग मुस्लिम देश विकसित होने देना।"[1] इस तरह हिन्दू और मुस्लिम दोनों सांप्रदायिक शक्तियों ने धर्म के आधार पर भारत के विभाजन का समर्थन किया । भारत विभाजन के लिए सभी उत्तरदायी हैं ।

14 जून, 1947 के काँग्रेस अधिवेशन के समापन सम्मेलन में कृपलानी ने अपना मंतव्य प्रकट किया था । उन्होंने कहा था कि मैं कुछ उपद्रव पीड़ित भागों में हो आया हूँ । एक जगह में एक कुआ देखा जिसमें

---

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 10-11

औरतों ने अपने बच्चों सहित कुए में कूदकर अपनी इज्ज़त बचायी थी । कुल 107 जीवों की बली हो गई । एक एक घर में मैंने हड्डियों के ढेर देखे जहाँ 307 व्यक्ति जिनमें ज़्यादातर स्त्रियाँ और बच्चे थे, आक्रमणकारी भीड के द्वारा खदेड कर बन्द कर दिये गये और फिर ज़िन्दा जला दिए गए । निस्सन्देह इन राक्षसी हादसों ने इस प्रश्न से जुडे दृष्टिकोण को प्रभावित किया है ।

मार्च 1947 में लार्ड वेवल के स्थान पर लुई मौन्टबेटेन को भारत का गवर्नर-जनरल व वायसराय नियति किया गया । 24 मार्च के दिन उन्होंने अपना कार्यभार संभाला । इस समय यह स्पष्ट हो चुका था कि पाकिस्तान की माँग को स्वीकार किये बिना काम नहीं चलेगा । हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी ज़ोर पकड रहे थे । ऐसा प्रतीत होता था, कि भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों में शीघ्र ही गृह-युद्ध शुरू हो जाएगा । इसलिए काँग्रेस की कार्यकारिणी ने यह निर्णय किया कि पंजाब और बंगाल, प्रान्तों का विभाजन कर उन प्रदेशों को, जिनमें हिन्दुओं की बहुसंख्या है, अलग कर दिया जाए और उन्हें पाकिस्तान में सम्मिलित न किया जाए । 24 मार्च को पदग्रहण करने के बाद लार्ड मौण्टबेटेन ने लीग की नेताओं के साथ चर्चा करने के बाद मौण्टबेटेन इस नतीजे पर पहुँचे कि भारत की समस्या को शान्तिपूर्वक हल कर सकने का यही उपाय है कि भारत के विभाजन को स्वीकार कर

लिया जाए । इसके पहले ही कलकत्ता, नौआखली बिहार, बंबई और पंजाब में दंगे शुरु हुए थे । ऐसी स्थिति में आज़ाद ने बँटवारे के विरोध में माऊण्ट बेटन से बात की थी । उनका जवाब था -"कम से कम इस सवाल पर मैं आपको पूरा आश्वासन दे सकता हूँ । यह मेरी ज़िम्मेदारी है कि कोई खून-खराबा या दंगा न हो । अगर कहीं ज़रा सी भी गडबड हुई तो कडी कार्यवाही करके उसे शुरु में ही दबा दूँगा । मैं सशस्त्र पुलिस का भी उपयोग नहीं करूँगा । मैं सेना और वायु सेना से काम लूँगा और जो कोई गडबड करने की कोशिश करेगा उसे दबाने के लिए मैं टैकों और हवाई जहाज़ों का इस्तेमाल करूँगा ।"[1] लेकिन वादा नहीं निभाया गया ।

हिन्दुस्तान का बंटवारा करने में मौण्टबेटेन की केन्द्रीय भूमिका रही है । मौण्टबेटेन की चलाकी, जिन्ना की ज़िद और अन्य लोगों के ढुलमुलपन को महात्मा गाँधी समझ रहे थे । मगर बागडोर उनके हाथों से खिसकती जा रही थी । सुत्रधार दूसरे लोग बन गये थे । जिन दिनों गाँधी बंगाल और बिहार के दंगा-पीड़ितों को सांत्वना दे रहे थे, उनके दुःख दर्द में शरीक हो रहे थे, उन्हीं दिनों उनके सिपहसालार, उनके अनुयायी नेहरू और पटेल सत्ता का खेल खेल रहे थे । मौण्टबेटेन प्लान के ड्राफ्ट से लेकर अंतिम रूप पाने तक की संपूर्ण प्रक्रिया के बारे में किसी ने गाँधीजी से सलाह नहीं की मगर वे महसूस कर रहे थे कि वे अकेले पड़ते जा रहे हैं । गाँधीजी को लगने लगा

1. नरेन्द्र मोहन (लेख), विभाजन : इतिहास, स्मृति और साहित्य (अकार- दिसंबर 2003) पृ. 61

था कि अंग्रेज़ 'फूट डालो और राज करो से आगे बढ़कर देश को टुकड़ों में बांटो और भारत छोडो' की नीति पर चल रहे हैं । गाँधी अच्छी तरह जानते थे कि विभाजन के परिणामस्वरूप कितने भयानक दंगे होंगे । दो जातियों के इतने बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण के परिणामों का सही-सही अन्दाज़ा अगर किसी को था तो केवल गाँधी को था । गाँधी ने कभी कहा था "अगर कांग्रेस बँटवारे को स्वीकार करना चाहती है, तो उसे मेरी लाश पर से गुज़रना होगा। जब तक मैं जीता हूँ, मैं कभी हिन्दुस्तान का बँटवारा स्वीकार न करूँगा।"[1] उसी गाँधी के सामने संकट था कि वह नेहरू पटेल की विभाजन योजना की मंज़ूरी के खिलाफ कैसे जाएँ?" फलतः 3 जून 1947..... की काँग्रेस महासमिति की बैठक में गाँधी को विभाजन स्वीकार करना पड़ा ।

मौण्टबेटेन में ईमानदारी के जाल में अपने काईयापन को छिपाने की कला बड़ी जबरदस्त थी । इसकी बदौलत उसने एक-एक कर भारतीय नेताओं को घेर लिया । वह ऊपरी तौर एक बात कहता था, पर अपने असल मंसूबों की भनक नहीं पड़ने देता था । उसकी चालबाज़ी और काईापन की लपेट में अगर कोई नहीं आया तो वह महात्मा गाँधी था । आज़ाद ने नेहरू को चेतावनी दी थी कि अगर हमने बँटवारे की बात मान ली तो इतिहास हमें कभी माफ़ नहीं करेगा । गाँधीजी जिन्ना को प्रधानमंत्री पद देने के लिए तैयार थे । लेकिन काँग्रेस के बहुमत इससे सहमत नहीं थे । इन

1. नरेन्द्र मोहन (लेख), विभाजन : इतिहास, स्मृति और साहित्य (अकार दिसंबर 2003) पृ. 64-65

कारणों से अंग्रेज़ों को खासकर मौण्टबेटेन को अपना हाथ धोने का थोडा अवसर मिला । उन्होंने एक भेंटवार्ता में कहा था कि कैबिनट मिशन के सिद्धान्तों पर एकता न रख सका तो, और हल निकालने का प्रयत्न भी किया पर ऐसा कोई हल नज़र न आया जो सबको स्वीकार हो और जिससे भारत का बँटवारा भी न हो ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिकता

साँप्रदायिक विद्वेष से बनते नरसंहार से मुक्ति पाने के लिए भारतीय काँग्रेस दल ने 1947 को विभाजन केलिए सहमती दी थी । पर विभाजन ने विद्वेष और संहार को और तीव्र बना दिया । मौलाना आज़ाद ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि काँग्रेस द्वारा विभाजन-योजना की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं है कि इसे भारत की जनता ने स्वीकार कर लिया । उन्होंने कहा था, “विभाजन के प्रति लोगों के रवैये की असली परख 14 अगस्त, 1947 को हुई जब पाकिस्तान का जन्म हुआ । यदि भारत के लोग खुशी से विभाजन को स्वीकार करते तो पंजाब, फ्रंटियर सिंध और बंगाल के हिन्दू और सिख भी मुसलमानों की तरह जश्न मनाते । इन प्रान्तों से हमें जो सूचनाएं मिलीं, उनसे यह दावा खोखला बन गया कि काँग्रेस द्वारा विभाजन की स्वीकृति का अर्थ भारत की जनता की स्वीकृति है ।”[1] देश के विभाजन ने सांप्रदायिक समस्या का कोई हल नहीं निकाला, इतना ही नहीं भारत और पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों की बदहालत ज्यों की त्यों बनी रही।

1. नरेन्द्र मोहन (लेख), विभाजन : इतिहास, स्मृति और साहित्य (अकार दिसंबर 2003) पृ. 67

पाकिस्तान के अस्तित्व में आने के बाद ही वहाँ जातीय संघर्ष और अलगाववादी आन्दोलन शुरु हुए थे । बंगाली अहमियत व अस्मिता के सशक्त संघर्ष एवं भारत की मदद से पाकिस्तान के दो टुकडे हो गए । इससे पाकिस्तान के अस्तित्व का नींवाधार 'मुस्लिम एकता' की नींव हिल गई और यह सिद्ध हो गया कि धार्मिक एकता तभी तक काम करती है, जब तक किसी 'बाहरी अन्य' से सामना होता है । लेकिन ज्यों ही 'बाहरी अन्य' नहीं रहता या ताकत के रूप में नहीं रहता तो 'भीतरी अन्य' अपने आप गंभीरतापूर्वक सिर उठाने लगता है और धार्मिक को कमज़ोर करता है । 1971 के बँटवारे के बाद आज भी पाकिस्तान में हिंसापूर्ण जातीय संघर्ष जारी रहा हैं । देश के विभाजन से भारतीय मुसलमानों को धार्मिक और राजनीतिक दोनों दृष्टि से बहुत भारी नुकसान हुआ । दुर्भाग्यपूर्ण है कि जल्दबाज़ी में लिए गए राजनीतिक निर्णयों से बहुत लंबे समय तक बुरे परिणाम भुगतने पड़ते हैं । देश के विभाजन का निर्णय भी ऐसा ही था । किसी ने इसके दूरगामी परिणामों पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया ।

विभाजन के बाद के घटनाक्रम से भारतीय मुसलमान स्तब्ध रह गए । उत्तर प्रदेश और बिहार की हिंसा से उनको सदमा पहुँचा । यहाँ तक कि वे अपने ज़िन्दा रहने या भारत में अपने भविष्य के बारे में भी आश्वस्त नहीं थे । एक बार फिर मौलाना आज़ाद ने उनमें विश्वास जताया । जमा

मस्जिद के चबूतरे से मुसलमानों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि भारत उनका देश है, उन्हें यही जीना है और यही मरना है । वे भारतीय हैं और उन्हें भारतीय विरासत पर नाज़ है । उनके पूर्वज यहीं दफनाए गए हैं, ताजमहल व अन्य एतिहासिक स्मारक उनकी विरासत के अंग है । तब के भारत के सबसे कद्दावार मुस्लिम नेता मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद के इन विचारों ने मुस्लिमों को जगाई और उनमें भारत में नए सिरे से अपना भविष्य बनाने के लिए निश्चय पैदा किया।"[1]

"विभाजन के दंगों की हैवानियत के लिए राजनीतिज्ञों को वैसी भूमिका विभाना कठिन हो गया जैसी कि विभाजन के पहले वे निभाते थे । विभाजन के लगभग एक दशक बाद तक वे राजनीतिक रूप से निष्क्रिय रहे। वे अपनी सुरक्षा और भलाई के लिए आम तौर पर कांग्रेस की ओर तथा विशेष तौर पर नेहरू की ओर मुखातिब थे ।"[2] उत्तर प्रदेश व बिहार के धनी शिक्षित मध्यवर्ग व व्यावसायिकों का प्रवाह अपने जीवन की खुशहाली के लिए पाकिस्तान की ओर उमड़ पड़े थे । यद्यपि इनमें बहुत ऐसे भी थे जो पाकिस्तान के निर्माण के विरुद्ध थे और भारत में ही रह गए । वह तथ्य गौरतलब है कि केवल हैदराबाद की निजाम रियासत से सम्बन्धित चन्द मुसलमानों ने पाकिस्तान जाना स्वीकार किया । इसके पीछे जातीय और

1. असगर अली इंजिनीयर, सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 107
2. वही - पृ. 108

भाषायी जुड़ाव की महत्वपूर्ण भूमिका रही । गरीब मुसलमानों में से शायद ही कोई पाकिस्तान गया होगा । यह निश्चित है स्थानान्तरण से उन्हें शायद ही कुछ हासिल होता । वे भारत में ही रह गए । वे उत्तर प्रदेश और बिहार की मुस्लिम आबादी का बहुल हिस्सा है । दरअसल इन्हीं को स्वार्थी राजनीति की कीमत चुकानी पड़ती है ।

जमात-ए-इस्लामी के संस्थापक अध्यक्ष मौलाना मौद्दी ने न तो कभी जिन्ना का समर्थन किया । (वह धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करता था और उसने पाकिस्तान को धर्म का राज्य बनाने से इनकार कर दिया ।) और न ही अंग्रेज़ी शासन विरोधी संघर्ष में भाग लिया । उसने साम्राज्यवाद और धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र की तुलना दो झूठे भगवानों से की । उसने धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र से दूर रहने की सलाह देकर भारतीय मुसलमानों में भ्रान्तियाँ पैदा करने की कोशिश की । उसने कहा था - "जहाँ तक मुसलमानों का संबन्ध है मैं उन्हें स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वर्तमान धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय लोकतन्त्र उनके धर्म और आस्थाओं के पूरी तरह विपरीत है । यदि आप इसके सामने सिर झुकाओगे तो यह कुरान से मुँह मोड़ना होगा, यदि आप इसकी स्थापना एवं मज़बूती के लिए कार्य करेंगे तो यह खुदा और उसके सन्देशवाहकों के प्रति विद्रोह होगा और यदि आप इसका झण्डा बुलन्द करेंगे तो आप खुदा के प्रति विद्रोह का झण्डा उठा रहे होंगे ।"[1]

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 108

नात्थूराम गोडसे और उसके साथियों द्वारा 1948 में महात्मा गाँधी की हत्या के बाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। सरकार ने खेद के साथ चिह्नित किया है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का व्यवहार उसके प्रस्तावित आदर्शों के अनुकूल नहीं है । संघ के सदस्यों द्वारा अवांछनीय और यहाँ तक कि खतरनाक कार्य किए गए हैं । पाया गया है कि देश के कई भागों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य हिंसा, आगजनी, लूट, डकैती हत्या एवं अवैध हथियार की गतिविधियों में लिप्त हैं । वे लोगों को आतंकी तरीकों, आगजनी के हथियार, लोगें का सरकार से मोहभंग करने, पुलिस व सेना को धोखा देने संबन्धी भड़काऊ पर्चे बांटते पाए गए हैं ।

जवाहरलाल नेहरू समय-समय पर आक्रमण करते रहे । उदाहरण के लिए सम्बोधित करते हुए उन्होंने जनसंघ, हिन्दू-महासभा व प्रजा परिषद की कड़ी आलोचना की । उन्होंने कहा कि ये कश्मीर समस्या को समझे बिना नारे लगाकर समस्या को जटिल बनाने की कोशिश कर रहे हैं, इनकी गतिविधियाँ कश्मीर और भारत दोनों केलिए हानिकारक हो सकती है ।

15 आगस्त 1952 के स्वतन्त्रता दिवस के भाषण में उन्होंने देश के सामने मौजूद खतरों का ज़िक्र किया: हिंसा की संस्कृति, सांप्रदायिकता और स्वार्थपरता।.. उन्होंने ऐलान किया कि सांप्रदायिकता देश को ज़्यादा

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 112

कमज़ोर कर सकती है । धार्मिक कट्टरपन्थी और सांप्रदायिक नेताओं ने इतिहास से सबक लेने से इनकार कर दिया है- “हमें सांप्रदायिक तत्वों और स्वार्थी लालची लोगों से सतर्क रहना है जो झूठ और पाखण्ड से देश को नुक्सान पहुँचाते हैं । यदि इन तीनों चीज़ों को रोका नहीं गया तो ये हमारे देश को बर्बाद कर देंगी ।”[1]

नेहरू ने सांप्रदायिकता फैलाने में समाचार पत्रों की भूमिका की भी कड़ी आलोचना की । उन्होंने कहा था कि सांप्रदायिक घृणा फैलानेवाले समाचार पत्रों पर अंकुश लगाया जाए । उन्होंने कहा था मुस्लिम लीग ने भारतीय वातावरण में ज़हर घोला था । हिन्दू महासभा जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी वही चोला पहन रखा है और उनके विचार और तरीके बिल्कुल उसी तर्ज पर है - धर्म के नाम पर लोगों को उकसाना ।

स्वतन्त्रयोत्तर भारत में सांप्रदायिकता ने अपना भद्दा सिर उठा लिया था । देश के विभाजन ने सांप्रदायिकता को नहीं सुलझाया था । इनकी वजह से वह और ज़ोर पकड़ी थी । महात्मा गाँधी की हत्या इसका प्रमाण है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के पहले दशक में कई दंगे हुए । सन् 1950 में पश्चिम बंगाल में गोरा बाज़ार व दमदम में दंगे फैल गए । इन दंगों में 34 मुसलमान और 16 हिन्दू मारे गए और 146 मुसलमान व 110 हिन्दू घायल

---

1. असगर अली, इंजिनीयर, सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 109

हुए । ये कोई छोटे-मोटे झगड़े-फसाद नहीं थे, बल्कि ये दंगे पूर्वी पाकिस्तान में हिन्दू-विरोधी हिंसा की प्रतिक्रिया प्रतीत होते थे । पचास के पूरे दशक में सांप्रदायिक हिंसा की घटनाएँ घटित होती रही । "सन् 1954 में कुल 54 दंगे हुए जिनमें 34 व्यक्ति मारे गये और 512 घायल हुए । 1956 ई के 82 दंगों में 35 लोग मारे गए और 575 घायल हुए। 1957 में 58 दंगे पंजीकृत हुए और मरनेवालों की संख्या 58 तथा घायलों की संख्या 316 पहुँच गई। उसके बाद 1958 में सांप्रदायिक दंगों की घटनाएँ दर्ज हुईं जिनमें 7 लोग मौत की नींद सो गए और 369 घायल हुए । 1959 में सांप्रदायिकता की 42 घटनाएँ घटित हुईं जिनमें 14 व्यक्तियों की मृत्यु हुई और 1344 घायल हुए। 1960 में 26 घटनाएँ घटित हुईं जिनमें 14 व्यक्तियों की मृत्यु हुई व 262 लोग घायल हुए ।"[1]

ये घटनाएँ दर्शाती हैं कि कोई भी वर्ष ऐसा नहीं है जिनमें सांप्रदायिक हिंसा न हुई हो । अपनी धर्मनिरपेक्ष रहने की प्रतिज्ञा के बावजूद भारत कभी सांप्रदायिक हिंसा और सांप्रदायिकता की संकल्पना से नहीं बच सका । 1962 के जबलपुर दंगों ने पूरे राष्ट्र को झकझोर दिया । यह आज़ाद भारत का पहला बड़ा सांप्रदायिक दंगा था । इस सांप्रदायिक दंगे से नेहरू इतना दहल गए थे कि उन्होंने राष्ट्रीय एकता परिषद गठित करने का निर्णय लिया। इन दंगों से मुसलमानों का मोहभंग हुआ जो सामान्य तौर पर

---

1. असगर अली, इंजिनीयर, सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 110

भारतीय धर्मनिरपेक्षता और विशेष तौर पर नेहरू में विश्वास करते थे । जाने माने राष्ट्रवादी मुसलमान और नेहरू की कैबिनट के मन्त्री सैयद महमूद जैसों का भी मोहभंग हुआ जिससे 'मुस्लिम मज़लिस-ए-मशावरात' नामक अलग मुस्लिम मंच की स्थापना हुई । सभी मुस्लिम संगठन और दूसरे धर्मनिरपेक्ष दलों व संगठनों के मुसलमान पहली बार इस मंच पर एकत्रित हुए । मुसलमानों का कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता से विश्वास उड़ गया । ज़्यादातर बड़े दंगे साठ के दशक के मध्य में पूर्वी भारत के रांची, जमेशदपुर, दुर्गापुर आदि औद्योगिक केन्द्रों पर हुए थे । ऐसी घटनाएँ घटीं कि एक संप्रदाय के मज़दूरों ने दूसरे संप्रदाय के मज़दूरों को लोहे की भट्टी में फेंक दिया । इन दंगों ने मुसलमानों को न केवल निराश किया बल्कि उन्हें अपनी ही खेल में सीमित रहने को विवश किया जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि उत्तर प्रदेश और बिहार से मध्यवर्गीय मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने से मुसलमानों का प्रभाव काफी कमज़ोर हो गया था । गरीब जनता रूढ़िवादी धार्मिक नेताओं के प्रभाव में होती है । इससे उन्हें अनुदार, उग्र धार्मिक मामलों में कट्टर और परिवर्तन के प्रति विमुख समझे जाते थे । इसने हिन्दू सांप्रदायिकतावादियों की मदद की । यद्यपि यह पूर्णतः झूठ नहीं है, लेकिन आरोपों को बढ़ा-चढ़ाकर लगाया गया और इस तरह से दुष्प्रचार किया गया कि मुस्लिमों के प्रति हिन्दुओं का रुख कड़ा होता गया । इसप्रकार दोनों संप्रदायों के अभिजात्य वर्गों की दूरी दिन-प्रतिदिन बढती गई ।

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 112

स्वतन्त्रतापूर्व स्थिति कायम होने लगी । दक्षिणपंथी हिन्दू सांप्रदायिक पार्टी जनसंघ भी मज़बूत हो रही थी । 'पार्टी की ताकत' एण्डरसन और दामले के मुताबिक सन् 1940 से ही आर.एस.एस ने हिन्दी भाषी राज्यों में विशेष तौर पर उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, संघ शासित राज्य दिल्ली व पंजाब के हिन्दू बहुल नगरों में मज़बूत आधार बना चुका था । उत्तर प्रदेश में 1952 और 1957 के संसदीय चुनाव में जनसंघ का वोट प्रतिशत 7.29 से दोगुना होकर 14.89 हो गया । 1957 में जनसंघ ने उत्तर प्रदेश में 86 संसदीय सीटों में से 2 तथा 430 विधानसभा सीटों में से 17 सीटें जीतीं । 1962 में संसदीय प्रतिनिधित्व 7 और विधानसभा में 49 तक बढ़ा लिया । अधिकांश दूसरे राज्यों की तरह जनसंघ ने उत्तर-प्रदेश में भी अपनी शुरुआत शहरी आधार से की, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में आधार बनाने के लिए खूब प्रयास किए ।

1962 में चीन युद्ध और 1965 में पाकिस्तान युद्ध के दौरान भी जनसंघ की लोकप्रियता में बढ़ोत्तरी हुई, क्योंकि इसको कांग्रेस से ज़्यादा राष्ट्रभक्त समझा जाता था । जनसंघ के नेता काफी आश्वस्त थे कि चीन और पाकिस्तान के प्रति उनके कड़े रवैये से उनको लोकप्रियता हासिल हुई। जनसंघ के नेताओं ने इन दो युद्धों के दौरान राष्ट्रभक्ति की भावनाओं को अपने पक्ष में भुनाया । महात्मा गाँधी की हत्या के बाद प्रतिबन्धित इस संगठन को सम्मानित संगठन के रूप में आंका जाने लगा । सम्मान का एक

प्रतीक यह था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को, नई दिल्ली से 1963 में गणतन्त्र दिवस की परेड़ में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया और इसके दो सौ से अधिक स्वयंसेवकों ने पूरी वर्दी व बैण्ड-पार्टी के साथ परेड में हिस्सा लिया ।

जनसंघ फिर मज़बूत होकर 1967 के चुनाव में और जीतें दर्ज कीं। 1967 के आम चुनावों के एक वर्ष पहले हिन्दू विचारधारा के उग्र प्रचारक 'बलराज मधोक' को जनसंघ का अध्यक्ष बनाया गया, जिन्होंने चुनावों के लिए स्थानीय इकाइयों को गठित करने का अभियान तुरन्त छेड़ दिया । मधोक ने पार्टी में और अधिक उग्रता फूँक दी । देश की सामान्य स्थितियाँ भी खराब हो रही थीं, यह आर्थिक गिरावट और औद्योगिक मन्दी का दौर था। लोगों का कांग्रेस से मोहभंग हो रहा था । विपक्षी दलों ने गठजोड करके संयुक्त विधायक दल बनाया । परिणामस्वरूप 1967 के उत्तरप्रदेश के चुनावों में कांग्रेस चुनाव हार गई और चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल ने सरकार बनाई । केन्द्र में भी कांग्रेस की 83 सीटें कम हो गई और केवल 25 सीटों से अपना बहुमत बचा पाई । दूसरी तरफ, जनसंघ ने काफी अच्छा प्रदर्शन किया । संसद में इसकी संख्या 1962 में 14 के मुकाबले 1967 में 35 सीटें हो गई और वोट प्रतिशत 6.44 प्रतिशत से बढ़कर 9.44 प्रतिशत हो गया । इसने 1967 में विधानसभाओं में भी 266 सीटें प्राप्त कीं । यह 1962 में जीती 119 सीटों

1. राम पुनियानी - लोकतांत्रिक भारत या हिन्दू राष्ट्र, पृ. 72

के मुकाबले में दोगुनी थी । 1967 में हिन्दी-भाषी क्षेत्र के अलावा भी जनसंघ ने विधानसभा सीटें जीतीं। बंगाल में (1) आन्ध्रप्रदेश (2) और कर्नाटक में (4) सहित गैर-हिन्दी भाषी क्षेत्रों में कुल 32 विधानसभा व 2 संसदीय सीटें जीतीं ।

साठ के अन्तिम वर्षों में औद्योगिक मन्दी ने बम्बई को बुरी तरह प्रभावित किया । बेरोज़गारी बहुत तेज़ी से बढ़ रही थी, वामपन्थी ट्रेड यूनियनें छंटनी और तालाबन्दी आदि के खिलाफ संघर्ष कर रही थी । मराठी युवाओं में बेरोज़गारी सबसे अधिक थी । शिवसेना जैसी संकीर्ण क्षेत्रवादी पार्टी बनाने के लिए यह अनुकूल समय था । यह कहा जाता है कि एक प्रसिद्ध गैर-माराठी उद्योगपति ने आर्थिक साधन उपलब्ध कराए । शिवसेना ने धमाकेदार शुरुआत की और दक्षिण भारतीय-विरोधी अभियान शुरु कर दिया । फिर कुछ समय बाद मुस्लिम विरोधी प्रचार शुरु कर दिया । कोसा दंगों के दौरान बाल ठाकरे ने भडकाऊ बयान दिए और 1970 के भिवंड़ी और जलगाव के दंगों में उनकी पार्टी ने प्रमुख भूमिका अदा की । बाल ठाकरे के वक्तव्यों ने उन दिनों महाराष्ट्र के सांप्रदायिक तापमान को काफी बढ़ा दिया । शिवसेना के घुआंधार प्रचार व शिव जयन्ती जुलूस निकालने के परिणामस्वरूप 1970 में भिवण्डी और जलगांव आग की चपेट में आ गए ।

भिवण्डी-जलगाव दंगों से पहले अहमदाबाद और गुजरात के अन्य

स्थानों पर भयावह सांप्रदायिक हिंसा हुई । इनके पीछे धार्मिक कारण इतने नहीं थे जितने कि राजनीतिक ।

साठ के दशक के अन्तिम चरण आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से संकट का समय था । 1966 में लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी प्रधानमंत्री बनी । अतुल्य घोष, कामराज, मोरारजी देसाई तथा कांग्रेस के अन्य तथाकथित 'मालिक' सत्ता का कारगर प्रयोग करना चाहते थे । वे सोचते थे कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी को अपनी मर्जी के मुताबिक चला सकेंगे । लेकिन श्रीमती गाँधी ने ऐसे तमाम प्रयासों का प्रतिरोध किया और अपनी तरह से शासन करना चाहा । फलतः सत्ता संघर्ष शुरु हो गया । कांग्रेस के तथाकथित मालिकों के वर्चस्व से बचने के लिए तथा मतदाताओं का समर्थन हासिल करने के लिए श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत के प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया । राष्ट्रीयकृत बैकों को छोटे दूकानदारों रिक्शा चालकों तथा टैक्सी चालकों आदि को भी बिना कोई गांरटी लिए ऋण देने के निर्देश दिए गए । इस कदम से भारत की शोषित-वंचित जनता में उनकी लोकप्रियता बढ़ गई और वे कांग्रेस की सबसे बड़ी नेता बन गई। इस कदम से कई दुष्परिणाम भी निकले। ऐसा प्रचार हो गया था कि उनका झुकाव समाजवाद की ओर है और वे समाजवादी खेमे में जा रही हैं । समाजवाद के विरोधियों ने उनके खिलाफ मोर्चा बना लिया । जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी इकट्ठी हो गई । स्वतन्त्र पार्टी में अधिकांश रियासतों के पूर्व-

राजा और राजकुमार शामिल थे, वो इन्दिरा गांधी से इसलिए नाराज़ थे कि उनके प्रीवीपर्स पर पाबन्दी लगा दी गई थी । श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस पार्टी भी इस गठबंधन में शामिल हो गई । श्रीमती इन्दिरा गांधी अपनी राजनीतिक नींव अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, तथा अल्पसंख्यकों को विशेषकर मुसलमानों में रोपने की कोशिश कर रही थीं । उन्होंने अपनी समाजवादी धर्मनिरपेक्ष छवि प्रस्तुत की जिससे साम्यवादियों का समर्थन भी हासिल हो गया । इस तरह उनकी राजनीतिक हैसियत सुदृढ़ हो गई । तब कांग्रेस, जनतंत्र और स्वतन्त्र पार्टी ने इकट्‌ठे मिलकर उनकी राजनीतिक हैसियत को घटाने की जद्दोजहद की । इस कार्य के लिए सबसे आसान तरीका था सांप्रदायिक सौहार्द को बिगाड़ कर धर्मनिरपेक्ष छवि को कमज़ोर करना ताकि अल्पसंख्यकों अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों का वोट समूह उनसे दूर हो जाए । गुजरात में इसे अन्जाम देना संभव था। गुजरात में हितेन्द्र देसाई के नेतृत्व में कांग्रेस (0) की सरकार थी और राजस्थान के अतिरिक्त स्वतन्त्र पार्टी यहाँ भी शक्तिशाली थी । उस समय गुजरात में जनसंघ इतनी शक्तिशाली नहीं थी, लेकिन वह अपनी स्थिति को सुधारने की कोशिश में थी । जनसंघ के लिए इस राज्य में राजनीतिक विस्तार करने के लिए सांप्रदायिक प्रचार काफी लाभदायक रहा । सितम्बर 1969 के दंगों से एक सप्ताह पहले बलराज मधोक अहमदाबाद गए और उन्होंने गुजरात में कई सभाएँ संबोधित कीं । भारत के हज़ारों मील दूर

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 113

स्थित मस्जिद के लिए शोर-शराबे के बारे में मुसलमानों की आलोचना की उन्होंने यह भी कहा कि यही लोग एक शब्द भी नहीं बोले जब भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान पाकिस्तान ने द्वारका मन्दिर पर हमला किया था। उन्होंने पूछा था कि क्या मुसलमान यह सोचते हैं कि हिन्दुओं की अपने धर्म के लिए कोई भावना नहीं है ।

कुछ और कारण भी इसमें जुड़ गए जैसे जामयत-अल-उलेमा, कांफ्रेस, इसराइल में अल-उक्सा मस्ज़िद पर हमले के विरुद्ध जुलूस आदि। 1962 के जबलपुर दंगों की तरह अहमदाबाद दंगों ने भी पूरे देश को झकझोर दिया । भारत के लोग बहुत ज़रूरी राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों को छोड़कर अचानक सांप्रदायिक समस्या पर विचार विमर्श करने लगे । श्रीमती गाँधी की हैसियत भी कमज़ोर होती प्रतीत हुई । पूरे गुजरात में दंगे फैल गए ।

जयप्रकाश नारायण इससे बहुत अधिक विचलित हुए और उन्होंने महात्मा गाँधी की जन्मशताब्दी के अवसर पर भारत आए खान अब्दुल गफ्फार खान के साथ मिलकर 'इनसानी बिरादरी' नामक संगठन बनाया । सांप्रदायिक तनावपूर्ण माहौल में जनसंघ ने दिसंबर 1969 में पटना अधिवेशन में मुसलमानों का भारतीयकरण नामक प्रस्ताव पारित किया । आगे इस विचार को मज़बूत किया गया कि भारतीय मुसलमान सच्चे भारतीय नहीं हैं

और इन वफादारी से भारत कहीं बाहर हैं ।

1969 के अहमादाबाद और गुजरात के दंगों के बाद 1970 में भिवंडी और जलगाव में दंगे हुए । जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सहायता एवं उकसाने से शिवसेना ने इन दंगों में मुख्य भूमिका निभाई । इस तरह साठ के दशक के अन्तिम चरण में सांप्रदायिक हिंसा का जो घटिया रूप नज़र आया वह पहले कभी देखा नहीं गया था । सत्तर की शुरुआत में सांप्रदायिकता से थोड़ी राहत मिली थी ।

1971 में भारतीय सेना ने ढाका में प्रवेश किया, पाकिस्तानी सेना को हरा दिया और बंग्लादेश का जन्म हुआ । पाकिस्तान को तोड़ने और बंग्लादेश के निर्माण में भूमिका निभाने के कारण श्रीमती इन्दिरा गाँधी की लोकप्रयिता उच्च शिखर पर पहुँच गई । तब उनकी राजनीतिक हैसियत उतनी ही बुलन्द थी जितनी कि साठ के अन्तिम चरण में बैकों के राष्ट्रीयकरण के दौरान हुई थी । सामान्यतः भारतीय मुसलमान पाकिस्तान के टूटने पर खुश नहीं थे, लेकिन उन्होंने अपनी इस नाखुशी को कभी भी व्यक्त नहीं किया और सांप्रदायिक स्थिति शान्तिपूर्ण बनी रही । हालाँकि युद्ध के कारण गिरी हुई आर्थिक हालत के चलते श्रीमती गाँधी की लोकप्रियता अधिक समय तक टिक न सकी । जीने के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी, महंगाई और शीर्ष स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार ने लोगों में रोष उत्पन्न किया और जयप्रकाश

1. राम पुनियानी, लोकतांत्रिक भारत या हिन्दू राष्ट्र, पृ. 75

ने एक बार, फिर, 'काँग्रेस कुशासन' के विरुद्ध लोगें को संगठित करने का नेतृत्व सँभाला । गुजरात में चिमनभाई पटेल की सरकार के विरुद्ध लंबा संघर्ष चला । देश के बहुत भागों में कानून और व्यवस्था की स्थिति खराब हो गई । इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने 1975 में इन्दिरा गाँधी के खिलाफ दायर याचिका पर अपना फैसला सुनाते हुए उनकी संसदीय सदस्यता समाप्त कर दी । जयप्रकाश नारायण ने पुलिस और सशस्त्र सेना से आह्वान किया कि यदि सरकार के आदेश असंवैधानिक हो तो उनका पालन न किया जाए । श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 'इमेरजन्सी' की घोषणा कर दी और संविधान में कई संशोधन किए जिनसे फिर सत्ता प्राप्त कर ली । इमरजेन्सी के दौरान कुल मिलाकर सांप्रदायिक स्थिति नियन्त्रण में रही । इसके कई कारण थे, पहला, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जमात ए. इस्लामी और जनसंघ के सभी नेता गिरफ्तार थे, सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काने वाला कोई नहीं था । दूसरा, पुलिस को सख्त आदेश दिए गए थे कि सांप्रदायिक हिंसा या किसी भी तरह के हिंसक जन-आक्रोश को न होने दिया जाए । तीसरा, निरंकुश शासन के तहत कानून और व्यवस्था को नियन्त्रण में रखना आसान होता है । यह सच है कि ऐसे शासन में सांप्रदायिक या किसी धार्मिक मत के कम से कम कानून-व्यवस्था से जुड़े पहलुओं को बेहतर ढंग से समाप्त किया जा सकता है, विशेषकर तब यदि शासक या प्रशासक का इसमें स्वार्थ निहित न हो तो । उस समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी मुसलमानों का समर्थन

हासिल करने के लिए अपनी धर्मनिरपेक्ष छवि प्रस्तुत करना चाहती थी । लेकिन वे और उनका बेटा संजय गाँधी जिसे मीडिया नें ‘अतिरिक्त संवैधानिक शक्ति” की संज्ञा दी थी, जल्द ही मुसलमानों से अलग-थलग हो गए । पहला समुदाय की इच्छा के विपरीत जबरदस्ती परिवार नियोजन थोपकर और दूसरा दिल्ली में तुर्कमान गेट पर मुसलमानों के मकान जबरदस्ती तुड़वाने की एक कार्य योजना में काफी लोग पुलिस की गोली से मारे गये । इसने श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने मुसलमानों से बिल्कुल अलग कर दिया । 1977 में जब चुनाव हुए तो उत्तर भारत में औरों के साथ श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी बुरी तरह हार गई ।

इस दौरान जयप्रकाश के मार्गदर्शन में बनी जनता पार्टी का जनसंघ में विलय हो गया । इसके नेताओं ने दिल्ली में महात्मा गाँधी की समाधि पर धर्मनिरपेक्षता पर दृढ़ रहने की शपथ ली । मुसलमानों का जनता पार्टी में विश्वास पैदा हुआ । 1977 के चुनावों में जनता पार्टी को मुसलमानों से भारी समर्थन प्राप्त हुआ । दोनों मिलकर मुसलमानों को आश्वस्त कर रहे थे कि जनता पार्टी धर्मनिरपेक्ष नीतियों को अपनाएगी और मुसलमानों के हितों की रक्षा करेगी ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जहाँ हिन्दू राष्ट्र और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद स्थापित करने की रापथ लेता है अन्य संगठन जमात ए इस्लामी धर्मनिरपेक्ष

राजनीति को पूर्णतः खारिज करती है, ये दोनों उस जनता पार्टी को समर्थन देने के लिए तैयार थी, जो उस समय धर्मनिरपेक्षता की शपथ ले रही थी ।

जनसंघ पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अत्यधिक प्रभाव के कारण जनता पार्टी के शासन के दौरान सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक हिंसा में वृद्धि नज़र आई । महात्मा गाँधी की समाधी पर ली गई शपथ महज एक राजनीतिक नाटक था जनसंघ के लिए । "जनता पार्टी शासन के दौरान जमशेदपुर, वारणासी, अलीगढ़ और अन्य स्थानों पर बड़ी संख्या में दंगे हुए जिसमें सैकड़ों निर्दोष मारे गये । इन सभी दंगों में आर एस.एस का सीधा हाथ था । इन दंगों ने एक राजनीतिक संकेत दिया कि जनसंघ अपने को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शिकंजे से मुक्त नहीं कर सकता ।"[1]

इसप्रकार भारत में हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही नहीं, आज भी खतरनाक स्थिति में आगे बढ़ रही है । इसका प्रमाण है 'ब्लू स्टार ऑपरेशन, इन्दिरा गाँधी की हत्या, अयोध्या विवाद और गुजरात का नरसंहार।

पंजाब मसला

सिख अपने को कई कारणों से पीड़ित महसूस करते थे, वे अपनी अलग पहचान चाहते थे । अकाली दल दो भागों में बंट गया था - उग्रवादी

---

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 117-118

और नरम दली । उग्रवादी दल का नेतृत्व भिंड्रांवाले कर रहे थे और नरम दल का लोगोंवाल । इंडियन इंग्लिश के समाचार पत्रों ने सदा यही प्रचार किया है कि संजय गाँधी के सुझाव पर ज्ञानी जैलसिंह ने भिंडरांवाले को 'संत' सिख नेता को रूप में खड़ा किया, 'दल-खालसा' की स्थापना करवायी। ये प्रयत्न मुख्य रूप से अकालियों को परेशान करने के लिए किये गये । अकाली-शासन-काल में भूतपूर्व मुख्यमंत्री ज्ञानी जैलसिंह को परेशान किया गया था । बाद में भिडरांवला अकालियों की सहायता से पूरे देश को चुनौती देने लगा और 'दल खालसा' स्वतन्त्र सिख राज्य की स्थापना की माँग करने लगा । उन दिनों दल खालसा' पर किसी का ध्यान नहीं गया, परन्तु भिडरांवाला लोगों की निगाह में आ गया । उसने निरंकारियों पर हमला किया था । निरंकारियों ने इसका बदला शुरु कर दिया । इसी समय अकालियों ने 1682 में पास किये आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव पर अपना रवैया स्पष्ट करने की माँग की जाने लगी । इस प्रस्ताव के कारण हिन्दुओं के दिलो-दिमाग में खालिस्तान का डर पैठ गया था । 1682 में अकाली दल पंजाब में अपनी सरकार बनाने में सफल हो गया । फलतः 24 अक्तूबर 1682 में लुधियाना की बैठक में आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को नया रूप दिया गया । इस बैठक में अकालियों ने इस बात पर बल दिया कि संविधान के अनुसार भारत राज्यों का संघ है, इसलिए वे पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार के उस ज्ञापन का समर्थन करेंगे कि प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, संचार व्यवस्था और

मुद्रा के विषय केन्द्र के हाथ में रहें, बाकी सारे राज्यों को सौंप दिया जाएँ । यह माँग की गयी कि पंजाबी भाषी क्षेत्र पंजाब के साथ मिला दिया जाय और यह बात दोहरायी गयी कि पंथ का राजनीतिक उद्देश्य 'खालसाजी का बोल बाला' है ।

जनता सरकार के समय अकालियों के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय विकास परिषद में वित्तीय शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का प्रश्न उठाया, परन्तु मोरारजी भाई ने अकालियों के तर्क स्वीकार नहीं किये । अकालियों ने पूरा प्रयत्न किया कि सिखों को मुसलमानों और ईसाइयों के समान अल्पसंख्यक माना जाये, परन्तु यह भी स्वीकार नहीं किया गया । अकालियों ने जोड़-तोड़ की अपनी नीति के अनुसार कांग्रेस के साथ 1980 के चुनावों को लेकर सौदेबाज़ी का भी प्रयत्न किया ।

इस अवधि की उल्लेखनीय बात यह है कि दिसंबर 1986 में जब इंदिरा गांधी ने पी एस भिण्डर की पत्नी के चुनाव अभियान में गुरदारापुर में भाषण दिया तो उसी मंच पर भिडरांवाला भी मौजूद था । निरंकारी प्रमुख गुरुवचन सिंह की हत्या के बाद पुलिस ने जो रिपोर्ट लिखायी उसमें भिडंरावाले का नाम भी था । परन्तु गृहमन्त्री ज्ञानी जैलसिंह ने संसद को बताया कि यद्यपि गृह मंत्रालय की फाइलों में भिंडंरावाले का नाम है, निरंकारी बाबा की हत्या में उसका कोई हाथ नहीं । गुरुद्वारा चुनावों में

भिंड्रांवाले ने दल खालसा और डॉ. जगजीत सिंह चौहान के नेतृत्व में क्रान्तिकारी अकाली दल के साथ गठजोड़कर चालीस उम्मीदवार खड़े किये। यह वही चौहान था जिसने विदेशों में खालिस्तान की माँग उठायी थी और इसी काम में लगा रहा था । परन्तु भिंडरांवाले को केवल चार स्थान ही मिले । चुनावों ने हिन्दू मानस को बहुत प्रभावित किया था और वे इसके परिणामों से इसलिए प्रसन्न थे क्योंकि उनकी धारणा थी कि अकाली दल और जनता पार्टी की मिलीजुली सरकार एक सिख सरकार थी जिसके कार्य काल में अधिकतर महत्वपूर्ण पदों पर सिख अधिकारी नियुक्त हुए थे ।

हिन्दुओं ने समझौते का रास्ता न अपनाया था । पंजाब की मांगों पर अकालियों ने साथ नहीं दिया । हिन्दुओं के समाचार पत्रों में अधिक उग्रवादी लेख आने लगे । दो हिन्दी-उर्दू समाचार पत्रों में यह लिखा गया कि नरम दली, अकाली उग्रवादियों की अपेक्षा अधिक खतरनाक हैं, क्योंकि वे अपने मन की बातें छिपा रखते हैं ।

अकालियों ने 8 सितंबर को श्रीमती गाँधी के हाथों शिकायतें और मांगों की सूची दी । सचमुच धार्मिक मांगें ही सिखों की मागों के रूप में प्रस्तुत की गयी थीं । उनकी राजनीतिक मांगें हमेशा विवादास्पद रही हैं । उनकी सामाजिक शिकायतें सिखों की शिकायतों की तर्ज पर हैं, आर्थिक शिकायतें और मांगें सिख राजनीति व सांप्रदायिक राजनीति का विचित्र

मिश्रण हैं । इनसे सहमत होने में प्रायः राष्ट्रीय चेतना बाधक रहती है ।

निरंकारियों की हत्या के बाद पंजाब में आतंकवाद का दौर लाला जगतनारायण की हत्या के साथ शुरु हुआ । अकालियों ने न इस हत्या की निन्दा की, न उनकी अरथी के साथ किसी अकाली दल नेता ने साथ दिया। बाद में भी जो निरीह व्यक्ति आतंकवादियों के शिकार हुए, उनके प्रति भी अकालियों का रवैया तटस्थता का था ।

पंजाब में जब घृणा और हिंसा की आग भड़क उठी थी तब मुख्यमंत्री दरबारसिंह की उदासीनता और ज्ञानी जैलसिंह के समर्थन ने भिंड्रांवाले की सहायता की । इस दौरान दो रोचक घटनाएँ घटी थीं । दरबारसिंह ने भिड़रावाले की गिरफ्तारी की जानकारी पर हरियाणा के मुख्यमंत्री से वारंट तामील कराने के लिए सहायता माँगी । क्योंकि भिंड्रांवाला उस समय हरियाणा के चन्दूकला में था । लेकिन मुख्यमंत्री को ज्ञानी जैलसिंह का टेलिफोन मिल चुका था कि भिंड्रांवाले को जाने दिया जाये । दिल्ली गुरुद्वारे के प्रमुख संतोख सिंह की हत्या के बाद उनके भोग में सम्मिलित भिंड्रांवाले के पैर जैलसिंह और बूटा सिंह छुए थे । इसका परिणाम यह था कि भिंड्रांवाले के विरुद्ध कार्यवाही नहीं की गयी । भिंड्रांवाले के विवादग्रस्त होने पर यद्यपि ज्ञानी जैलसिंह उससे संबंध

1. कुलदीप नैयर व खुश्वंत सिंह -पंजाव समस्याः ऑपरेशन ब्लूस्टार और उसके बाद, प्रकर-मार्च 15-17

विच्छेद कर लिया लेकिन अकालियों ने उनकी रिहाई की माँग की । गिरफ्तारी से पूर्व बार-बार वारंट किये जाने पर भी पुलिस ने उसे गिरफ्तार नहीं किया, संबद्ध लोगों से हथियार रखवाने और लायसेंस रद्द करने के आदेशों पर भी ध्यान नहीं दिया । पर गिरफ्तारी के बाद सरकार ने बशर्ते भिंडरांवाले को रिहा कर दिया ।

भिंड्रांवाले की गिरफ्तारी के बाद श्रीमती गाँधी के चंडीगढ़ जाने पर उनकी अकालियों से बातचीत हुई थी । बाद में, अकालियों ने ज्ञापन दिया, उसमें शिकायतों के स्थान पर 15 माँगें थीं, जिनमें मुख्य थी नदियों के पानी का फिर से बँटवारा । अबोहर और फाज़िल्का जिलों की कुछ मुख्य माँगों को आगे रखा गया था ।

अकाली पंजाब के सिख व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। बाद की बातचीत में अकालियों ने आकाशवाणी के एक नये चैनल मांग की जिससे शबद और कीर्तन प्रसारित हो । सेना में सिखों की भर्ती की कमी की शिकायत की गई । पानी के बँटवारे का प्रश्न बार-बार बैठक में उठाया जाता रहा । बीच में अकालियों ने यमुना के पानी की भी माँग की । पानी के बँटवारे पर बहुत लंबी बहसें हुई । इन सब में एक मनोवैज्ञानिक बात भी काम करती रही कि अकाली आन्दोलन के ज़रिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर लेते हैं और फिर नया आन्दोलन शुरु करने लगते हैं ।

जब पंजाब में अकाली और भिंड्रांवाले निरन्तर तनाव, हिंसा, घृणा का वातावरण तैयार कर आन्दोलन को चरम सीमा पर ले जाने में सफल हो गये तो प्रवासी सिखों ने प्रभुता संपन्न 'खालिस्तान सिख राज्य' की मांग ज़ोर कर दी । इसका नेतृत्व गंगासिंह झिल्लो (अमरीकी नागरिक) और डॉ. जगजीत सिंह चौहान करते थे । चौहान अपने आन्दोलन के प्रचार के लिए बहुधा पाकिस्तान भी जाया करते थे । विदेशों से भारत लौटते अपने सगी-साथियों के ज़रिए भारत पैसा भेजते थे । कानडा में आते सिखों को 'शरणार्थी प्रमाणपत्र' जारी करते थे । खालिस्तान के टिकट भी जारी किये। ये भारत भी लाये गये । इन माध्यमों से चौहान पैसा इकट्ठा करते रहे। सरकारी सूत्रों को सन्देह हो गया कि चौहान को विदेशी एजेंसी पैसा दे रही हैं । तोहड़ा ने अपनी विदेशी यात्रा में खुले आम कहा कि भारत में सिख राष्ट्र को स्वायत्तता मिलनी चाहिए । इन सबके बावजूद भारत सरकार ने खतरे को पहचानने से इनकार कर दिया। दूसरी ओर अकालियों ने अपने आन्दोलन को 'धर्मयुद्ध' का रूप दे दिया । यह 'धर्मयुद्ध' था निरपराध लोगों की हत्याएँ। जिन लोगों पर हिंसा या हत्या करने का आरोप था, अकालियों ने राज्य भर में घूम-घूमकर उन्हें सरोपे भेंट किये । इसप्रकार सन्त जनरैल सिंह भिंड्रांवाले के समर्थक धर्मान्ध उग्रवादियों ने समूचे राज्य में आतंक का वातावरण पैदा कर दिया था। यह भी सही है कि गुरुद्वारों और पवित्र धार्मिक

1. मनमोहन गुप्त - पंजाब जैसी समस्याओं को रोकने का एकमात्र समाधान - आजकल (अक्तूबर 1988) पृ. 26-27

स्थानों का उग्रवादियों तथा अपराधियों को शरण देने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा था । इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अकाली दल की राजनीतिक और आर्थिक माँगों पर भिंड्रांवाले के संगठन 'दल खालसा' तथा अन्य उग्रवादी संगठनों द्वारा उठायी गई धार्मिक मांगें हावी हो गई थीं । पंजाब की गड़बड़ी के पीछे इंका और अकाली पार्टी दोनों की वोट की राजनीति का बहुत बड़ा हाथ है । इस समय पंजाबी पत्रिका का संपादक रमेशचन्द्र के अन्तिम संपादकीय की इन पंक्तियाँ प्रासंगिक हैं "क्या हमारी सरकार और अकालियों ने कभी यह सोचने का कष्ट किया है कि इस स्थिति के लिए कौन ज़िम्मेदार है ? अकाली इसकेलिए सरकार को ज़िम्मेदार करार देते हैं और सरकार अकालियों को परन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों ही इसकेलिए काफी ज़िम्मेदार हैं । न सरकार ने परिस्थितियों को अनुकूल बनाने केलिए कोई प्रभाव पूर्ण और मज़बूत कदम उठाया है और न ही अकाली नेता दिल से इस रक्तपात के विरुद्ध कुछ करने केलिए तैयार हुए है । सरकार भी वोट गिन रही है और अकाली भी वोट गिने जा रहे हैं ।"[1]

इस वोट की राजनीति ने इन्दिरा गाँधी को मज़बूर कर दिया कि वह या तो पंजाब में अपनी कठपुतली सरकार बनाएँ या हिन्दुओं के वोट पर पूरी तरह से भरोसा करते हुए मैदान में आए। इसके लिए ज़रूरी था कि आन्दोलन को इतना लंबा खींच ले जाए और साथ ही भिंड्रांवाले जैसे

---

1. मनमोहन गुप्त - पंजाब जैसी समस्याओं को रोकने का एकमात्र समाधान - आजकल अक्तूबर 1988, पृ. 30

उग्रवादी तत्वों को आगे बढ़ने का इतना मौका दे दें कि समूचा वातावरण आतंकवाद, धार्मिक उन्माद और सांप्रदायिक विद्वेष से विषाक्त हो उठे । श्रीमती गाँधी देख रही थी कि कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्रा प्रदेश जैसे महत्वपूर्म दक्षिण राज्य हाथ से निकल चुके हैं । नागालैण्ड, मिज़ोराम, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश, असाम जैसे उत्तर पूर्वी राज्यों को इंका खो चुकी है । बंगाल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट जड़ पकड़ी है । सांप्रदायिक आधार पर चुनाव लड़ने के बावजूद जम्मू-कश्मीर में इंका की दाल नहीं गल सकी । पंजाब की स्थिति बेकाबू होती जा रही है । ऐसे में इंका का समूचा आधार सिमट कर उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर भारत के राज्यों तक सीमित रह गया है । अतीत की गलतियों के कारण इन राज्यों में इंका नेहरू युग की तरह मुसलमानों और हरिजनों के वोट पर भरोसा नहीं कर सकती है । ज़ाहिर है कि इन राज्यों में अपने को ज़माना है और केन्द्र में बने रहना है तो हिन्दू वोटों का सहारा लेना ज़रूरी है । पंजाब में सैनिक कार्रवाई से इन्दिरा गाँधी ने अगर सिखों को नाराज़ कर दिया है तो इससे उन्हें थोड़ी भी चिन्ता नहीं है क्योंकि वे जानती हैं कि इससे हिन्दू वोट पंजाब और पंजाब के बाहर भी, पूरी तरह उनकी झोली में गिरेंगे ।

पंजाब के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि इन्दिरा गांधी अपनी साजिश में कामयाब रही है । वे पंजाब में कट्टर हिन्दुओं के संगठन बनाकर सारे राज्य को सांप्रदायिक दलदल में फँसा देना चाहती थीं । रेडियो और

टेलिविज़न से रोज़ राष्ट्रीय एकता के लिए आंसू बहाने वाली श्रीमती गांधी ने राजीव गांधी और पटियाला नरेश अमरिन्दर सिंह को हिन्दू संगठनों के निर्माण में लगा दिया। 15 जुलाई 1983 को जिन पंजाब हिन्दू संगठन के 12 संसदीय प्रतिनिधि मण्डल से भेंट की और संगठन के अध्यक्ष अमरनाथ शर्मा से संगठन के प्रति शुभकामना व्यक्त की । मार्च 1983 को जालन्धर में पंजाब हिन्दू पार्टी नामक संगठन की नींव पडी । उसके अध्यक्ष राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य तथा भाजपा के पूर्व पदाधिकारी थे । इसमें हिन्दू नेता वीरेन्द्र भी था जो इंका के समर्थक था । पार्टी के एक अन्य उपाध्यक्ष पंजाब जनता पार्टी के महासचिव रह चुके थे । इस तरह भाजपा इंका तथा जनता पार्टी के चुने हुए नेताओं ने मिल कर यह पार्टी बनायी थी ।

श्रीमती गाँधी ने अनेक अवसरों पर यह घोषित किया था कि वे अकाली नेताओं के साथ बातचीत के ज़रिए समस्या का समाधान ढूँढना चाहती है लेकिन उनकी करनी और कथनी में बहुत बड़ा अन्तर था । फरवरी में जिस दिन नयी दिल्ली में त्रिपक्षीय वार्ता शुरु हुई उसी दिन हिन्दू सुरक्षा समिति के नेता पवनकुमार शर्मा की गिरफ्तारी कराकर गैर सिखों द्वारा पंजाब बन्द का आह्वान किया गया और हिंसात्मक वारदातें हुईं । इसी के साथ केन्द्र के इशारे पर हरियाणा में मुख्यमंत्री भजन लाल की देख रेख में हरियाणा बन्द हुआ और हिन्दुओं तथा सिखों के बीच जबरदस्त दंगे हुए ।

ज़ाहिर है कि वातचीत का वातावरण बनने नहीं दिया गया । सी.पी. एम के नेता हरकिशन सुरजीत और भाजपा के नेता अटलबिहारी वाजपेयी दोनों को यह कहना पड़ा कि इन्दिरा कांग्रेस समाधान नहीं चाहती है क्योंकि हिन्दुओं और सिखों के बीच तनाव से इसे राजनीतिक लाभ मिलेगा । सरकार की दिलचस्पी इस बात में रही कि अकाली मोर्चा जनता की नज़रों से गिर जाए और बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे, छिड जाएं ताकि राष्ट्रीय अखण्डता के बहाने व्यापक दमनचक्र चलाये जा सकें । दुःख की बात यह है कि सरकार को इसमें कामयाबी मिली ।

अकाली दल के नेता सन्त लोंगावाल ने बार-बार अपनी यह मांग दोहरायी कि खालिस्तान की मांग के स्रोत की जांच की जाए। खालिस्तान की मांग को ऐसे समय सरकार की तरफ से हवा दी गई जब लगता था अकाली दल के साथ कोई कारगर बातचीत हो सकती है । सन्त लोगोंवाल ने लगातार हिन्दू सिख सद्‌भाव का नारा दिया था और हिंसा तथा अहिंसा के सवाल को लेकर भिण्डरांवाले से उनके जबरदस्त मतभेद भी जारी थे । लोगोंवाल ने 3 जून 1984 से असहयोग आन्दोलन की घोषणा की ।

पंजाब का नागरिक प्रशासन टूट रहा था । स्वर्ण मन्दिर में छिपे आतंकवादियों को खदेडने के लिए सेना भेजने के अलावा कोई चारा नहीं

था। श्रीमती गाँधी ने किसी भी वक्तव्य में खुलकर भिंड्रांवाले को उनकी कारगुज़ारियों के विरुद्ध चेतावनी देना तो दूर उसके नाम का उल्लेख तक नहीं किया । उसके बाद सरकार ने श्वेतपत्र प्रकाशित किया कि भिंड्रांवाले के नेतृत्व में स्वतन्त्र खालिस्तान के निर्माण की योजना बनायी गयी थी । इसप्रकार संपूर्ण देश को यह विश्वास दिलाया जा रहा था कि सरकार ने एक बहुत बड़े षड्यंत्र का पर्दाफाश किया है । स्वर्ण मन्दिर में की गयी सैनिक कार्यवाही को 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' नाम दिया गया । स्वर्ण मन्दिर के चारों ओर सेना ने घेरा डाल लिया था । भिण्डरांवाले ही सेना को सिखों के उस पवित्र स्थान में आकर लडने का न्यौता दिया था । सरकार क्या करना चाहती है, इस बारे में आतंकवादियों को तो बहुत कुछ पता था, परन्तु सेना के पास पूरी जानकारी नहीं थी ।

पंजाब का 'गुप्तचर विभाग निष्क्रिय था । भारत सरकार के गुप्तचर विभाग के पास नेता को किलाबन्दी का ब्यौरा देने को कुछ भी नहीं था । पूरी जानकारी और तैयारी के बिना ही 3 जून को स्वर्ण मन्दिर घेर लिया गया । 4 जून प्रात चार बजकर चालीस मिनट पर स्वर्ण मन्दिर में गोलियों की बौछार शुरु हो गयी । 5 जून को सायं चार बजे सैनिक अधिकारियों ने लाउडस्पीकरों से श्रद्धालु और दूसरे लोगों से मन्दिर से बाहर आने की अपील की । बहुत बाहर आ गये, परन्तु बहुतों ने भीतरी भवनों में

1. इन्द्रकुमार गुजराल - अन्धानुकरण -कपटः सांप्रदायिकताः जातिभेद, प्रकर मार्च 85, पृ. 8

शरण ले ली । सायं सात बजे सेना ने फिर गोली चलानी शुरु कर दी । जून रात साढ़े दस बजे कमाण्डों सैनिकों के दो दल मुख्य दरवाज़े से स्वर्ण मन्दिर में घुसे तो पता चला कि उग्रवादियों में से ज़्यादातर मर चुके थे । शेष भयंकर रूप से घायल पड़े थे । इस आतंकवादी मोर्चे को दसवीं गार्द बटालियन ने साफ किया था । सेना के भी बहुत से जवान हताहत हो चुके थे, पर अकाल तख्त दुर्जेय किले के समान खड़ा था ।

अनुमान किया जाता है कि आतंकवादियों ने लगभग सौ श्रद्धालुओं की हत्या कर दी थी जिनमें 35 स्त्रियाँ और दस बच्चे थे । इस स्थिति में भी सेना ने संयम से काम लिया था । कीर्तनवाले स्थान से आतंकवादियों द्वारा गोली चलाने पर भी सेना ने हरमन्दिर साहिब पर गोली नहीं चलायी । यह देखा गया कि परिक्रमा मार्ग पर जो लाशें बिछी पड़ी थीं, उनमें, आतंकवादियों की अपेक्षा सैनिकों की लाशें अधिक थीं । 6 जून को सवेरे टैंकों का प्रयोग किया गया, अकाल तख्त से टैंक भेदी राकेट चलाये गये । इसके बाद जो टैंक लाकर खड़े किये गये तो आतंकवादियों से फिर आत्मसमर्पण करने को कहा गया, लगभग दो सौ आतंकवादियों ने आत्मसमर्पण किया । अकाल तख्त पर मुख्य आक्रमण शाम को शुरु हुआ । टैंकों की भारी तोपों से गोलाबारी के बाद अकाल तख्त पर अधिकार किया जा सका। तहखाने में भिंड्रांवाले व शाहबेग सिंह की लाशें मिली थीं । यहाँ वे सूचियाँ

भी मिली जिनकी गोली मारकर हत्या की गयी थी, कई बोरे चिट्ठियाँ मिलीं जो भारत और विदेशों से आयी थीं ।

राजनीतिक स्तर पर स्थिति इतनी अधिक बिगड़ने दी गयी थी कि सैनिक और प्रशासनिक अधिकारियों को यह विश्वास हो गया था कि इसप्रकार की स्थिति पर नियंत्रण रिज़र्व पुलिस और सीमा सुरक्षा पुलिस की शक्ति के बाहर है । गुप्तचर सेवा तो नितांत निष्क्रिय हो चुकी थी । जो भी हो 'ब्लू स्टार ऑपरेशन' ने सिखों पर गहरा सदमा पहुँचाया । सिख समुदाय बुरी तरह विचलित एवं संत्रस्त हो गए । इसी कारण ऑपरेशन ब्लू स्टार' के बाद इंदिरा जी को सिखों की ओर से कई धमकियाँ मिलने लगीं । इसके बावजूद उन्होंने सिखों को ही अपना अंगरक्षक बनाया और यों सिख समुदाय के प्रति अपना विश्वास भी जताया । 'ब्लू स्टार ऑपरेशन' से ऐसा लगता था कि उग्रवाद पर काबू पाया गया लेकिन वह हकीकत नहीं थी ।

30 अक्तूबर 1984 को उडीसा में अपने भाषण में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने घोषणा की कि "जब तक मेरी सांस चल रही है तब तक मैं सेवा करती रहूँगी और जब भी मेरी जान जायेगी मैं कह सकती हूँ कि मेरे खून का एक-एक कतरा जो मेरे भीतर है, भारत को जीवन देगा और उसे शक्तिशाली बनायेगा । 31 अक्तूबर 1984 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी को ब्रिटिश टेलीविज़न संवाददाता पीटर उत्सीनोव को 9 बजे प्रातः एक साक्षात्कार

देना था । इसके लिए वे अपने कार्यालय जाने निकली । श्रीमती गाँधी जैसे ही फाटक पहुँची उनके अंगरक्षक सत्वन्त सिंह और बेअन्त सिंह अपने बन्दूक से चौबीस गोलियाँ चलायीं । श्रीमती इन्दिरा गांधी के निधन के साथ ही भारत के इतिहास के एक महत्तवपूर्ण अध्याय का अंत हो गया । प्रसिद्ध कवि वेलॉक ने कहा था कि श्रीमती गाँधी का चेहरा सम्राट के आदेश के समान था जिसके सामने सभी तलवारें झुक जाती हैं ।"[1]

जिस समय दिल्ली में यह दुःखद घटना घट रही थी राजीव गांधी कलकत्ता में थे । उन्हें विशेष विमान से दिल्ली लाया गया । कांग्रेस संसदीय दल की आपातकालीन बैठक में उन्हें दल का नेता चुना गया और उसी दिन संध्याकाल में राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जैल सिंह ने उन्हें भारत के प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलायी । राजीव गान्धी ने इस शोक की घड़ी में भी असाधारण धैर्य एवं साहस का परिचय दिया था तथा उसी रात 31 अक्तूबर 1984 राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा- "यह महान दुःख की घड़ी है । आज सबसे बड़ी आवश्यकता अपने सन्तुलन को बनाए रखने की है । हमें इस दुःखद अग्निपरीक्षा में अपने पर तथा अपनी भावनाओं पर सर्वाधिक नियंत्रण रखना है, क्योंकि उत्तेजना हमारे विवेक को ढक लेगी । हमारी प्यारी माँ श्रीमती इन्दिरा गान्धी की आत्मा को इससे कष्ट होगा यदि देश के किसी भाग में हिंसा की वारदातें होंगी । इस क्षण प्रत्येक पग सही दिशा में बढ़ें ।"[1] इसी

1. डॉ. शशिकुमार सिंह - राजीव गाँधी अंतार्राष्ट्रीय व्यक्तित्व, पृ. 21

प्रकार की बात राजीव गान्धी ने 2 अक्तूबर 1984 को नई दिल्ली से राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा था- "जब करोडों भारतीय अपनी प्रिय नेता के दुःखद क्षति पर शोक मना रहे हैं तब कुछ लोग घृणा और हिंसा फैलाकर उनकी (श्रीमती गान्धी) स्मृति पर धब्बे लगा रहे हैं । आगजनी लूट और हिंसा के अपमानजनक कार्य घटित हुए है । यह शीघ्र ही बन्द होना चाहिए... सांप्रदायिक पागलपन हमें नष्ट कर देगा । यह उन सभी चीज़ों को नष्ट कर देगा जिसकेलिए भारत अडिग है । भारत के प्रधानमंत्री के रूप में मैं इसकी आज्ञा न दे सकता हूँ और न दूँगा ही ।"[2] इसके साथ उन्होंने सिख समुदाय पर जो वहशी हमला हुआ उसपर ऐसी ही प्रतिक्रिया ज़ाहिर की थी कि जब एक बड़े पेड गिर जाता है उसके नीचे आए पेड-पौधे एवं गुल्म का सत्यानाश होना जायज है । इंदिरा जी की कत्ल के बाद हिन्दुओं के वहशीपन का खेल शुरु हुआ । कांग्रेस ने उसे रोकने के लिए कोई सक्रिय कार्यवाही नहीं की । इंदिरा जी की हत्या के बाद अगले दिन सिखों की सैकडों गाड़ियों, दूकानें पर ही नहीं लोगों पर भी आग लगा दी गयी । सबसे निर्मम हत्याकाण्ड दिल्ली के त्रिलोकपुरी के ब्लोक -3 कॉलनी में हुई । पुलिस ने भी इस जघन्य हत्याकण्ड को रोकने के लिए कोई सख्त कदम नहीं उठाया । दिल्ली के अलावा कानपुर, इन्दौर, गुडगाव में भी हत्याएँ हुईं । हिन्दू दंगाइयों ने रेलगाड़ी से 26 सिख जनों को घसीटकर हत्या की। इस अमानवीय मारकाट

1. डॉ. शशिकुमार सिंह - राजीव गाँधी अंतारार्राष्ट्रीय व्यक्तित्व, पृ. 22
2. वही पृ. 24

में पच्चीस हज़ार सिखों को बेरहमी से ज़िंदा जलाया गया। यह वहशीपन उनकी पत्नी, बच्चे, व बूढ़ों के सामने हुआ था । कुछ सिखों को तो अपने घरों से बाहर घसीटा गया और निर्ममता से पीटा गया । अनेक स्त्रियों को इस तरह मार पीटकर खत्म किया गया । यह 1947 के विभाजन के वक्त के दंगों की तरह था । 1947 में सिख और हिन्दुओं से भरी रेलगाड़ियाँ पंजाब पहुँची तो पंजाब में सिखों ने मुसलमानों को मारकर और उन्हें पाकिस्तान की ओर खदेड़कर अपना बदला लिया था । लेकिन 1984 में दिल्ली में जहाँ सिख केवल 5 प्रतिशत थे और चूँकि वो अपने ही देश में थे, इसलिए सहने के सिवा उनके पास और कोई चारा नहीं था ।

इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद सिख समुदाय पर जो नृशंस एवं भयंकर आक्रमण हुआ, उसके खिलाफ अभी तक कोई कारगर कार्रवाई सरकार की तरफ से नहीं हुई है । सचमुच ऐसा लगता है कि राजीव गान्धी के इस बयान से सभी सहमत हैं कि एक बड़े पेड़ के गिरने से उसके नीचे आए पेड़-पौधे एवं गुल्म का सत्यानाश होना जायज़ है ।

अयोध्या मसला

भारतीय जनता पार्टी के हिन्तुत्व-अभियान में 1989 के बाद जो तेज़ी आयी है, उसका संबन्ध मुख्यतः ‘रामजन्मभूमि - बाबरी मस्ज़िद विवाद

से माना जाता है, किन्तु उसकी एतिहासिक और प्रेरणामूलक जड़ें भारतीय जनसंघ और पश्चात्वर्ती भाजपा के उन नज़रियों और प्रतिक्रियाओं में हैं जो 'कश्मीर समस्या' के सन्दर्भ में गौरतलब है ।

अयोध्या में बाबरी मस्जिद का ध्वंस तीन बार हुआ था । 1990, 1991, 1992 । इन तीन वर्षों में ध्वंस जारी रहा ।"[1] इतिहास इस बात का साक्षी है कि सन् 1528 में आक्रमणकारी बाबर के सेनापति ने अयोध्या के श्रीराम मन्दिर तोड़ा और उस भूमि और भवन पर अवैध अधिकार किया । मन्दिर तोड़कर उन लोगों ने वहाँ मस्जिद बनवाई । पर 1949 में मस्जिद में चोरी छिपे राम की मूर्ति रख दी गयी । इससे विवाद की प्रकृति में एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया ।

6 दिसंबर 1992 को जिस 'विवादित ढाँचे' का विध्वंस किया गया था, उसे कुछ साल पहले तक बाबरी मस्जिद कहा जाता था । हिन्दू कट्टरपंथियों ने इसको गिराए जाने को यह कहकर उचित बताया है कि यहीं पर राम भगवान पैदा हुए थे । यह दावा किया जाता है कि इसे मुगल हमलावार बाबर ने हिन्दुओं का अपमान करने केलिए बनाया और यह देश केलिए शर्म की प्रतीक है । बाबरी मस्जिद का विध्वंस पूरे देश के लिए घातक था । समाज के एक वर्ग (जिसका ताल्लुक संघ परिवार से है) का

1. मालिनी भट्टाचार्य- अयोध्या कुछ सवाल, पृ. 115

दावा है कि इसने देश के माथे पर लगा एक धब्बा धो दिया है । इसी दिन को 'शौर्य दिवस', 'हिन्दू नवनिर्माण दिवस' आदि नामों से अभिहित किया गया है ।

बाबरी मस्जिद घटनाक्रम

1. राम जन्मभूमि बाबरी मस्ज़िद विवाद 1984 में सामने आया जब विश्व हिन्दू परिषद की धर्म संसद ने सर्व सम्मति से एक संकल्प पारित किया जिसमें भगवान राम के जन्म के स्थान को 'मुक्ति' करने की मांग की गई । यह मामला 1949 से विस्मृत हो गया था । आगे चलकर महंत अवैधनाथ के नेतृत्व में श्री राम-जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ समिति बनाई गई ।

2. इसी वर्ष 25 सितंबर को समिति ने एक प्रदर्शन शुरु किया जो बिहार में सीतामढ़ी से शुरु हुआ । इसका मिशन अयोध्या में मन्दिर को मुक्त करना था । यह प्रदर्शन 7 अक्तूबर 1984 को अयोध्या पहुँचा । एक बहुत बड़े ट्रक में राम और सीता की मूर्तियाँ लाई जा रही थीं और लोग मुख्य रूप से भारत माता की जय का नारा लगा रहे थे ।

3. 1986 में राम जन्मभूमि न्यास द्वारा गठित यज्ञ समिति के कहने पर एक बहुत बड़ा संत सम्मेलन हुआ जिसमें सरकार से माँग की गयी कि वह अयोध्या स्थल का मालिकाना हक अंतरित कर दे ताकि दुनिया का सबसे बड़ा मन्दिर बनाया जा सके । इस बीच मुद्दे को उठाने के लिए बहुत

से अभियान चलाये गये । इसी वर्ष पूजा पर प्रतिबंध हटाने केलिए मुंसिफ के न्यायालय में एक अर्जी दी गई । इस अर्जी को नामंज़ूर किया गया ।

5. 11 फरवरी को फैजाबाद के जिला न्यायाधीश ने मस्जिद के ताले खोलने के लिए आदेश दिए । मुस्लिम समुदाय को नमाज़ अदा करने की अनुमति नहीं दी गई । 'बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी' का गठन किया गया और इसके बाद पूरे देश में मुसलमानों ने शोक मनाया । जिला न्यायाधीश के आदेश के खिलाफ सुन्नी सेंट्रल वकफ बोर्ड ने एक याचिका दायर की ।

6. मार्च 1987 में दिल्ली के बोट क्लब पर भारी संख्या में, मुसलमान जमा हुए जिन्होंने बाबरी मस्जिद, उन्हें सुपुर्द करने की माँग की । हिन्दुओं का एक सम्मेलन अयोध्या में हुआ जिसमें राम जन्मभूमि की मुक्ति की मांग की गई । 1989 में 9 नवंबर को शिलान्यास हुआ और उससे अगले दिन मन्दिर की आधारशिला रखी गई । नींव मस्जिद से 192 फीट दूरी पर खोदी गई । संलग्न संगठनों के आक्रामक अभियान के कारण वातावरण में उत्तेजना आ गई ।

अयोध्या का प्राचीन इतिहास यह बताता है कि वर्तमान अयोध्या महाराज विक्रमादित्य द्वारा बना गया है । मथुरा के समान अयोध्या भी विधर्मी आक्रमणकारियों का आखेट स्थल रहा है । इन आततायियों ने इस

---

1. राम पुनियानी - सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक, पृ. 111

अयोध्यापुरी को बार-बार ध्वस्त किया । उसी क्रम में, बार-बार राम-मन्दिर का जीर्णोद्धार होता रहा । इस सन्दर्भ में सभी धर्माचार्य एकमत हैं - यही स्थान श्रीराम का अवतरण स्थान है । सन् 1528 के पूर्व तक इस राम मन्दिर के संबन्ध में कहीं कोई विवाद नहीं था।

अयोध्या का राम मन्दिर खुद सनातन धर्म का एक ऐसा स्रोत है जो धर्म और राज धर्म का एक सशक्त आधार बन सकता है । धर्म-अधर्म का संघर्ष अनादि काल से चला आ रहा है । उसी धर्म-अधर्म के मध्य की श्रृंखला में, धर्मान्ध बाबर के सेनापति मीर बॉकी ने सन् 1528 में धर्मान्धता के वशीभूत होकर राम मन्दिर के ऊपरी हिस्से को तोड़कर मस्जिद का रूप देने का प्रयास किया । उसके इस अधार्मिक कृत्य के तहत व्यापक स्तर पर धर्म-अधर्म का संघर्ष हुआ ।

महात्मा गाँधी ने भी 17 जुलाई 1937 को 'नवजीवन' में प्रकाशित अपने लेख में लिखा था कि 'मुस्लिम बादशाँह ने अनेक मन्दिरों को तोड़ा-लूटा और फिर उन्हीं स्थानों पर मस्जिदें बनवाईं । ऐसी बनायी गयी मस्जिदें गुलामी के चिह्न हैं । उन गुलामी के चिह्नों को हटा दिया जाये । मुसलमानों को चाहिए कि ऐसे सब स्थानों को हिन्दू समाज को खुशी-खुशी वापस कर दें । हिन्दुओं को भी चाहिए कि यदि मुसलमानों का कोई पूजा घर उनके कब्जें में है तो वे भी खुशदिली के साथ मुसलमानों को वापस कर दें । दोनों तरफ से ऐसा हो जाने से देश में आपसी सच्ची एकता स्थापित होगी ।

लेकिन गान्धी के इस वक्तव्य का मुसलमानों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । राम-जन्मभूमि - बाबरी मस्जिद विवाद का संबन्ध आरंभ से ही राजनीति से रहा है । स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर लंबे अन्तराल तक यह विवाद मुख्यत; न्यायालय से जुड़ा रहा, यद्यपि राजनैतिक हस्तक्षेप समय-समय पर होता रहा । स्वतन्त्र भारत की राजनीति का उद्देश्य आरंभ से ही किसी तरह कुर्सी प्राप्त करना रहा है और आज भी वैसी हालत है । उसी क्रम में कम्यूनिस्ट पार्टी और भारतीय जनता पार्टी के माथे पर, राष्ट्रीय मोर्चा के राजनैतिक मठाधीश श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने अपना दोनों पैर रखते हुए प्रधानमंत्री का पद संभाला और उन्हीं की नीति-अनीति के संरक्षण में श्री मुलायम सिंह यादव, उ. प्र. के मुख्यमंत्री बने ।

विश्व हिन्दू परिषद को भा. ज.पा का बल मिला और सोचने लगा कि अब राममंदिर के निर्माण में कोई दिक्कत नहीं होगी । प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह के दोहरी-तेहरी नीति और उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव की राजनैतिक जड़ता ने 30 अक्तूबर व 2 नवंबर 1990 को 'राम जन्मभूमि' के नाम पर अयोध्या में असंख्य राम-भक्तों की प्राणाहुति दिलवा डाली । उसी क्रम में प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह को भी नीति-अनीति के अन्तर्गत राजनैतिक आहुति देनी पड़ी। लेकिन श्री. मुलायम सिंह यादव अपने राजनैतिक डंडे के ज़ोर पर जमे रहे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मस्जिद को मन्दिर में तब्दील करने के प्रयास शुरु हुए थे । 22-23 दिसंबर, 1949 की रात को मस्जिद में रामलला

की मूर्तियाँ स्थापित करने की कोशिश की गई थीं । 1970 के दशक के अंत और 1980 के दशक के शुरु में समाज का भारी पैमाने पर सांप्रदायीकरण हुआ जिसका लाभ उठाते हुए मुसलमान कट्टरपंथियों ने शाहबानो निर्णय के विरोध में आन्दोलन शुरु कर दिए । वि.हि.प ने मस्जिद के स्थान पर मन्दिर बनाने के लिए मांग करनी शुरु कर दी । मस्जिद में रामलला की मूर्तियाँ लगाने के लिए हिन्दुओं के अवैध प्रवेश से नेहरू बहुत नाराज़ हुए थे । उन्होंने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री को बार बार लिखा कि वहाँ से मूर्तियाँ हटवा दी जाएँ । लेकिन स्थानीय जिलाधीश ने कोई कार्रवाई नही की । बाद में उसने इस्तीफा दे दिया और भाजपा की पूर्ववर्ती पार्टी भारतीय जनसंघ में शामिल हो गया । आगे चलकर वह संसद सदस्य बना । परिसर में ताला लगा रहा और 1986 में उसे हिन्दुओं द्वारा पूजा के लिए खोला गया।

कई जटिल तत्वों के फलस्वरूप इस मामले ने तूल पकड़ा । आपातकाल के बाद इन्दिरा गान्धी का हिन्दू संप्रदायवाद की ओर झुकाव, स्थानीय भाजपा अधिकारियों का सहानुभूतिपूर्ण रवैया और समाज के बढ़ते हुए संप्रदायीकरण ने समस्या को भडकाया । मीनाक्षीपुरम में कुछ दलितों द्वारा इस्लाम धर्म को अपनाने के कारण विश्व हिन्दू परिषद आक्रामक हो गई। वह दो समुदायों में खाई पैदा करने के लिए एक के बाद एक मुद्दा उठाने लगी । आगे चलकर उसने राम जन्मभूमि का मुद्दा पकड़ लिया । हिन्दू कट्टरपंथी राजनीति ने अपना हमला तेज़ कर दिया । उसने सांप्रदायिक राजनीति का ढोल पीटने के लिए शाहबानों की घटना का इस्तेमाल किया ।

इसी बीच सैयद शहाबुद्दीन के नेतृत्व में बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी ने 1987 में गणतंत्र दिवस के बहिष्कार का आह्वान किया । इसकी बहुत आलोचना की गई । इन सब घटनाओं के कारण सांप्रदायिकता बल पकड़ी । वि.हि.प, आर.एस.एस के भडकाऊ प्रचार के कारण इंदौर, रतलाम, मऊ, कोटा, जयपुर व भगलपुर' में भारी पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए । राम जन्मभूमि की आधारशिला वि.हि.प और आर.एस.एस के अभियान के बाद 9 दिसंबर 1987 को रखी गई । इसके बाद लालकृष्ण आडवाणी की रथ यात्रा शुरु हुई जिसके फलस्वरूप अंततः 6 दिसंबर, 1992 को कार सेवकों ने मस्जिद को ध्वस्त कर दिया और देश के धर्मनिरपेक्ष इतिहास को भारी धक्का लगी ।

अयोध्या ने हिन्दू दक्षिणपंथियों, संघ परिवार और भाजपा की सांप्रदायिक राजनीति को आगे बढ़ाने में बड़ी भूमिका अदा की है । इन पार्टियों ने "बहुसंख्यक समुदाय के एक वर्ग से राजनीतिक लाभ उठाने के लिए इस मुद्दे को उठाया है । उसने इस समुदाय को यह बताया है कि इतिहास ने उनके साथ बहुत अन्याय किया है । भारत में आम मतदाताओं की भावनाएँ उकसाने के लिए उसने धार्मिक प्रतीकों का दुरुपयोग किया है। साथ ही उसने उन लोगों में परायेपन की भावना पैदा की है जो अभी तक सांप्रदायिक सद्भाव तथा मित्रता के साथ रह रहे थे ।"[1]

---

1. राम पुनियानी - सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक , पृ. 122

1990 में भाजपा का मुख्य चुनावी मुद्दा अयोध्या में मंदिर की माँग थी । धर्म और राजनीति की मिलीभगत के लिए भाजपा को 'पुरस्कार' भी मिला । उसने संसद में 118 सीटें जीतीं और वह मुख्य विरोधी दल के रूप में उभरी । वह उत्तर प्रदेश के चार राज्यों-उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में सत्ता में आयी । दूसरे राज्यों में भी उसका प्रतिनिधित्व साबित हो गया । पहले हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग जैसी धार्मिक पार्टियाँ धर्मनिरपेक्ष राजत्व के दायरे में काम करती थीं । फिर राजनीतिक लाभ के लिए धर्म का इस्तेमाल करने लगीं । संघ परिवार ने हिन्दू एवं हिन्दू धर्म पर मुसलमानों के हमले की बात हिन्दुओं के दिलो दिमाग में गहराई से रोप दी । इसप्रकार अयोध्या हिन्दू एकता के निर्माण और मुस्लिम अन्याय का बदला लेने का प्रतीक बन गया । इस दोहरे अर्थ के प्रभावी संप्रेषण के कारण हिन्दुत्व को आगे बढ़ने का अवसर मिला । विध्वंस के बाद मलबा सरयू नदी में फेंक दिया गया । विधानसभा चुनावों में प्रारंभिक झटके के बाद भाजपा की चुनावी ताकत बढ़ गई ।

सन् 2014 के लोक-सभा चुनाव में धर्म और राजनीति के सुनियोजित रूपायन के कारण भाजपा अभूतपूर्व जीत हासिल करने में सफल हुई । इस जीत के परिप्रेक्ष्य में कांग्रेस के भ्रष्टाचार एवं महंगाई भी कारगर भूमिका निभाई थी । भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक विचारधारा की धार कितनी गहरी है, इसका सबूत है यह ऐतिहासिक जीत ।

गुजरात का नरसंहार

27 फरवरी 2002 की सुबह गोधरा में कारसेवकों को जलाए जाने के बाद मार्च से जून 2002 तक हुए हत्याकाण्ड एवं विकराल घटनाओं ने वहशीपन की सभी सीमाओं को लाँघ दिया था । नृशंस घटनाएँ 1984 के सिख विरोधी दंगों की याद दिलाई जो जनतंत्र राष्ट्र के लिए शर्म की बात थी।

जब से सांप्रदायिकता सत्ता प्राप्ति का आधार बन गयी तभी से सत्ता ने भी सांप्रदायिक ताकतों को और ताकतवार बना दिया । सत्ता में आने और सत्ता प्राप्ति के पश्चात उसे बनाए रखने के लिए, सांप्रदायिक विद्वेष का सहारा लिया जाना सामान्य बात हो गई । गुजरात दंगों के पीछे कहीं न कहीं राजनीतिक वर्चस्व का हाथ रहा है । इस हत्याकाण्ड के पीछे लोगों ने जिस तरह की अमानवीयता दिखाई उसकी अन्यत्र कोई मिसाल आधुनिक भारत में देखने को नहीं मिलती । सबसे निन्दनीय बात यह है कि मुसलमानों पर हमले के पीछे सरकार की परोक्ष प्रेरणा रही थी । इस हत्याकाण्ड की रोकथाम के लिए किसी तरफ से कारगर कार्रवाई नहीं हुई । पूरा हत्याकाण्ड ऐसे प्रदेश में हुआ जहाँ भाजपा कई वर्षों से सत्ता में रही थी और जिसके शासन में सांप्रदायिक राजनीति के हिमायतियों की वरीयता थी। सभी तथाकथित महान राजनीतिज्ञों ने अपने कार्यकर्ताओं को इसके औचित्य को समझा दिया । गुजरात के सांप्रदायिक दंगों के मूल में कूट राजनीति

शामिल थी, सत्ता प्राप्ति का खेल था, इससे कोई भी समझदार आदमी इन्कार नहीं कर सकता ।

गुजरात की यह हिंसा राज्य के मुख्यमंत्री के योग्य पर्यवेक्षण में घटित हुई । सभी कार्यकर्ता आर.एस.एस के थे । ये सभी हिन्दुत्व और हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा से सरोबार थे । वे अल्पसंख्यकों के खिलाफ मिथकों को अपने मन में बसाये हुए थे । इसलिए संघ के कई नेताओं ने हिंसा को उचित बताया लेकिन इसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति विहिप महासचिव प्रवीण तेगाडिया ने की- "स्वतंत्र भारत के इतिहास में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ । हिन्दू समाज गोधरा हत्याओं का बदला देगा । मुसलमान इस बात को समझ लें कि हिन्दुओं ने चूड़ियाँ नहीं पहन रखी है । हम ऐसी सभी घटनाओं का मुँहतोड़ जवाब देंगे।"[1] गुजरात में जो हिंसा हुई वह मुसलमानों को डराने धमकाने या आतंकित करने केलिए नहीं थी । एक तरह के साडिसम' का नया रूप था । वाजपेयी ने गुजरात के नरसंहार का स्पष्टीकरण करते हुए उसका दोष मुसलमानों पर लगाया था- "दुनिया में जहाँ कहीं भी मुसलमान है वहीं पर दंगे होते हैं ... इस्लाम का मतलब है आतंक और भय के ज़रिए अपना विचार थोपना ।"[2] नरसंहार का दोष लगाते हुए उन्होंने बताया था "मुसलमान उकसाते हैं और फिर हिन्दू।"[3] आर.एस.एस योद्धा के रूप में अपनी भूमिका उन्होंने यह कहते हुए पूरी की कि गुजरात में जो कुछ हुआ उसकी निन्दा की जानी चाहिए ।

---

1. राम पुनियानी, सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक , पृ. 253
2. वही - पृ. 254
3. वही - पृ. 254

गुजरात के नरसंहार में स्त्री विरोधी हिंसा का सबसे वहशी रूप नज़र आया था । "स्त्री का शरीर अनंत हिंसा का निशाना बन गया । उसे पीड़ा देने के लिए तरह-तरह के नए नए तरीके अपनाए गए । उनके गुप्तांगों पर बहशी तरीके से आक्रमण किया गया । उनके जन्मे-अजन्मे बच्चों पर हमला करके उनके सामने ही कत्ल कर दिया गया ।... गुजरात में बलात्कार करनेवाली भीड़ कभी खाकी निक्कर तो कभी भगवा कच्छा पहनकर आई। बलात्कार एक धार्मिक कर्तव्य - एक संघ कर्तव्य माना गया ।"[1]

गुजरात हिंसा, 'गोधरा का बदला के तौर पर घटित किया गया था। इस से संघ राजनीति को मान्यता एवं सही लाभ हासिल हुए । यानी आडवाणी की रथ यात्रा और बाबरी मस्जिद के विध्वंस एवं गुजरात की सांप्रदायिक हिंसा से भाजपा का वोट बैंक मज़बूत बना । भाजपा केन्द्र में सत्ता में आई । मतलब गोधरा एवं गुजरात हिंसा को भाजपा के चुनावी हरकतों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है । सभी कार्रवाईयों से यह बात बिलकुल साफ हो गई थी कि भाजपा की संभावनाओं को बेहतर बनाने के लिए यह नरसंहार ज़रूरी था । नागरिक समाज का संप्रदायीकरण करने के लिए इस तरह के प्रचार किए गए उन्हें सबक सिखाना ज़रूरी है । "इतिहास इसका साक्षी है कि धर्म पर आधारित राष्ट्रवाद के लिए दंगे बहुत बड़े हथियार साबित होते हैं । गुजरात को धीरे-धीरे संघ ने हिन्दू राष्ट्र की प्रयोगशाला बनायी ।"[2]

---

1. राम पुनियानी, सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक , पृ. 255
2. वही - पृ. 262

गुजरात हिंसा और उसके पीछे कार्यरत सांप्रदायिक राजनीति अब तक भारत में हुए दूसरे दंगों और नरसंहार से भिन्न है । अधिकांश जांच आयोगों की रिपोर्टों के अनुसार यह हिंसा की योजना आर.एस.एस एवं उसके सहयोगी शिवसेना ने बनायी । भाजपा ने इसका साथ दिया । इन ताकतों ने पूरे समाज को हिन्दुत्व के तहत जमा करना चाहा । भाजपा के सत्तारूढ होने के कारण उन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली ।

कश्मीर मसला और उसकी बढ़ोत्तरी में सांप्रदायिक संगठनों की भूमिका

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भी कश्मीर अशांति से सुलगता रहा है । सन् 1947-48 तथा 1965 में कश्मीर को हथियाने में असफल हो जाने के बाद पाकिस्तान ने सन् 1989 में जो परोक्ष युद्ध शुरु किया, वह आज भी जारी है । मई-जून 1999 में कारगिल में मुजाहिदों के साथ अपनी नियमित सेना का भी प्रयोग करके प्रत्यक्ष युद्ध का रूप दे दिया । भारतीय सेना एक बार तो अवाक् रह गई, लेकिन उसने शत्रु को बूरी तरह परास्त कर दिया । पाकिस्तान कश्मीर को भारत से अलग करके अपने हिस्सा बनाना चाहता है, लेकिन भारत ऐसा कभी नहीं होने देगा ।

कश्मीर में एक तरह की राष्ट्रीय चेतना उभर आई है । कश्मीर का अपना संविधान है । वह और भारत का संविधान एक दूसरे के पूरक है । लेकिन भारतीय संविधान को पूरे देश में अमल करनेवालों को कश्मीर का अलग संविधान पर रास नहीं आया । इससे कश्मीर का 'राष्ट्रबोध' और

अधिक ज़ोर बना होगा । जहाँ देश के अन्य हिस्सों के अलगाववादी आन्दोलनों को अधिकांश जनता का समर्थन नहीं रहा है, वहीं कश्मीर घाटी में भारत से आज़ादी के सवाल पर अब लगभग सर्वसम्मति प्राप्त प्रतीत होती है । भारत और पाकिस्तान को लेकर जुनून की स्थिति में है । कश्मीर की समस्या मूल रूप में हिन्दू-मुस्लिम समस्या नहीं है । सांप्रदायिक तत्वों ने स्वार्थ सिद्धि के लिए इसे हिन्दू-मुस्लिम समस्या का रंग दे दिया है । कश्मीरी पण्डितों का विस्थापन कश्मीर से तब हुआ जब इस समस्या को पूर्णतया सांप्रदायिक रंग दिया गया था ।

"पाकिस्तान में कश्मीर को ले कर ऐसा उन्माद पैदा होने की परिस्थितियाँ तैयार करने में भारत भी अंशतः ज़िम्मेदार है । पाकिस्तान शुरु से ही कश्मीर को अपना हिस्सा बनाना चाहता रहा है । एक समय तो मुहम्मद अली जिन्ना ने घोषणा तक कर दी थी कि कश्मीर मेरी जेब में है ।"[1] पाकिस्तान के कश्मीर लगाव का एक मुख्य कारण यह है कि कश्मीर भारत का एकमात्र राज्य है, जहाँ मुसलमानों का बहुमत है और वह पाकिस्तान की सीमा से सटा हुआ है । यदि भारत विभाजन पर जनमत-संग्रह हो गया होता और रियासतों की भी राय ले ली जाती, तो सब कुछ साफ-साफ तय हो जाता और भारत-पाकिस्तान के बीच विद्वेष का कोई कारण नहीं रह जाता। लेकिन सब कुछ साजिश के माहौल में हुआ ।

---

1. राज किशोर - कश्मीर का भविष्य - पृ. 159

भारत-पाक तनाव बढ़ाने के पीछे दो मुख्य कारण हैं । एक तो कश्मीर ही है । यदि अनुकूल परिस्थितियों में जनमत संग्रह करा कर भारत ने कश्मीर की स्थिति स्पष्ट कर दी होती, तो पाकिस्तान का कश्मीर मोह समाप्त हो जाता । लेकिन कश्मीर स्थिति की अस्पष्टता लगातार बने रहने के कारण पाकिस्तान की कश्मीर आशा कभी खत्म नहीं हुई । भारत पाकिस्तान के बीच तनाव बढ़ने का दूसरा कारण वे परिस्थितियाँ हैं जिनकी वजह से बँगलादेश की स्थापना हुई ।

बँगलादेश में पाकिस्तानी सेना द्वारा जाति संहार निश्चय ही बहुत बड़ी आक्रामक घटना थी । बँगलादेश के निर्माण में भारत की जो भूमिका रही उससे भारत-पाकिस्तान की दूरी और बढ़ गई । पंजाब और कश्मीर के उग्रवाद में पाकिस्तान का सहयोग निश्चित रूप से पाकिस्तान की प्रतिरोध भावना से उद्भूत है । श्री नरेन्द्र मोहन के विचार में "कश्मीर की समस्या द्विराष्ट्रवाद की ही है । कश्मीर में उम्मीद की किरण देखने में महात्मा गान्धी के पास एक अच्छी वजह थी । 1947 के भीषण दंगों में कश्मीर ने अपने दामन में खून के दाग नहीं लगने दिया ।"[1]

यह सच है कि राजनीतिक पार्टियाँ वोट बटोरने के लिए जातिवाद और सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती आयी है। 1983 के जम्मू-कश्मीर चुनावों में कांग्रेस को जिताने के लिए श्रीमती इंदिरा गाँन्धी ने

1. महेशचन्द्र शर्मा - बँटवारा नहीं, पृ. 47

सांप्रदायिकता की बू से लैस भाषण दिए थे । उन्होंने घाटी में जो कुछ कहा था, जम्मू में उससे अलग कहा था । उन्होंने जम्मू में हिन्दू भावनाओं को सहलाया । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकताओं ने उन सीटों पर कांग्रेस की जीत के लिए काम किया, जिनपर भारतीय जनता पार्टी का दावा था । फारुख अब्दुल्ला के बजाय मीर वाइज़ से गठबंधन किया, जबकि मीर नेशनल कांफ्रेस और इसके नेता फारुख अब्दुल्ला का परंपरागत विरोधी था। इस तरह तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों ने चुनावों में चंद सीटें अधिक जीतने के लिए खुले आम और बेशर्मी से सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया ।

कश्मीर में इन अवसरवादी नीतियों ने अन्ततः सशस्त्र विद्रोह को जन्म दिया । कश्मीर में पहले से ही हिन्दू पण्डितों और मुसलमानों का आपसी अनबन रहा है । आर्थिक राजनीतिक शिकायतें जल्द ही धार्मिक रूप धारण कर लेती है । धाटी में पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवाद तथा आन्तरिक विद्रोह के कारण लगभग ढाई लाख कश्मीरी बेघर हो गये हैं । इनमें अधिकतर हिन्दू हैं । इन घरेलू शरणार्थियों में काफी संख्या तक मुसलमान भी हैं । पाकिस्तान की आई.एस.आई के हथियारों की अपूर्ति और प्रशिक्षण की भूमिका रही है, लेकिन कोई इससे इन्कार नहीं कर सकता कि कश्मीरी मुसलमानों की समस्याओं को जल्द ही धार्मिक और जातीय भेद-भाव के रूप में देखा गया । इसलिए धार्मिक और जातीय पहचान की भावना

1. असगर अली इंजिनीयर - सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, पृ. 117

तीव्र हुई । उग्रवादियों ने कश्मीरी हिन्दुओं को घाटी से बाहर निकाल दिया, जो सद्भाव से रहते आये थे । कश्मीर में उग्रवादी सही अर्थ में मुस्लिम कट्टरवाद के प्रतिनिधि हैं । उनका उद्देश्य इस्लाम की एकता की भावना को फैलाना नहीं, बल्कि पूर्व नियोजित ढंग से अपने प्रभुत्व का विस्तार करना है । जर्मनी में आर्यों की नस्ल की शुद्धता का प्रयोग करते हुए फासिसम को लाने का जो प्रयत्न किया गया था, वैसे ही इस्लाम धर्म के आधार पर देश बनाना ही उनका लक्ष्य है । इसलिए उन्होंने घाटी में आतंक फैलाकर गैर मुसलमानों को वहाँ से बाहर निकाल दिया जो उनके दिखाए मार्ग पर चलने को तैयार नहीं थे ।

उग्रवादी शुद्ध इस्लामिक समाज बनाना चाहते हैं । यहाँ तक कि वे बन्दूक की नोक पर ड्रेस कोड' और इस्लामिक नियमों को जबरदस्ती लागू कर रहे हैं । भारतीय सेना ने भी मानवाधिकारों का हनन किया जिससे जम्मू कश्मीर जनता में अलगाव की भावना और गहरी हो गई । अभी तक इस समस्या का कोई आसान हल दिखाई नहीं दे रहा है । इसके साथ ही पण्डितों को घाटी में वापस लाना भी मुश्किल है ।

कश्मीर मस्ला पाकिस्तान पर जुनून की तरह हावी है और इसे भारत-पाक संबन्धों की रीढ़ समझा जाता है । भारत भी कश्मीर को किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहता । इसके लिए वह दृढ़ संकल्प है । कश्मीर संकट धर्म निरपेक्षता की भावना के लिए भी बहुत बड़ी चुनौती है जो

आधुनिक भारत का आधार समझा जाता है । यदि कश्मीर में इसे खत्म किया जाय तो शेष भारत पर इसका गहरा प्रभाव पडेगा और भारतीय मुसलमानों की बहुत दुर्दशा होगी । हिन्दू कट्टरवाद और मज़बूत होगा । कश्मीर में बहुत मवाद जमा हो गया है । यह मवाद साफ करना ज़रूरी है। अन्यथा कश्मीर अपने और भारत के लिए लगातार एक रिसता हुआ घाव बना रहेगा ।

स्वतन्त्रतापूर्व एवं बाद में सांप्रदायिकता तथा सांप्रदायिक राजनीति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इससे धर्म एवं संस्कृति उत्पन्न नहीं होती । राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवसाय में सक्रिय गैर धार्मिक एवं गैर सांस्कृतिक शक्तियाँ इसके प्रचार तथा विकास के लिए अधिक उत्तरदायी हैं। शासक वर्ग अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों की सुरक्षा की खातिर जनता को बांटता है, इसके लिए सांप्रदायिकता का इस्तेमाल भी करता है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही राजनीतिक दल अपने समर्थन के आधारों को विकसित करने के लिए धर्म, समुदाय, जाति तथा क्षेत्र का इस्तेमाल करते आए हैं। भारत में पिछले कई दशकों के अनुभवों से स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता लोगों की अशिक्षा, उनके परंपरावादी होने तथा धर्म से जुड़े रहने के कारण नहीं है । धर्म का गलत इस्तेमाल ही सांप्रदायिकता है । किसी एक धार्मिक, समुदाय से संबन्धित होना या उसके मूल्यों के अनुसार जीवन व्यतीत करना सांप्रदायिकता नहीं है । दूसरे समुदायों तथा राष्ट्र के विरुद्ध धार्मिक भावनाओं

का गलत इस्तेमाल ही सांप्रदायिकता है । सांप्रदायिकता का काला धुआँ सबसे पहले और सबसे ज़्यादा आम आदमी की आँखों में घुसता है । धार्मिक उन्माद को भड़काने वाले-चाहे वे राजनीतिज्ञ हो या धार्मिक, अवाम को ही अपना मोहरा बनाता है । सांप्रदायिक तनाव में इसी का सामाजिक ढाँचा चरमराता है । सांप्रदायिकता की त्रासद अभिव्यक्ति सांप्रदायिक हिंसा व दंगों के रूप में होती है । समाज में फैली इस कोढ़ से बदत्तर बीमारी के खिलाफ आवाज़ उठाना रचनाकारों ने अपना कर्तव्य समझा है और कहानीकारों ने अपनी सशक्त रचनाओं के माध्यम से इसका खुलासा करके जनता को जगाने का महत्वपूर्ण कार्य भी किया है ।

❖ ❖ ❖

तीसरा अध्याय

स्वतन्त्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर युग की कहानी में सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति

स्वतंत्रतापूर्व कहानी

हिन्दी के हर युग के कहानीकार सांप्रदायिकता के खिलाफ अपनी आवाज़ बुलन्द की है । स्वतन्त्रता के पहले यानी ब्रिटिश राज के दौरान, अपनी सत्ता को बरकरार रखने के लिए सत्ता ने किस प्रकार सांप्रदायिकता को ज़रिया बनाया था, इस हकीकत से हिन्दी के कहानीकार बेहद वाकिफ थे। इसलिए उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से सत्ता की पोल खोलने की कोशिश की थी । सामाजिक ज़िन्दगी के हर आयामों को बारीकी से प्रस्तुत करते हुए लोगों को समझाने एवं जागृत करने की जद्दोजहद हुई थी । इतना ही नहीं, हिन्दू-मुस्लिम जनता में सहयोग, सद्‌भावना एवं प्रेम बढ़ाने का श्रम भी अपनी सर्जनात्मकता के ज़रिए जबरदस्त किया गया था । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी सत्ता की तरफ से सांप्रदायिकता को टूल बनाने की जब भी कोशिश हुई, हिन्दी के कहानीकारों ने इसके खिलाफ अपने माध्यम को एक कारगर हथियार के रूप में इस्तेमाल किया था । इसका वांछित परिणाम भी निकला था ।

स्वतन्त्रता के पूर्व सांप्रदायिकता के खिलाफ लिखनेवाले कहानीकारों के अगुआ रहे थे प्रेमचंद । प्रेमचंद की कई कहानियाँ सांप्रदायिकता के खिलाफ लिखी गई महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं । इसके साथ उन्होंने विधर्मियों के बीच सद्‌भाव बढ़ाने का महान् कार्य भी किया था । आगे हम उनकी इन कहानियों पर विस्तार से बहस करेंगे ।

प्रेमचंद की कहानी

'पंच परमेश्वर' सांप्रदायिक एकता की कहानी है । इसमें मुस्लिम जनजीवन का अंकन करके वे जातीय सद्भाव को विकसित करते दिखाई देते हैं । ग्रामीण जीवन की निश्छलता स्वाभाविकता, न्याय तथा त्याग भावना को प्रस्तुत करने की कोशिश भी हुई है । कहानी के पात्र धर्म के सीमित दायरे से मुक्त है । वे अपने धर्म के साथ-साथ दूसरे धर्मावलंबियों को मान व सम्मान की दर्जा देते हैं । स्वतन्त्रता के बाद जिस पंचायती राज की परिकल्पना व नियोजना हुई थी उसकी झलक इस कहानी में है । 'गाँव' को महात्मा गाँधी ने भी आदर्श स्वप्न के रूप में देखा था । यह कहानी हिन्दू-मुसलमान के आपसी स्नेह और सौहार्द की दास्तान है ।

इस कहानी में हिन्दू का पंचायती राज मुसलमान करता है व मुसलमान का हिन्दू । दोनों एक दूसरे के भाग्य का फैसला करता है । कहानी का पात्र जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता है । एक को दूसरे पर अटल विश्वास भी। जुम्मन की एक मौसी बूढ़ी खाला के पास जिसका कोई निकट संबन्धी न था, थोड़ी सी मिल्कियत थी, जुम्मन ने बड़े-बड़े वायदे करके अपने नाम लिखवा दी । लेकिन रजिस्ट्री होने के बाद उनका आदर सत्कार नफरत और घृणा में बदल गए । खाला ने पंचायत करने की धमकी दी । न्याय के तख्त पर बैठने के लिए बुढ़िया ने आमंत्रित किया-जुम्मन के गहरे दोस्त अलगू को । वह अपनी मित्रता को बिगाड़ना नहीं चाहता था । इसलिए उसने पहले इनकार किया । लेकिन बुढ़िया की

एक बात उसके दिल में खटकी: 'बेटा, क्या बिगाड़ की, डर से ईमान की बात न कहोग?"[1] यह सुनकर अलगू सचेत हो जाता है ।

जब अलगू चौधरी को सरपंच बनाने की बात आयी तो उसने फिर मित्रता की बात छेड़ी । खाला ने गंभीर स्वर में कहा - बेटा, दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता । पंच के दिल में खुदा बसता है । पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ से निकलती है । दोस्ती अपनी जगह, ईमान दायित्व अपनी जगह । दोस्ती के लिए हमें अपने ईमान दाँव पर नहीं लगाना चाहिए ।"[2] यह कहानी इस भावुकता और भोले विश्वास को प्रकट करती है कि पंच की जबान पर ईश्वर का वास होता है। पंच न किसी का दुश्मन होता है और न दोस्त । जब खाला जुम्मन को पंचायत की धमकी देती है तो जुम्मन खुश होता है - 'जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ देखकर मन ही मन हँसता है।"[3]...

प्रेमचंद चाहते हैं कि सारे देश की जनता अपना द्वेष भूलकर मित्र बनकर गले लगाएँ । न्याय का महत्व किसी भी संप्रदाय से महत्वपूर्ण है । गाँव में कपट की राजनीति नहीं चलती । इस कहानी में प्रेमचंद राजनीतिक स्वार्थ को त्यागकर, आपस में मिलकर देश को तबाही से बचाने का सन्देश देते हैं । कहानी के हिन्दू और मुसलमान पात्र धर्मसंप्रदाय के संकुचित दायरे

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड 2. पृ. 34
2. वही - पृ. 37
3. वही - पृ. 37

से मुक्त हैं । वे अपने-अपने धर्म पर पूर्ण आस्था रखते हुए, दूसरे धर्म और धर्मावलंबियों को आदर की दृष्टि से देखते हैं । उनका यथोचित सम्मान करते हैं । हिन्दू और मुसलमान मिलकर रहते हुए किस प्रकार एक दूसरे की सहायता करते हैं, इसका सही चित्रण भी कहानी में हुआ है ।

प्रेमचंद की सांप्रदायिकता से संबन्धित दूसरी कहानी है **'हिंसा परमो धर्मः'**। यह सांप्रदायिक उन्माद का पर्दाफाश और सद्‌भाव को उजागर करती है । कहानी का मुख्य पात्र है 'जामिद'। वह दूसरों का भला सोचता ही नहीं, करता भी है । किसी गरीब पर अत्याचार होते देखकर चुप रहना जामिद के लिए नामुमकिन है । कहानीकार ने शहर पहुँचे जामिद के ज़रिए धर्म के मिथ्या प्रदर्शन पर करारा व्यंग्य किया है - "शहर में मन्दिरों और मस्जिदों की संख्या अगर मकानों से अधिक न थीं, तो कम भी नहीं । देहात में न कोई मस्जिद थी, न कोई मन्दिर । मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज़ पढ़ लेते थे । हिन्दू एक वृक्ष के नीचे पानी चढ़ा दिया करते थे । नगर में धर्म का यह माहात्म्य देखकर जामिद को बड़ा कुतूहल और आनन्द हुआ। उसकी दृष्टि में मजहब का जितना सम्मान था, उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं।"[1] जामिद यह देखकर सोचने लगा कि यह लोग कितने ईमान के पक्के और सत्यवादी हैं । लेकिन शीघ्र ही उसे वास्तविक स्थिति का पता चलता है । उसने जल्दी हो समझ लिया कि यहाँ कोई

---

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड 2. पृ. 51

इनसान नहीं है बल्कि हिन्दू और मुसलमान ही मौजूद हैं । दोनों धर्म के नाम पर एक दूसरे का गला घोंटने एवं स्त्रियों का अपहरण करने के लिए बेताब हैं । एक दूसरे के प्रति अविश्वास और घृणा के कारण अनेकों की जानें चली जाती हैं और अनेक स्त्रियों की इज्ज़त भी धूल में मिल जाती है ।

एक दिन जामिद ने देखा कि मन्दिर में काफी गन्दगी है । वह अपने ही कपड़ों से उसे साफ करने लगा । हिन्दू कट्टरपंथियों ने उसकी उदारता देखकर उसे हिन्दू बना लिया । जामिद को मात्र एक ही ईश्वर दिखता था । इसलिए हिन्दू बनने से उसने कोई आपत्ति महसूस नहीं की । एक बार जामिद ने देखा एक तिलकधारी युवक एक बूढ़े मुसलमान को पीटता है । उसकी मुर्गी तिलकधारी युवक के घर में घुस गई थी । जामिद ने पहले युवक को समझाया, पर जब युवक ने बूढे पर अत्याचार जारी रखा तो जामिद ने उसकी गर्दन पकड़ ली । युवक गिर गया । तब तक मन्दिर में तमाशा देख रहे भक्त लपक पड़े और जामिद को चारों तरफ से मारने लगे। जामिद की समझ में न आया कि वे क्यों उसे मार रहे हैं । लोग कहने लगे- "दगा दे गया । धत् तेरी जात की।' कभी म्लेच्छों से भलाई की आशा नहीं रखनी चाहिए । कौआ कौओं ही के साथ मिलेगा । कमीना जब करेगा कमीनापन इसे कोई पूछता न था; मन्दिर में झाड़ू लगा रहा था । देह पर कपड़े का तार भी न था । हमने इसका सम्मान किया, पशु से आदमी बना दिया, फिर भी अपना न हुआ। इनके धर्म का तो मूल ही यही है।"[1] जामिद के लिए धर्म

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड 2. पृ. 54

का मतलब गरीबों, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करना तथा लोगों को मुसीबतों से बचाना है । इसलिए जामिद को अपनी कसूर समझ में नहीं आयी । उसने केवल इतना ही किया जो ऐसी हालत में सब को करना चाहिए फिर भी इन लोगों ने क्यों अपने पर इतना अत्याचार किया। 'देवता क्यों राक्षस बन गये।' दूसरे दिन जामिद को लेकर वह बूढ़ा मुसलमान काज़ी जारोवार हुसैन के घर पहुँचा वहाँ उसका स्वागत बहादुर मोमिन की तरह हुआ । जामिद को देखते ही काजी साहब ने दौड़कर गले लगा लिया और बोला - "वल्लाह! तुम्हें आँखें ढूँढ रही थीं। तुमने इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिये । क्यों न हो, मोमिल का खून है । काफिरों की हकीकत क्या।"[1] जामिद ने जब एक निर्बल मुसलमान को अकारण पीटने का विरोध किया तो उसे मन्दिर से मारकर निकाल दिया । मुसलमानों के बीच गया तो काफिरों के विरोधी के रूप में उसका स्वागत हुआ । लेकिन जब छल से लायी गई हिन्दू औरत पर होते जुल्म रोकने का प्रयास किया तो उसकी फज़ीहत हुई । उसने उस औरत की रक्षा करके परिवारवालों को सौंप दिया। इस नेकी के बदले उसने सिर्फ इतना मांगा कि "इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा ।"[2] शहर के धूर्त्त कट्टरपंथियों से घबराकर जामिद अंततः गाँव लौट जाता है । कहानी का अन्त इसप्रकार है - 'वह जल्द से जल्द शहर से भागकर अपने गाँव पहुँचना चाहता था, जहाँ मजहब

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड 2. पृ. 55
2. वही - पृ. 58

का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था । धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थीं।"[1] जैसे शिवकुमार मिश्र ने लिखा है "प्रेमचंद इस मसले पर एकदम साफ है कि सांप्रदायिकता का संबन्ध न धर्म से है और न संस्कृति से वह विशुद्ध रूप से निहित स्वार्थ लोगों के सत्ता तथा अधिकार द्वन्द्व से जुडी है जिसका आम हिन्दू मुसलमान के हित से कोई नाता नहीं है ।"[2] इस कहानी के बूढ़े गरीब मुसलमान के ज़रिए कहानीकार ने इसका संकेत भी दिया है कि सांप्रदायिक स्वार्थ का मोहरा अक्सर गरीब ही होता हैं ।

मंदिर मस्जिद कहानी के प्रारंभ में एक प्रान्त के धार्मिक सौहार्द का संकेत है । कहानी में दो हिन्दू युवक हैं धर्मदास और खजाँचन्द । इनमें से एक प्राण के भय से इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता है, जबकि दूसरा धर्म के नाम पर अपनी जान दे देता है । मुल्ला के आने से पहले उस गाँव में धार्मिक द्वेष का नाम नहीं था । लेकिन "एक मुल्ला ने न जाने कहाँ से आकर अनपढ़ धर्मशून्य पठानों में धर्म का भाव जाग्रत कर दिया ? उसकी वाणी में कोई ऐसी मोहिनी है कि बूढ़े, जवान, स्त्री-पुरुष खिंचे चले आते हैं । वह शेरों की तरह गरज कर कहता है - "खुदा ने तुम्हें इसलिए पैदा किया है कि दुनिया को इस्लाम की रोशनी से रोशन कर दें, दुनिया से कुफ्र का निशान मिटा दो। एक काफिर के दिल को इस्लाम के उजाले से रोशनी कर देने का सवाब सारी उम्र के रोज़े, नमाज़ और ज़कात से कहीं ज़्यादा है । जगत की

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड 2. पृ. 58
2. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचद विरासत का सवाल, पृ. 42

हूरे तुम्हारी बलाएँ लेंगी ।"[1] इसप्रकार मुल्ला ने पठानों के मन में धार्मिक विद्वेष फैलाना शुरु किया । उसी धार्मिक उत्तेजना ने कुफ्र और इस्लाम के बीच भेद उत्पन्न कर दिया है । धर्म संसार में मानवता का मार्ग था, उसे जन्नत तक ले जाकर संसार से बाहर निकाल दिया गया । प्रत्येक पठान जगत का सुख भोगने के लिए उन्हीं हिन्दुओं पर हमला करने लगे हैं जो सदियों से शांति के साथ रहते थे । उनके मन्दिर ढ़हाये जाते हैं और कहीं जबरदस्ती इस्लाम की दीक्षा दी जाती है । इन लोगों को अपने व्यवहार में सच्चाई का पालन करने की अपेक्षा मंदिर तोड़ना, जबरदस्ती इस्लाम की दीक्षा देना आदि ज़्यादा फलदायक लगते हैं । हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच यही स्वार्थी दीवार बनाते हैं ।

इस कहानी में मुस्लिम राष्ट्रवाद का अंकन भी हुआ है । कहानी के पात्र धर्मदास से उसके ही गाँव के पठान सिर उड़ाने की बात कहता है । धर्मदास बड़ी मुश्किल से प्रेमचंद के शब्दों में 'जहर का घूँट पीकर' धर्म के ईमान बचाने की कोशिश करता है । सचमुच धर्म के बारे में प्रेमचंद का अभिमत है कि वास्तविक धर्म, इतनी सस्ती चीज़ है कि किसी के साथ भी जोडा दिया जा सकता है और नष्ट भी कर सकता है । धर्म तो आत्मा की गहराई की चीज़ है । बाह्य प्रदर्शन की नहीं, यहाँ पठान लोग असली धर्म को छोड़कर-जिसका मूल तत्व है समाज की उपयोगिता- धर्म के ढोंग को धर्म

---

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ -खंण्ड 2 - पृ. 494

मान लेते हैं । कोई भी धर्म किसी को हिंसक नहीं बनाता बल्कि धर्म से मनुष्य अहिंसावादी दृष्टिकोण प्राप्त करता है । प्रियंवद के शब्दों में "पुनर्जागरण के आचरण में ही भारतीय राष्ट्रवाद एक ऐसे एक आधुनिक विचार ने जन्म लेना शुरु किया, जिसका उद्देश्य अंग्रेज़ों के शासन से मुक्ति पाना था । यह राष्ट्रवाद दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से दो अलग समुदायों में, अलग-अलग धाराओं के रूप में आया । मुस्लिम समाज धर्म समुदाय में अलग और हिन्दू समाज धर्म व समुदाय में अलग रूप में।... मुस्लिम पुनर्जागरण अंततः पाकिस्तान के रूप में फलीभूत हुआ जिसे मुस्लिम राष्ट्रवाद की उपलब्धि माना गया और हिन्दू पुनर्जागरण काँग्रेस में समाहित होकर बाद में 'भारतीय राष्ट्रवाद' की संज्ञा व पहचान पाकर उस रूप में विकसित हुआ । इस तरह दोनों पुनर्जागरणों ने दो कथित राष्ट्रवाद को जन्म दिया।"[1] इसकी झलक ज़रूर प्रेमचंद की इस कहानी में अंकित है ।

सांप्रदायिक वैमनस्य को बढ़ाने के पीछे मुल्लाओं व पुरोहितों की गंभीर भूमिका रही है । यह विचार भी कहानी में दर्ज है । यह कहानी 1926 में प्रकाशित हुई थी, जब देश के बड़े-बड़े नगरों में हिन्दू-मुसलमानों के बीच नित्य किसी न किसी बात पर झगड़ा होता रहता था । आज भी इस हालत में बदलाव नहीं आया है । इसलिए इस कहानी की सर्वकालिक प्रासंगिकता है ।

---

1. प्रियंवद - भारत विभाजन की अन्तः कथा, पृ. 170

सांप्रदायिकता संबन्धी उनकी और एक कहानी है **'खून सफेद'**। इसका मुख्य कथ्य हिन्दू समाज की जर्जर धार्मिकता है । पृष्ठभूमि के रूप में सन् 1900 के अकाल का यथार्थ और त्रासद चित्रण भी हुआ है । इसके अलावा औपनिवेशिक शासन में ईसाई धर्मप्रचारकों की साधन-संपन्नता की संकेतात्मक प्रस्तुति भी हुई है जो एक तरह औपनिवेशिक शासन की आलोचना भी बनती है । औपनिवेशिक शासन ने समाज को विकृत कर दिया था । हमारे समाज को विभाजित करना ही उनका मकसद था जैसे पहले बताया गया है कि धर्म के नाम पर भारतीय जनता का विभाजन औपनिवेशिक शासन की देन है । प्रेमचंद समझते थे कि देश को औपनिवेशिक गुलामी से तभी मुक्ति मिल सकती है, जब पूरा देश लिंग, धर्म, जाति-भेदों से जुडे अंतर्विरोधों से मुक्त हो जाय । लेकिन औपनिवेशिक शासन अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने के लिए भारतीय समाज के इन अंतर्विरोधों को बरकरार ही नहीं रखना चाहता था बल्कि उन्हें और भी बढ़ाने की कोशिश में रत था। 'खून सफेद' के पादरी मोहनदास बच्चे साधो पर आकृष्ट हो जाता है । वह साधो को गोद में लेकर खेमे में एक गद्देदार कोच पर बिठाकर उसे बिस्कुट और केले खाने को देता है । लडके ने अपनी ज़िन्दगी में इन स्वादिष्ट चीज़ों को कभी न देखा था । उसने खूब खाया और पादरी से बोला 'तुम हमको रोज़ ऐसी चीज़ खिलाओगे' । पादरी का जवाब है 'मेरे पास इससे भी अच्छी-अच्छी चीज़ें हैं ।"[1] साधो की माँ नरम-नरम रोटियाँ बनाकर

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड 2 - पृ. 576

साधो का इंतज़ार कर रही थी । लेकिन साधो ने इन रोटियों को खाने से इनकार कर दिया और बोला- "तुम तो मुझे रोज़ चने की रोटियाँ दिया करती हो, तुम्हारे पास तो कुछ नहीं है । साहब मुझे केले और आम खिलवायेंगे।"[1]

ईसाई धर्म प्रचारक भारतीयों की गरीबी से भी फायदा उठाने की कोशिश कर रहे थे । साधोराय पादरी के स्वादिष्ट भोजन से ही आकर्षित हुआ था, उसके धर्म के प्रति नहीं । प्रेमचंद के मुताबिक "यह ज़माना सांप्रदायिक अभ्युदय का नहीं है । यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके, धर्म के नाम पर किया गया पाखण्ड और नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके । जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है, न ज़रूरत। 'संस्कृति' अमीरों का पेटभरों का, बेफिक्रों का व्यसन है । दरिद्रों के लिए प्राणरक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है ।"[2]

कहानी में हिन्दू समाज में व्याप्त छुआ-छूत जैसी कुरीतियों पर भी तीखा प्रहार किया गया है । इसमें ऐसा पात्र भी है जो बचपन में ही ईसाई पादरी के साथ चला जाता है और ईसाई बनता है । पर बड़े होने पर वह अपने घर समाज के साथ जीना चाहता है तो रूढ़िवादी हिन्दू बिरादरी उसे

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ, खण्ड -2- पृ. 576
2. सत्यप्रकाश मिश्र (सं) - प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ. 43

इजाज़त नहीं देती और वह वापस लौट जाता है । कहानी का जगतसिंह कट्टर हिन्दू का प्रतीक है । वह बिरादरी की रक्षा की बात बताकर साधोराय को अपने घर में रखने से इनकार करता है । साधोराय के पिता जाधोराय धर्मभीरु है, इसलिए किसी भी प्रकार की धार्मिक ताड़नों को पावन मानकर स्वीकार करता हैं । उसकी धार्मिक भावना सुधार कार्यों से परे रहती है । समाज में धर्म के नाम पर लोग संकीर्णताओं को बढ़ाते हैं । उनका विचार है कि विभिन्न धर्मावलंबियों के एक साथ रहने से धर्मभ्रष्ट जाता है । इसलिए कट्टर हिन्दू जगतसिंह बिरादरी की रक्षा की बात बताकर साधोराय को अपने घर में रखने से इनकार करता है ।

धर्म और बिरादरी के नाम पर कट्टरपंथी खूनी रिश्तों को भी अलगाते हैं । जाधोराय के बेटा साधोराय अपने घरवाले और बिरादरी से मिलने और बाकी जीवन उनके साथ जीने की आशा के साथ वापस आया था । लेकिन कट्टरपंथी उसे अपने घर में रहने नहीं देता । जगतसिंह साधोराय की माँ से कहता है "भाभी! बिरादरी थोड़ी ही कहती है कि तुम लड़के को घर से निकाल दो । लड़का इतने दिनों के बाद घर आया है, हमारे सिर आँखों पर रहे । ज़रा खाना-पीने और छूत-छात का बचाव बना रहना चाहिए । बोलो, जादो भाई अब बिरादरी को कहाँ तक दबाना चाहते हो ।"[1] इसपर साधोराय का कथन है - "मैं अपने घर में रहने आया हूँ । अगर यह नहीं तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि जितनी

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड -2- पृ. 579

जल्दी हो सके, यहाँ से भाग जाऊँ । जिनका खून सफेद है उनके बीच में रहना व्यर्थ हैं।"[1] धर्मान्धता में पडे मनुष्य मानवीय गुणों से वंचित हो जाते हैं । घर से लौटते वक्त साधोराय कहता है -"माँ, आया तो मैं इसी इरादे से था कि अब कहीं न जाऊँगा । लेकिन बिरादरों ने मेरे कारण यदि तुम्हें जाति-च्युत कर दिया तो मुझसे न सहा जाएगा । मुझसे इन गँवारों का कोरा अभिमान न देखा जाएगा, इसलिए इस वक्त मुझे जाने दो । जब मुझे अवसर मिला करेगा, तुम्हें देख आया करुँगा । तुम्हारा प्रेम मेरे चित्त से नहीं जा सकता । लेकिन यह असंभव है कि मैं इस घर में रहूँ और अलग खाना खाऊँ, अलग बैठूँ । उसके लिए मुझे क्षमा करना।"[2] धर्म और बिरादरी के नाम पर धर्म के ठेकेदार अपने बीच स्वार्थ की पूर्ति के लिए दुराचारों व रूढियों को बरकरार रखना चाहते हैं । वास्तविक धर्म को मनुष्य का हितैषी होना चाहिए । लेकिन यहाँ धर्म मानव विरोधी बन गया है । धर्म मनुष्य के लिए न होकर मनुष्य धर्म के लिए बन गया है । कहानी का अंत मार्मिक है । साधो की माँ फूट-फूटकर रो रही थी और जादोराय (साधो के पिता) आँखों में आँसू भरे, हृदय में एक 'ऐंठन सी अनुभव' करता हुआ सोचता था - "हाय! मेरे लाल, तू मुझसे अलग हुआ जाता है । ऐसा योग्य और होनहार लड़का हाथ से निकल जाता है और केवल इसलिए कि अब हमारा खून सफेद हो गया है ।"[3] धार्मिक कुरितियों को तोड़ने और फिरकापरस्तियों के

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड -2- पृ. 580
2. वही - पृ. 580
3. वही - पृ. 580

खिलाफ संघर्ष करने की कूवत साधोराय के माँ बाप में नहीं थी ।

स्वतन्त्रता पूर्व की कतिपय कहानियों में राष्ट्रवाद के घृणित रूप का उन्मीलन भी हुआ है । प्रेमचंद की **'मंत्र'** में सांप्रदायिक राष्ट्रवाद का अंकन ज़रूर हुआ है । 'मंत्र' कहानी का प्रमुख पात्र पण्डित लीलाधर चौबे हिन्दू सभा का प्रवर्तक है । वह लोगों को हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट कराने के लिए उज्ज्वल भाषण देता है "यह चौबे जी की शैली थी । वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग आलाप कर लोगें में जातीय स्वाभिमान जाग्रत कर देते थे।"[1] प्रियंवद के अनुसार उसकी भाषा सिद्धि के बदौलत वह खुद को हिन्दू सभा का कर्णधार सिद्ध करता था । 'शुद्धि को वह प्राण मानता था । उसके अनुसार "शुद्धि के सिवा अब हिन्दू जाति के पुर्नजागरण का और कोई उपाय न था । जाति की समझ नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आन्दोलन की सफलता में मर्यादित थीं।"[2] शुद्धि आन्दोलन हिन्दू राष्ट्रवाद की प्रमुख शाखा आर्य समाज का महान कार्यक्रम था । "इस अभियान (शुद्धि) का उद्देश्य गैर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में परिवर्तित करना था।"[3] इस आन्दोलन ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई को तेज़ी से बढ़ाया भी था ।

---

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड -2 - पृ. 26
2. वही - पृ. 26
3. वही - पृ. 199

पंडितजी को खबर मिली कि "मुल्लाओं ने बड़े जोर से तबलीग का काम शुरु किया है । अगर हिन्दू सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की तो सारा प्रान्त हिन्दुओं से शून्य हो जाएगा- किसी शिखाधारी की सूरत तक न नज़र आएगी।"[1] हिन्दू सभा ने धर्म विमुख बंधुओं को उद्धार करने का काम लीलाधर पर सौंप दिया । पण्डितजी मद्रास पहुँचकर अछूतों की एक बस्ती में उज्ज्वल भाषण देता है 'तुम्हारी धमनियों में भी ऋषियों का रक्त दौड रहा है और यद्यपि आज का निर्दय, कठोर विचारहीन और संकुचित हिन्दू-समाज तुम्हें अवहेलना की दृष्टि से देख रहा है, तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो ।"[2] तब एक अछूत बूढ़े ने सवाल किया - "मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा।"[3] सवर्ण हिन्दुओं की चालाकी को वह बूढ़ा पहले ही पहचानता था । रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि जब हमारे राष्ट्रवादी लोग आदर्शों की बात करते हैं तब वे भूल जाते हैं कि हमारे यहाँ राष्ट्रीयता के सही आधार का अभाव है । वे लोग जो राष्ट्रवादी आदर्शों का हवाला देते हैं, खुद अपने सामाजिक व्यवहार में दकियानूस है । उदाहरण के लिए उनका मानना है कि स्विट्ज़रलैंड के लोग जातीय विविधता के बावजूद एक राष्ट्र के रूप में मिल जुलकर रहते हैं । यहाँ ध्यातव्य है कि वहाँ जातियाँ आपस में मिलजुलकर रह सकती है।

---

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ - खंण्ड 2- पृ. 28
3. वही - पृ. 28
3. वही - पृ. 28

अंतर्जातीय विवाह भी हो सकते हैं क्योंकि उनका खून एक है । भारत में ऐसी बात नहीं है ।

सांप्रदायिक हिंसा सांप्रदायिक राष्ट्रवाद का सबसे बड़ा हथियार है। लीलाधर चौबे की मद्रास आने की खबर सुनकर तबलीग वालों ने उस पर आक्रमण किया । मृत समझकर आक्रमणकारी उसे वहाँ छोड़कर चले गये। लेकिन बूढ़े अछूत और उसके गाँववालों ने पण्डितजी की सेवा की क्योंकि अतिथि सेवा उनके धर्म का अंग है । पण्डित समझ गये कि जिन लोगों को नीच समझकर उद्धार करने का बीड़ा उठाकर वह आया था वे उससे कहीं ऊँचे हैं। तीन महीनों के गुज़रने के बाद भी न तो हिन्दू सभा और न घरवालों ने उसकी खबर ली । सभा के मुख पत्र में उसकी मृत्यु पर आँसू बहाया गया। उसके कर्मों की प्रशंसा की गई और उसके स्मारक बनाने के लिए चंदा इकट्ठा करने की कोशिश भी हुई । सभा की झूठी वफादारी पर प्रेमचंद ने करारा व्यंग्य किया है ।

पण्डितजी का स्वास्थ्य ठीक हो गया और वे अपने घर लौटने की तैयारी कर रहे थे । तब गाँव में प्लेग का आक्रमण हुआ । गाँववाले बीमारों को छोड़कर अपने प्राण की रक्षा के लिए भाग रहे थे । तब पण्डितजी अपने प्राण की परवाह न करके कठिनाइयाँ झेलते हुए बीमारों की सेवा में लग गए। इसप्रकार पण्डितजी असली धर्मावलंबी बन गए । उनका विचार है कि तब मैं भला उन्हें क्या शुद्ध करूँगा, पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ । ऐसे निर्मल एवं पवित्र आत्माओं के

शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता । प्रेमचंद यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि असली धर्मावलंबी धार्मिक राष्ट्रवादी नहीं, बल्कि मानवतावादी है । लीलाधर चौबे पहले धर्मांध था और लोगों में हिन्दू एकता का भाव जगाकर धर्म को पुष्ट बनाना चाहता था । लेकिन जब वह यथार्थ धर्मावलंबी बन गया तब जान गया कि मानवता से परे कोई धर्म नहीं है ।

प्रेमचंद की और एक कहानी **'जुलूस'** में धार्मिक सद्‌भावना पर ज़ोर दिया गया है । भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या के मूल में ऐतिहासिक कारण तो है, इसके साथ निहित स्वार्थी वर्गों की साजिश और औपनिवेशिक कूटनीति भी शामिल हैं । भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए धार्मिक सद्‌भावना तत्कालीन समय की माँग थी । कहानी में हिन्दू मुसलमानों के आपसी भेद-भाव को किनारा करके अहिंसा का मार्ग अपनाते हुए जुलूस निकालने का चित्रण है । इस जुलूस में बूढ़े, युवा बालक आदि सब सभी तरह के भेद भाव भूलकर एकजुट हो जाते हैं । कहानी का आरंभ इसप्रकार है - "पूर्ण स्वराज का जुलूस निकल रहा था । कुछ युवक, कुछ बूढ़े कुछ बालक झंडियाँ और झंडे के लिए वंदेमातरम् गाते हुए माल के सामने से निकले । दोनों तरफ दर्शकों की दीवार खड़ी थी, मानो उन्हें इस लक्ष्य से सरोकार नहीं है, मानो यह कोई तमाशा है और । उनका काम केवल खड़े-खड़े देखना है ।"[1] यहाँ जनता की राष्ट्रीय भावना के जागरण के चित्रण के साथ कतिपयों की निस्संगता का भी उल्लेख है ।

---

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड -2 - पृ. 419

इस कहानी की एक विशेषता यह भी है कि आन्दोलनकारियों का अगुआ इब्राहिम अली मुसलमान है और वह आज़ादी की लड़ाई में त्याग और बलिदान का नमूना बनता है । यों शाहीदानी हिन्दू-मुसलमान के अंतर को मिटा देती है । उसे प्रहार करके मृत्यु के घाट उतारनेवाला दारोगा वीरबल हिन्दू है । दरअसल वह भी हिन्दू या मुसलमान नहीं है बल्कि औपनिवेशिक शासन का बफादार पहरुआ है ।

प्रेमचंद ने पुलिस के हाथों पिसती जाती जनता के मनोभावों का भी सच्चा चित्रण किया है । "हिंसा के भावों से प्रभावित न हो जाना उनके लिए प्रतिक्षण कठिन होता जाता था । जब आघात और अपमान ही सहना है, तो फिर हम भी इस दीवार को पार करने की चेष्टा क्यों न करें।"[1] पर वे न पुलिस पर प्रहार करते हैं, न मैदान छोड़कर भागते हैं । यहाँ तत्कालीन जनता की राजनैतिक चेतना सही ढंग से उन्मीलित होती है । गाँधीजी की राजनीति के यथार्थ अर्थ को उन्होंने समझ लिया था । कहानी का नायक इब्राहीम के घायल होने की खबर जनता को बेचैन कर देती है । ध्यान देने की बात हैं कि यह जनसमूह 'हिन्दू' या मुसलमान नहीं है, बल्कि आम आदमी है जो अपने नेता के घायल होने की खबर पाकर उत्तेजित होते हैं । कहानी में लिखा गया है- "देखते-देखते अधिकांश दूकानें बंद हो गयीं । वे लोग जो दस मिनट पहले तमाशा देख रहे थे, इधर उधर से दौड पड़े और

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड -2- पृ. 419

हज़ारों आदमियों का एक विराट् दल घटनास्थल की ओर चल पडा । यह उन्मत्त हिंसामद से भरे हुए मनुष्यों का समूह था, जिसे सिद्धान्त और आदर्श की परवाह न थी । जो मरने के लिए ही नहीं, मारने के लिए भी तैयार थे । कितनों ही के हाथों में लाठियाँ थीं, कितनी ही जेबों में पत्थर भरे हुए थे । न कोई किसी से कुछ बोलता था, न पूछता था । बस सब के सब मन में एक दृढ़ संकल्प किये लपके जा रहे थे मानों कोई घटा उमड़ी चली आती हो।"[1] यहाँ अहिंसात्मक संघर्ष के हिंसात्मकता में परिणत होने का संकेत है। स्थिति समझकर घायल इब्राहिम, जुलूस को लौटने का आदेश देता है । प्रेमचंद के शब्दों में "इशारे की देर थी । संगठित सेना की भाँति लोग हुक्म पाते ही पीछे फिर गये... वे जानते थे, हमारा संघर्ष अपने ही भाइयों से है जिनके हित परिस्थितियों के कारण हमारे हितों से भिन्न है । हमें उनसे वैर नहीं करना है । फिर, वह यह भी नहीं चाहते कि शहर में लूट और दंगे का बाज़ार गर्म हो जाए... उनकी विजय का सबसे उज्ज्वल चिह्न यह था कि उन्होंने जनता की सहानुभूति प्राप्त ली थी, वही लोग जो उनपर पहले हंसते थे, उनका धैर्य और साहस देखकर उनकी सहायता के लिए निकल पड़े थे।... हमारा उद्देश्य केवल जनता की सहानुभूति प्राप्त करना है, उसकी मनोवृत्तियों को बदला देना है । जिस दिन हम इस लक्ष्य पर पहुँचेंगे, उसी दिन स्वराज्य-सूर्य उदय होगा ।"[2] स्पष्ट है कि यहाँ कहानीकार के मुँह से गाँधीजी की स्वस्थ राजनीति ही बोल रही है ।

---

1. प्रेमचंद - प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड -2- पृ. 411
2. वही - पृ. 420

कहानी में दारोगा बीरबल की पत्नि का (पति के विरुद्ध) आन्दोलन में भाग लेना इस बात का संकेत है कि स्वाधीनता आन्दोलन घरों के भीतर तक पहुँच गया था । शहीद इब्राहीम की लाश का जुलूस निकल जाता है । उसने मरते समय यह इच्छा की थी कि उसकी लाश को गंगा में नहलाकर दफन किया जाय और उसकी मजार पर स्वराज्य का झण्डा खड़ा किया जाए। यह सचमुच सांप्रदायिकता पर मानवीयता की विजय का अंकन है । कहानी के अंत में दारोगा का भी हृदय विचलित हो जाता है जो अहिंसा के प्रभाव का परिणाम है । गाँधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन का मूल मंत्र हृदय परिवर्तन था । दारोगा बीरबल का हृदय-परिवर्तन उपनिवेशी ताकत पर भारतवासियों की विजय का निशान है ।

इसके अतिरिक्त **'विचित्र होली', 'मुक्तिधन', 'क्षमा','दो कब्रें', 'बौड़म',** आदि कहानियों में भी प्रेमचंद ने मुख्यतः सांप्रदायिक समस्याओं को ही उठाया है । इन में हिन्दू और मुसलमान पात्र धर्म की संकुचित दायरे से मुक्त हैं । वे अपने-अपने धर्म पर पूर्ण आस्था रखते हुए दूसरे धर्म और धर्मावलंबियों को आदर की दृष्टि से देखते हैं । उनका यथोचित सम्मान करते हैं । 'मुक्तिधन' कहानी का रहमान नुकसान उठाकर भी दादूदयाल को गाय देता है, कसाई को नहीं । "मन्दिर-मस्जिद' कहानी के चौधरी इतरत अली तो सांप्रदायिक सद्‌भाव की प्रतिमूर्ति है ।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की कहानी

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने भी सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है । उन्होंने **'ईश्वरद्रोही'**, **'शाप'**, **'खुदाराम'** आदि में छोटी-छोटी बातों पर सांप्रदायिकता का विष फैलाने वाले कट्टरपंथी हिन्दू और मुसलमान का बारीकी से चित्रण किया है ।

"ईश्वरद्रोही' कहानी में दर्शाया गया है कि धर्म के नाम पर एक दूसरे के हिंसक न हिन्दू होते है, न मुसलमान, वे शैतान होते हैं, और शैतान ही उनका ईश्वर या खुदा होता है । कहानी में विभाजन से पूर्व 1946 में कलकत्ता में हुए दंगों का चित्रण है । उस समय हिन्दू और मुसलमान आपस में नफरत करते थे । कहानी का मुख्य पात्र है 'गोपालजी'। वह लखनऊ के नवाबों के वंश की एक मुसलमान भिखारिन को अपने घर में आश्रय देता है । गोपालजी नास्तिक है । उसके अनुसार यह संसार धोखेबाज़ों, बदमाशों व बेईमानों का अखाड़ा है । ईश्वर के तो नाम से उन्हें चिढ़ थी । उनकी चर्चा चलने पर गोपालजी तमककर कह उठते, "सब झूठ है सब धोखा है, ईश्वर कोई नहीं है, कहीं नहीं है । गरीबों और भूखों पर अपनी हुकूमत कायम रखने के लिए अमीरों और दुनिया को बनाने वाले समझदारों की अक्ल ने इस ईश्वर की रचना की है । सब झूठ है, सब धोखा है।"[1] केवल 'मानव धर्म के पुजारी' गोपालजी किसी भी जाति के किसी भी आदमी के हाथ से खाना-

1. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र-विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 155

पानी ग्रहण करता है । संसार के कमज़ोर और अपमानित, दरिद्र और पतित उसके ईश्वर है, मनुष्यत्व उसका धर्म है । उसके अनुसार 'इंसान का मजहब इंसान की कद्र करना है, जिस धर्म में आदमी की इज्जत नहीं, वह धर्म नहीं, धोखा है।"[1] गोपालजी के अनुसार "किसी को काफिर समझना आदमीयत का अपमान करना है । गोपालजी की नज़रों में धर्म तुच्छ था, धन तुच्छ था, ढोंगियों का समाज तुच्छ था, मन्दिर-मस्जिद, गिरजे तुच्छ थे और परम तुच्छ था उक्त सारी खुराफातों की जड़ ईश्वर।"[2] वह किसी भी धर्म और ईश्वर को नहीं मानता । "मगर... अगर कोई अपने को मुसलमान, ईसाई या कुछ और कहकर और मुझे 'हिन्दू' समझकर अपमानित करना चाहे, तो मुझसे बढ़कर कोई दूसरा 'हिन्दू' नहीं । वैसी हालात में मैं बिक जाऊँगा, मगर 'हिन्दू' रहूँगा.. मर जाऊँगा, मगर 'हिन्दू रहूँगा', वैसी हालत में अपमान 'हिन्दू' का नहीं आदमी का होता है । मैं आदमी हूँ । मौलावी साहब! मेरी नज़रों में मजहब की उतनी ही इज्जत है जितनी पोशाकों की । लुंगी लगाने वाला धोती पहनने वाले को काफिर नहीं कह सकता । पगड़ी पहननेवाला तुर्की टोपी वाले को म्लेच्छ नहीं कह सकता । अपनी-अपनी पसन्द है । आप दीन-इस्लाम को मानते हैं लुंगी पहनिए राम हिन्दू धोती पहने, मैं कुछ भी नहीं हूँ... आदमी हूँ जो जी में आएगा पहनूँगा। पोशाकों के लिए लड़ना मुसलमानपन नहीं, हिन्दूपन भी नहीं गधापन है।"[3] इसप्रकार मानव धर्म पर अड़िग आस्था

---

1. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र-विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 188
2. वही - पृ. 156
3. वही - पृ. 158

रखनेवाले गोपालजी पर कट्टरपंथियों ने आक्रमण किया । उसके पुत्र राम को सांप्रदायिक दंगे में मुसलमान गुण्डों ने पेट में छुरा भोंककर मार डाला। यह सुनकर गोपालजी और नवाबज़ादी राम की तलाश में शस्त्रों से सुसज्जित होकर चल पड़े । लेकिन मुसलमान कट्टरपंथियों के हाथ से नवावजादी और ईश्वरद्रोही (गोपालजी) की हत्या हुई । विभिन्न धर्मावलंबी धर्म के सच्चे स्वरूप को समझे बिना धर्म के नाम पर अधार्मिक आचरण करते हैं । धर्म का मूल मंत्र मानवता से प्रेम करना है । किंतु द्वेष स्वार्थ और अविवेक के कारण साधारण व्यक्ति सांप्रदायिक वैमनस्य को बढ़ाने में सहायक होता है । धर्म के उदात्त रूप को अपनाकर ही सांप्रदायिक विद्वेष से लड सकता है ।

उपनिवेशी ताकत के विरुद्ध विद्रोह कर कितने ही राजवंशी दर-दर भटकने और भिखारी बनने को विवश हुए । मुसलमान जीवन के इस ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण इस कहानी में हुआ है । कहानी के मुख्य पात्र 'ईश्वरद्रोहीं और नवाबजादी के ज़रिए उग्र जी ने तत्कालीन उपनिवेशवादी कुटिल तंत्र और उस तंत्र के खिलाफ लोगों की एकता की ओर संकेत किया है । उपनिवेशवादी चाल से अनाथ एवं बेसहारा बनी नवाबजादी की सहायता ईश्वरद्रोही करता है । यहाँ धर्म के आधार पर जनता को बाँटते उपनिवेशी तंत्र को परास्त करते विभिन्न धर्मावलंबियों की एकता द्रष्टव्य है । इस कहानी में मानवीय करुणा का अंकन भी हुआ है । अखिलेश मिश्र के अनुसार 'मानवता तो शुद्ध सांसारिक धर्म है ।"[1] मनुष्य की भलाई के

1. अखिलेश मिश्र - धर्म का मर्म, पृ. 119

उपलक्ष्य में धर्म की नींव डाली गयी है । प्रत्येक धर्म का आविर्भाव भी इसकेलिए हुआ है । लेकिन धर्म सच्चाई से बहुत दूर नज़र आता है । रमणिका गुप्ता के अनुसार "जबकि सारे धर्म अपने अनुयायियों में कुछ 'जानने' की कोशिश करने की तार्किकता को खत्म कर, 'सिर्फ' मानते रहो की प्रवृत्ति पैदा करते हैं । ऐसी स्थिति में धर्म मनुष्य के लिए नहीं होता, मनुष्य धर्म के लिए हो जाता है । जब तक धर्म का ध्येय मनुष्य के लिए होता है तब तक उसमें उदारता बनी रहती है, तथा वह गतिशील भी रहता है पर ज्यों ही 'मनुष्य ही धर्म के लिए है' की अवधारणा पनपती है, तब धर्म वर्चस्ववादिता का शिकार होकर कट्टरता बर्बरता और "मैं श्रेष्ठ तुम निकृष्ट जैसी दूषित प्रवृत्ति का जनक बन जाता है । ऐसी प्रवृत्ति मानव समाज को ज़हरीला बना देती है।"[1] दुःखी का दुःख दूर करना, कमज़ोर का भय मिटाना आपदा, अत्याचार, रोग, शोक, दरिद्रता और हीनता को जीतने में सहायता करना मानव धर्म है । इसमें राष्ट्र, रंग, उच्च-नीच जैसे भेद नहीं है । लेकिन जनता पाखण्ड को धर्म मानने लगी । मनुष्य में मानुषिक गुणों को प्रोत्साहित करने के लिए आविर्भाव हुआ धर्म, अधार्मिकता का स्रोत बन गया । धर्म स्वार्थी धार्मिक और राजनीतिक नेताओं के पंजे में पड़ा है । अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने के प्रयास में मनुष्य को भटकाया जाता है । मनुष्य की नज़र में मनुष्य के गुण नहीं उसके धर्म, कुल, परंपरा इत्यादि मूल्यवान होते हैं ।

---

1. रमणिका गुप्ता - साँप्रदायिकता के बदलते चेहरे, पृ. 89-90

उग्र जी की और एक कहानी **'शाप'** में भी हिन्दू-मुसलमान कट्टरपंथी कैसे सांप्रदायिकता को उकसाते हैं, इसकी ओर इशारा किया गया है । कहानी का एक प्रमुख पात्र अली अहमद खाँ गाँव का ज़मींदार है । गाँव का नियंत्रण उसके हाथों में है । वह एक क्ट्टर मुसलमान भी है । यहाँ मुसलमान का अर्थ उस प्राणी से है जिसके व्यक्तित्व को अपने को हिन्दू कहनेवाले लोग सन्देह, घृणा और भय की दृष्टि से देखते हैं।"[1] अली अहमद के राज्य में इंसाफ तो दूर, अक्सर जुल्म हुआ करते हैं । गाँव के टूटे-फूटे मंदिरों की हालत और भी नाज़ुक हो गई है, क्योंकि मुसलमान छोकरे भगवान शंकर के सिर पर अक्सर पत्थर बरसाते हैं । अगर कोई ज़मींदार के पास शिकायत लेकर आता है तो न्याय की जगह गालियाँ और फटकार पाता है । इसलिए अनेक हिन्दू दूसरे गाँवों में जा बसे और अनेक जाने की तैयारी कर रहे हैं। कट्टरपंथियों का लक्ष्य यह है कि जनता के बीच भेद-भाव जगाकर आपस में झगड़ा कराकर फायदा उठाना । ज़मींदार अली अहमद ऐसा ही कट्टरपंथी है । गाँव में ठाकुर करनसिंह की लड़की की शादी होनेवाली है । लेकिन ज़मींदार का हुकुम आया कि मस्जिद के सामने बाजा न बजाए । जनता के बीच फूट डालने के कारणों को कट्टरपंथी अक्सर ढूँढता ही रहता है । कहानी में इसहाक और उसकी पत्नि मानवधर्म के पक्षधर हैं । इसहाक की बीवी कहती है कि "ऐसा तो मैंने नवाबी में भी नहीं सुना था । धर्म के नाम पर किसी की ब्याह-शादी तक रोक दी जाएगी

1. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र-विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 139

? आज से पहले भी हमेशा और हर वक्त मस्जिद के सामने बाजे बजे हैं । यह तो झगड़ा खरीदना हैं ।"[1] धर्म के नाम पर अधार्मिक आचरण करनेवालों से मानवप्रेमी परमहंसजी को घृणा है । परमहंसजी की दृष्टि में सभी धर्मावलंबी समान है । वे जडी-बूटियों की चिकित्सा के ज़रिए अनेक हिन्दू और मुसलमानों का हित हासिल कर चुके हैं । परमहंस के उपकारों को माननेवाला इसहाक उसकी गाय की रक्षा करने की कोशिश में मुसलमानों के हाथों मारा जाता है । हिन्दू और मुसलमान कट्टरपंथियों के बीच गाय और इसहाक दोनों को प्राण की आहुति देनी पड़ती है । मस्जिद के सामने की ज़मीन खून से लथपथ हो जाती है । गऊ और इसहाक की लाश को देखकर परमहंसजी शाप देते हैं - "दुष्टो ! यह तुमने क्या किया ? यह कैसा धर्म-प्रेम है । अनबोलते पशु और ईश्वर की पवित्र यानी मनुष्य की हत्या से प्रसन्न होने वाले राक्षस । तुम्हीं नरक के अधिकारी हो, तुम्हीं शैतान हो, तुम्हीं विश्व-प्रेम के पथ के कण्टक हो ।"[2] धार्मिक सौहार्द का समर्थक परमहंस जी और मानव धर्म पर अडिग आस्था रखनेवाला इसहाक दोनों को कट्टरपंथियों ने ध्वस्त किया । दरअसल अली अहमद खाँ के वर्चस्व को कायम रखने के लिए ही आम हिन्दू और मुसलमानों के बीच झगड़ा होता है । यहाँ धर्म एक मोहरा मात्र है । वास्तविक संघर्ष ज़मींदार अली अहमद खाँ और ठाकुर करनसिंह का आपसी सत्ता संघर्ष ही है ।

1. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र-विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 145
2. वही - पृ. 149

इंसानों के बीच की दीवार बनाए रखने के लिए ही कट्टरपंथी धर्मान्धता को बढ़ावा देते हैं । ये, अस्पृश्यता छुआछूत जैसे कुरीतियों के पोषक हैं । अपने अधिकार को मज़बूत करने के लिए ही ये आम जनता को आपस में लडवाते हैं । ये कट्टरपंथी चाहे धार्मिक नेता ज़मींदार या ठेकेदार चाहे जो भी हो गरीबों का शोषण ही उनका मकसद है । इस यथार्थ को छिपाने के लिए ही वे धर्म और जाति के नाम पर गरीबों को आपस में लड़वाते हैं । इसी सच का खुलासा 'शाप' कहानी में हुआ है ।

उग्र जी की कहानी **'खुदाराम'** का खुदाराम भी हिन्दू या मुसलमान नहीं बल्कि इंसान है । धर्म के नाम पर लड़नेवालों से उसका कथन है -"तुम लोग इंसान क्यों हुए? तुम्हें तो भालू होना चाहिए था । शेर होना चाहिए था, भेड़िया होना चाहिए था । वैसी अवस्था में तुम्हारी रक्त पिपासा मजे में शांत होती । धर्म के नाम पर लड़नेवाले इंसान क्यों होते हैं?"[1] खुदाराम के विवेकपूर्ण कथन से हिन्दू और मुसलमान उसे पागल समझते हैं । कस्बे के हज़ारों हिन्दू, मन्दिर की ओर वेद भगवान के जुलूस में शामिल होने के लिए निकल पडे । मुसलमान पुरुष भी, पुराने पीर की मस्जिद में, जुलूस को रोकने के लिए सशस्त्र, एकत्रित हुए । हिन्दू और मुसलमान के घरों पर, या तो बूढ़े बचे थे या बच्चे और स्त्रियाँ । घर-घर का दरवाज़ा भीतर से बंद था। फिर भी खुदाराम दंगे रोकने में सफल हो जाता है । दंगे के विरुद्ध खुदाराम

---

1. जैनेन्द्र कुमार - तेइस हिन्दी कहानियाँ, पृ. 127

ने बच्चे, स्त्रियाँ और बूढ़े-बूढ़ियों को एकत्रित किया । एक ओर उत्तेजित मुसलमान खुदा के नाम पर ईंट और डंडे चलाने पर उतारू थे, दूसरी ओर वेद भगवन का जुलूस रघुनन्दान प्रसाद के परिवार और हज़ारों हिन्दुओं के साथ मस्जिद के पास आडिंग खडा था । खुदाराम भी अपने जुलूस के साथ इनके बीच आ गया और फरमाने लगा "यह क्या हो रहा है? धर्म के नाम पर खून बहाने की क्या ज़रूरत है ? तुम्हें यह शरारत किस शैतान ने सिखायी है । बच्चों, तुम्हारी माँएँ तुम्हें खोकर अंधी हो जायेंगी । उनकी ज़िन्दगी खराब हो जायेगी । वहशियत पाने पर तुम्हें चैन न मिल सकेगा । लड़ो मत । खून से पाजी शैतान भले ही खुश हो जाय, पर खुदा कभी नहीं खुश हो सकता । ... खून के फेर में न पड़ो, मेरे कलेजे । खुदा खून नहीं पसंद करते ।"[1] कट्टरपंथियों की उत्तेजना से उत्तेजित, होकर जनता सोचे बिना सांप्रदायिक दंगे में भाग लेती है । वास्तव में इन दंगों का बुरा परिणाम भी सबसे ज़्यादा उन्हें ही झेलना पड़ता है । अवाम यह जानते नहीं । इन्हें जागृत करने का नेक कार्य ही खुदाराम ने किया है ।

इस कहानी के देवनन्द प्रसाद और उसका परिवार एक मुसलमान स्त्री के हाथ से अनजाने खाना-पानी ग्रहण कर लेने के कारण हिन्दू धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं । कट्टरपंथियों का कहना है कि "अब देखो रघुनंदन के बाप का क्या होता है । दो महीनों तक तुर्किन के हाथ का पानी पीकर और

---

1. जैनेन्द्र कुमार - तेइस हिन्दी कहानियाँ, पृ. 35

उससे चौका-बर्तन कराकर उन्होंने अपना धरम खो दिया है । हमारे... तो कह रहे थे कि अब उनके घर से कोई नाता न रखा जाएगा । नाता कैसे रखा जा सकता है । धरम से कच्चा सूत होता है । ज़रा-सा इधर-उधर होते ही टूट जाता है । फिर हमारा हिन्दू का धरम । राम-राम! जिसको छूना मना हैं सुबह जिसका मुँह देखना पापा है, उनके हाथ से रघुनन्दन ने जल ग्रहण किया। डूब गया देवनन्दन का खानदान डूब गया । अब उससे खान पान का नाता रख कौन अपना लोक - परलोक बिगाडेगा।"[1] मुहल्ले के मुखिया ने देवनन्दन को किसी दूसरे कुएँ से पानी लेने का आदेश दिया । क्योंकि देवनन्दन हिन्दू नहीं है वह मुसलमान हो चुका है । दो महीने तक तुरकिन से पानी भराने और चौका-बर्तन कराने के बाद देवनन्दन प्रसाद और उसके परिवार को हिन्दू रहना संभव नहीं है । ब्राह्मणों ने चारों बेदों छः शास्त्रों, चालीसों स्मृतियों और अठारहों पुराणों की व्याख्या कर देवनन्दन को म्लेच्छ घोषित किया । वे किसी तरह हिन्दू नहीं हो सकते । यह समाचार सुनकर मुसलमान प्रसन्न हुए ।

मनुष्य स्वभाव से ही समाज चाहता है, सहानुभूति चाहता है, वे प्रेम चाहता है । हिन्दू धर्म से निकाल दिये जाने पर देवनन्दन और उसके परिवार के आगे इस्लाम धर्म अपनाने के सिवा और कोई रास्ता नहीं था । देवनन्दन "उल्फत अली' बन गया और उनका पुत्र रघुनन्दन इनायत अली । देवनन्दन

---

1. जैनेन्द्र कुमार - तेइस हिन्दी कहानियाँ, पृ. 120

के लिए यह घटना असहनीय थी । उसकी छाती पर समाज ने ऐसा क्रूर धक्का मारी कि वह एक साल के भीतर दुनिया से कूच कर गया । सात साल बाद इनायत अली और उसके परिवार को हिन्दू धर्म की ओर लौटने की ईहा प्रबल हो गई । समाज में भी कुछ बदलाव आया था । धर्म के नए नेताओं ने इनायत और उसके परिवार को पवित्र बनाकर हिन्दू धर्म में शरीक होने की अनुमति दी । तब हिन्दुओं का नेतृत्व आर्य समाज संभाल रहा था । इनायत अली के धर्म परिवर्तन को लेकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे की भी तैयारियाँ हो रही थीं । पर खुदाराम की कुशल दखलंदाजी के कारण दंगा संभव नहीं हुआ ।

विष्णु प्रभाकर की कहानी

विष्णु प्रभाकर की '**अधूरी कहानी**' में मानवीय रिश्तों में विशेषकर बच्चों के नेक मन में कैसे धर्म खरोंचें डालता है, इसका मार्मिक चित्रण है। पर्व, त्योहारों के वक्त ही बच्चे सबसे अधिक खुश होते हैं । उस खुशी में वे सब कुछ भूल जाते है और ऐसे दिनों की बच्चे अक्सर प्रतीक्षा करते रहते हैं । इस कहानी में ईद के वक्त भिन्न धर्मावलंबी बच्चों की आपसी लेन-देन एवं अपनेपन का चित्रण है । इसके साथ उनकी आत्मीयता को मिटाने के लिए कोशिश करते धर्म के हथकण्डों का चित्रण भी हुआ है । यानी एक ओर युवा मन में भेद भावों को ठूसने की कोशिश करते धर्म का चित्रण है तो दूसरी ओर बाल मन की कारुणिक स्थिति भी कहानी में उजागरित हो गई है । कहानी यह साबित करती है कि मानव और मानव के बीच भेद पैदा करने में धर्म अहं भूमिका निभाता है ।

कहानी ट्रेन के डिब्बे में सफर करते दो सवारियों की आपसी बातचीत के ज़रिए आगे बढ़ती है । इनमें एक हिन्दू है और दूसरा मुसलमान। मुसलमान हिन्दू भाई को एक छोटी सी कहानी सुनाता है जो उसे उसकी वालदा ने सुनायी थी । कहानी इसप्रकार है - एक गरीब मुसलमान परिवार का अंग है अहमद । उसके पिता की मृत्यु हो गई और माँ बीमार पड़ी है। ईद का दिन है । सभी मुसलमान परिवारों में ईद मनाया जाता है । लेकिन अहमद के घर में अभाव और माँ की बीमारी के कारण ईद मनाने की हालत नहीं है । लेकिन फातिमा अपने बेटे के लिए ईद मनाने की तैयारियाँ करती हैं । अहमद दूध लेने जाता है लेकिन देरी के कारण उसे दूध नहीं मिलता। दुःखी अहमद को उसके दोस्त दिलीप अपने हिस्से का दूध देता है । फिर अहमद और उसकी माँ ने खुशी-खुशी से ईद मनाने की तैयारी की । फातिमा सेवैयाँ बनाती है । माँ मामू और खाला के घर देने के लिए अहमद के पास दो कटोरों में सेवैयाँ भरकर देती है । हिन्दू और मुसलमान के गहरे भेद से अनभिज्ञ अहमद सोचता है कि "सबसे पहले दिलीप के घर देनी चाहिए । उसने मुझे, दूध दिया था, अपने हिस्से का दूध।"[1] उसने अपना रास्ता पलटकर दिलीप के घर पहूँचा । अहमद की बातें सुनकर दिलीप के बड़े भाई ज़ोर-ज़ोर से हँस पड़े और कहा "भोले बच्चे । जाओ अपने घर लौट जाओ । चाची बोली, हम क्या तुम्हारी सेवैयाँ खा सकते है ? हमें क्या अपनी ईमान बिगाड़ना है ।' 'माँ ने तुमसे मज़ाक किया था । हम तुम्हारे घर की

1. विष्णु प्रभाकर - इक्यावन कहानियाँ, पृ. 61

सेवैयाँ नहीं खा सकते।' अहमद एकदम सकपका गया । उसके छोट से दिल पर चोट लगी । फिर भी उसने हिम्मत बाँधकर कहा, 'क्यों नहीं खा सकते ? हमने भी तो आपका दूध लिया था।' 'अब भाई ने उसे समझाया बच्चे ! तुम बहुत अच्छे हो । परमात्मा तुम्हें खुश रखे । लेकिन हम हिन्दू हैं और हिन्दू लोग तुम्हारे हाथ का छुआ खाना पाप समझते हैं।"[1] भोले अहमद तब तक दिलीप और उसकी माँ की मूहब्बत की बात सोचता था । हिन्दू और मुसलमान जैसे भेद वह जानता भी नहीं । यह पाप पुण्य की बात सुनकर अहमद का दिमाग चकराने लगा -"वह घर जाने को मुडा, उसका हाथ कांपकर सेवैयाँ से भरा कटोरा ज़ोर की आवाज़ करता हुआ वहीं उसी चौकी पर गिर पड़ा । "जिस पर सवेरे-सवेरे दिलीप और दिलीप की माँ ने दूध के रूप में अपनी मुहब्बत अहमद के दिल में उण्डेल दी थी । सेवैयाँ चारों ओर फैल गयी और अहमद की मूहब्बत पैरों से रौंदे जाने के लिए वही पडी रह गयी ।"[2] इसप्रकार छुआछूत जैसी कूरीतियों से इंसान और इंसान की आपसी मुहब्बत किसप्रकार रौंदी जाती है उसका मार्मिक चित्रण कहानी में दर्ज है ।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी

विभाजन की घटना भारतीय राजनीति में उलकापिण्ड की तरह उदित हुई थी और इसकी अशुभ छाया-तले समस्त उपमहाद्वीप तड़प उठा

1. विष्णु प्रभाकर - इक्यावन कहानियाँ, पृ. 61-62
2. वही - पृ. 62

था । इस विकट हादसे में विभिन्न धर्म-संस्कृतियों के लोग, अप्रत्याशित रूप से बूरी तरह घिर गये थे । बँटवारा एक चट्टान की तरह लोगों के सिर पर टूटा था और जब तक वे साँस ले पाते, कुछ सोच-पाते सब कुछ नष्ट हो चुके थे । इस तरह की ट्रेजडी, इतने बडे पैमाने पर, विश्व में पहले कभी घटित नहीं हुई थी । बँटवारे के कारण मानवीय संबन्धों में जो दरार, उलझन और अंतर्विरोध पैदा हुए, उन्हें तत्कालीन कहानियों में संवेदनात्मक और वैचारिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है । आबंटन के दौरान हुए जनसंहार मानवीय मूल्यों एवं संबन्धों के जो विघटन हुए, उनका हूबहू चित्रण कहानियों में हुई है । दंगों के कारण मौत की गहराती छाया में अपनी ज़मीन और घर से कटकर रहने की वजह लोगों का आंतरिक और मानसिक विभाजन हुआ था । यह दुर्घटना लाखों लोगों के स्थानान्तरण की समस्या से जुडकर और भी भयावह हो उठी । शरणार्थियों को अपनी कीमती चीज़ों से वंचित रहना पड़ा था - अपने वतन की महक, पास-पड़ोस की यादें, पर्व-त्योहार की खुशियाँ, घर-बार देश और दोस्तों को खोने की तकनीक और वियोग। यह हकीकत है कि विभाजन के दौरान जो दंगे हुए उनमें हज़ारों की मृत्यु हुई, लाखों लोग घायल हुए, अनेकों के घर-ज़मीन जायदाद नष्ट हुए। इन सब के बावजूद आम आदमी के दिलो दिमाग में कहीं भी सांप्रदायिक वैमनस्य नहीं था । उनके मन में एक आदर्श जीवन का जो स्वप्न था वो अचानक झुलस गया था । कतिपय लोग अवश्य सांप्रदायिक थे । लेकिन वे भी दंगे के नशे के उतरने पर पछताने लगे थे ।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी में सांप्रदायिक दंगों का सही एवं यथार्थ चित्रण है । विभाजन संबन्धी कहानियों में पर्याप्त मात्रा में कलात्मक सन्तुलन और वैचारिक निष्पक्षता तथा खुलेपन का परिचय मिलता है ।इन कहानियों का मूल केन्द्रीय स्वर मानवीय करुणा का है । यह करुणा ही है जो इस दुर्घटना में भी मानवीय दृष्टि को धुंधला नहीं होने देती, मानवीय मूल्यों को अप्रासंगिक नहीं बनने देती।

स्वतंत्र्योत्तर कहानी में सांप्रदायिक दंगों का सही एवं यथार्थ चित्रण हुआ है । दंगों का भीषण एवं भयावह वाङ्मय के ज़रिए लोगों को चेतावनी देने की जद्दोज़हद भी कहानीकारों ने की है । इसके तहत उल्लेखनीय कहानीकार हैं अज्ञेय, भीष्म साहनी एवं कृष्णा सोबती । विभाजन के दौरान व्यापक स्तर पर नरसंहार हुए । सभी मानवीय मूल्य और संबन्ध विघटित हुए। "देश विभाजन और सांप्रदायिक दंगे की आँधी-तूफान में व्यक्ति के समस्त मानवीय मूल्य, आस्था और विश्वास पूर्णरूपेण धाराशायी हो गये । मानवीय संबन्धों और मानवीय मूल्यों का विघटन पहले परिस्थिति और भूगोलगत था फिर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्तरों पर चलने लगे।"[1] धार्मिक आधार पर होती पक्षधरताएँ हिन्दू और मुसलमान के बीच खीची गयी सीमाएँ आदि से उत्पन्न भय और अनिश्चितता लोगों को अपने लोगों की ओर भागने को विवश कर देगी, जहाँ वे अपने आपको सुरक्षित समझते हैं।

1. राजेन्द्र यादव - एक दुनिया समानान्तर, पृ. 27

कमलेश्वर के मत में "भयंकर रक्तपात के बीच आंतरिक रूप से एक विघटन समा गया जो कही हमें हमारे दिमागों और दिलों में शरणार्थी बनता चला गया।"[1] इन शरणार्थियों को अपनी चीज़ों से अपनत्व से वंचित रहना पड़ा था - अपने वतन की गंध, पास-पडोस की यादें पर्व-त्योहार की खुशियाँ घर-बार देश और दोस्तों को खोने की तकलीफ इसके अलावा नए स्थान उनके लिए अपरिचित थे । नई जगह में तिरस्कार और अनादर का मुकाबला भी करना पड़ा । इसप्रकार शरणार्थियों के आगे दोतरफा दुःख झेलना पड़ा- एक ओर अपने वतन घर-बार त्योहार पर्व आदि से मोहभंग और, दूसरी ओर नए स्थान पर 'मिस फिट' महसूस होने का संकट। तत्कालीन कहानियों में इन सभी समस्याओं का चित्रण है ।

यशपाल की कहानी

यशपाल ने सांप्रदायिक समस्याओं के प्रति तीखी प्रतिक्रिया प्रकट की है ।सांप्रदायिक द्वेष के कारण बचपन में ही निरीह मन किस प्रकार गलत संस्कारों के शिकार हो जाते हैं इसका यथावत् चित्रण **'हाय राम ये बच्चे'** कहानी में हुआ है । इसमें सांप्रदायिक समस्या के सामाजिक पक्ष को उठाया गया है ।कहानी के ज़रिए आपने यह साबित करने की कोशिश की है कि सांप्रदायिक समस्याएँ मनुष्य की संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियों की देन है । बच्चे अधिकतर बातें अपने परिवेश से ही सीखते हैं । यदि सांप्रदायिक है तो

1. कमलेश्वर - नयी कहानी की भुमिका, पृ. 10

सांप्रदायिक मनोवृत्तियाँ माहौल का हस्तान्तरित हो जाना स्वाभाविक है।

कहानी के वकील जोशी साहब और सिविल सर्जन मीर साहब शिक्षित, संस्कारी एवं पड़ोसी हैं । दोनों आधुनिक विचारों के समर्थक हैं। उनके बच्चे मिशन स्कूल में पढते हैं । ये बच्चे गुडियों के खेल में दिलचस्पी रखते हैं । वकील साहब की नीलू और मीर साहब की नरसू सेहलियाँ है । लेकिन नीलू की माँ और दादी छुआ छूत को मानती हैं। नरसू और उसके भाई बहनों को नीलू की रसोई व पूजा घर में प्रवेश करने की इजाज़त नहीं है । उन्हें कांस या पीतल के बर्तन के बजाय कांच की तश्तरी में नाश्ता परोसा जाता है । वैसे ही नरसू के घर में नीलू तथा उषा को फ्रूट 'चाक्लेट' या बिस्कुट ही दिये जाते हैं । पके खाद्य खाने से ब्राह्मण धर्म के भ्रष्ट होने का भय रहता है । लड़कियाँ हिन्दू-मुस्लिम की लड़ाई का खेल गुड्ड़े-गुडिया के माध्यम से खेलती है । नीलू दादी माँ से छुरी माँगती है । तब चकित दादी माँ की मुँह से निकलती है - "हाय-राम.. देखो ये बच्चे।"[1]

कहानी के प्रारंभ में यशपाल ने व्यंग्य कसा है । "इस देश को सभ्य बनानेवाले अंग्रेज़ देश से जाते समय सभ्यता और सफाई की विरासत अपने-अपने सहकर्मियों को ही सौप गये है ।"[2] जातिगत सांप्रदायिकता तथा अंधविश्वास किसप्रकार मानव को अमानवीय बनाते हैं इसकी ओर ही यशपाल ने तर्जनी उठाई है।

---

1. यशपाल - चित्र का शीर्षक, पृ. 38
2. वही - पृ. 39

नीलू और नरसू काफी तेज़ी से हिन्दू-मुसलमानों के बीच के अन्तर को समझने लगती है । एक दिन नरसू ने नीलू से पूछा ‘एक बात सुन तेरी दादी व अम्मी मुझे रसाई में आने नहीं देती, मेरे सामने खाती पीती भी नहीं, क्या बात है’। बात नीलू ने अच्छी तरह समझाया “तेरी अम्मी जान सलवार पहनती है । वह मुसल्ली है । मेरी अम्मी धोती पहनती है, वह जोशी है।”[1]

बच्चों के मन में यह विचार है कि जब वह बड़े हो जाएँगे तो हिन्दू मुसलमान हो जाएँगें । जब बच्चे गुडिया का खेल खेलती है पोशाक में अन्तर होने के बावजूद सांप्रदायिक भेद से दंगे हो जाने की आशंका नहीं है। जोशी जी ब्राह्मण कुल का है । इसलिए अपने को ऊँचा समझते है । यहाँ यशपाल का व्यंग्य है कि आदमी अपने को जितना भी सभ्य, संस्कृत, प्रगतिशील समझे, जातीय अस्मिता को इन सबसे ऊपर मानता है ।

सांप्रदायिक दंगे के माहौल में अपने ही लोगों के बीच सुरक्षित महसूस करनेवाली मानसिकता का अंकन **खुदा और खुद की लड़ाई** कहानी में हुआ है । सांप्रदायिक दंगे ऐसे माहौल बनाते है कि पराये धर्मावलंबियों के बीच रहना खतरनाक है । इसलिए जनता घर-बार ज़मीन जायदाद सब कुछ छोड़कर अपनी जान की खातिर अपने लोगों के पास जाती है । गंगू की गली में हिन्दू अधिक थे और वहाँ से मुसलमान एक-एक होकर निकलने लगे । फज्जे और बेटा नरसू के अलावा सब चले गए ।

---

1. यशपाल - चित्र का शीर्षक, पृ. 40

फज्जे को छोड़कर नरसू का खून इतना सर्द नहीं था ‘वह काफिर हिन्दुओं से अपमान नहीं सहन कर सकता था । शहर के दूसरे मुसलमान जो कर रहे थे, नरसू भी करना चाहता था । वह भी पाकिस्तान की स्थानपा के धर्मयुद्ध में भाग लेने की उमंग हृदय में दबाये हुए थे । परन्तु डरपोक बाप की ज़िद से मज़बूर था । बूढ़े बाप को हिन्दुओं के गढ में अकेला छोड़ कर कैसे चला जाता।”[1] कर्मचन्द के धमकाने और मटका तोड़ दिए जाने पर नरसु, बाप से कहता है ...“इस काफिरों की माँ को सुअर.. अब यहाँ गुज़ारा नहीं हो सकता। दूसरी जगह कोठरी नहीं मिलेगी तो किसी मस्जिद या दरगाह में ही पड़े रहेंगे।”[2] बाप इससे सहमत नही है । नरसु हिन्दुओं के विरुद्ध के अत्याचार को धर्मयुद्ध समझता है । लेकिन फज्ज मानता नहीं । उसके लिए धर्म, वर्ग जाति आदि का कोई स्थान नहीं है । वह मानवीयता का पक्षधर है । यहाँ सांप्रदायिकता के प्रति पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के अन्तर को व्यक्त करना कहानीकार का लक्ष्य है । पुरानी पीढ़ी सांप्रदायिकता से दूर रहना चाहती है तो नई पीढ़ी सांप्रदायिक राजनीति के शिकार होने के लिए मज़बूर है ।

सांप्रदायिक दंगे के पहले सैद्मिट्ठा और लाहौर में एक मिली-जुली संस्कृति अवश्य थी । कहानीकार ने उसकी सूचना इसप्रकार दी है कि “मुद्दतों से सब बच्चे-बच्चियाँ और युवा-युवतियाँ फज्जे को मामा कहते

1. यशपाल - सच बोलने की भूल, पृ. 84
2. वही - पृ. 84

आये थे । बहु-बेटियाँ सिर पर आँचल लिये बिना भी उसे रंगने के लिए चुन्नियाँ, साड़ियाँ और पगड़ियाँ थगा जाती थीं । रंग मन माफिक न होने का कलफ और अभ्रक कम होने पर उससे लड़ भी लेती थीं । लड़के फटी पतंग जोड़ने के लिए उसकी कलफ की हाडी से उंगलियाँ भर - भर के कलफ लेकर भाग जाते थे ।"[1] फज्जे केलिए उस गली से अपने चालीस वर्ष के संपर्क का भी भरोसा था । फज्जे उस संस्कृति को कायम रखना चाहता है। पर बेटा नरसु के सांप्रदायिक उन्माद ने उसे तोड़ने की कोशिश करता है । नसरत अपने पिता से बार-बार उस गली छोड़ने की बात करता है । तब फज्जे क्रुद्ध स्वर में कहता है - "यह दूकान मेरे बाप ने जमाई थी । तू इसी कोठरी में पैदा हुआ था । इसी गली की औरतों ने तेरी माँ को संभाला था। इसी कोठरी में वह मरी । इसी गली का नमक खाकर तेरे हाथ-पाँव लगे हैं ।"[2] यहाँ परंपरा वतन और मिट्टी के प्रति फज्जे के लगाव के साथ-साथ उस संस्कृति के प्रति भी उसकी अदम्य इच्छा भी व्यंजित है । उसके मन में यह सब पुराने जैसा बन जाने की इच्छा है और आशा भी है इसलिए फज्जे अपने बेटे से कहता है । -"सब ठीक हो जाएगा।"[3]

पर आगस्त 1947 के दूसरे सप्ताह से सैद्‌मिट्‌ठा बाज़ार की स्थिति बदल गयी । मुसलमानों ने हिन्दुओं पर आक्रमण किया । गंगू की गली से हिन्दू जाना नहीं चाहते थे फिर भी जाने के लिए मज़बूर हो गए ।

---

1. यशपाल - सच बोलने की भूल, पृ. 82-83
2. वही - पृ. 89
3. वही - पृ. 84

सिर्फ बेसहारा बूढी औरत मूलताई शेष रह गयी । दंगे में उसकी सारी चीज़ें नष्ट होती हैं । आखिर वह भी सब कुछ छोड़कर, जान की खातिर एकमात्र आसरा पत्थर की मूर्ति लेकर भाग जाती है । लेकिन दंगाइयों ने उसकी हत्या कर दी । कर्फ्यू की सूनी गली के अंधेरे में अपनी गठरी लेकर भागनेवाली मुलांताई की हत्या नरसु ने की थी । कहानी इस सच से हमें रू-ब-रू कराते है कि दंगे की शिकार सचमुच अवाम और औरत है । कहानी नई पीढ़ी की मूल्यहीनता और पुरानी पीढ़ी की इनसानियत को उजागरित करती है । बूढा फज्जे अमानवीयता से सख्त नफरत करता है तो बेटा नरसु पर सांप्रदायिक जुनून सवार है । नरसु की सांप्रदायिक मनोवृत्ति के विरुद्ध फज्जे अपनी घृणा व्यक्त करता है । उसे गालियाँ देता है । लेकिन बेटे पर इसका कोई असर नहीं होता ।

अज्ञेय की कहानी

'शरणदाता' अज्ञेय की बहुचर्चित कहानी है । सांप्रदायिकता को अज्ञेय "छूत की बीमारी समझते थे।"[1] उनके मन में आशंका थी कि वह देश भर फैल रहा है । अज्ञेय ने इस छूत की बीमारी के इलाज की कोशिश भी की है । इसमें विभाजन की त्रासद स्थितियों में ऐसे लोगों की कारुणिक तस्वीरे उभर आई है । इस में सांप्रदायिकता के अंधेरे में भी जुगुनू की तरह चमकती मानवता की झलक भी नज़र आती है । बाहरी परिवेश के दबाव

1. अभयकुमार दुबे - सांप्रदायिकता के स्रोत, पृ. 81

में आकर विघटित संबन्धों और मूल्यों का पूरा ब्योरा इसमें मौजूद है । उस समय लाहौर सांप्रदायिक दंगों की आग में जल रहा था । शहर के हिन्दू और मुसलमान दो खेमों में बँट गये थे । हर मुहल्ले से अल्पसंख्यक, अपनी जान बचाने के लिए भाग रहे थे । अरसों से साथ रहनेवालों में पारस्परिक विश्वास न था । सुरेन्द्र चौधरी के शब्दों में 'शरणदाता' कहानी में एक विशिष्टता यह है कि जब सारे पात्र किसी न किसी विवेकहीन धारा के शिकार होते हैं तब 'जैबू' जैसे चरित्र की परोक्ष झलक प्रस्तुत कर लेखक ने मानव पर आस्था प्रकट की है । अकेली जैबू इस समूची भीड़ के विरोध में मानवता की रक्षा कर लेती है - आदमी की जेहनियत खराब नहीं हो गयी।"[1]

'शरणदाता' विभाजनकालीन दंगों की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है । यह कहानी दो खंड़ों में बंटी हुई है । पहला खण्ड व्यक्ति की विवशता का है तो दूसरा खण्ड अमानवीयता का । दंगे के वातावरण में जिस समय शहर से लोग भाग रहे थे, उस समय रफीकुद्दीन अपने दोस्त देवीन्दरलाल को अल्पसंख्यक की रक्षा का आश्वासन देते हुए लाहौर से बाहर नहीं जाने देता है । देवीन्दरलाल अपने घर में सुरक्षित नहीं रह पाता । उसी दिन उस का घर लूट लिया गया । रफीकुद्दीन के घर में देवीनन्दरलाल चंद दिनों तक ही रह पाया था कि वहाँ भी खतरा मण्डराने लगा । रफीकुद्दीन के घर में एक हिन्दू को शरण मिले यह मुसलमानों को सह्य न था । उसके ऊपर लगातार दबाव पड़ रहा था । देवीनन्दरलाल की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए रफीकुद्दीन

1. सुरेन्द्र चौधरी - हिन्दी कहानी प्रक्रिया और पाठ, पृ. 139

ने उसे अपने मित्र शेख अताउल्लाह के यहाँ पहूँचा दिया । देवींदरलाल को शेख अताउल्लाह के यहाँ खाने में ज़हर दिया जाता है ।

परिवेश ने देवीन्दरलाल और रफीकुद्दीन को मित्र बनाया था । उसी परिवेश ने ही उन्हें अलग भी कर दिया । बदले परिवेश में रिश्ते अर्थहीन हो जाते हैं । रफीकुद्दीन की भाँति अताउल्लाह विवश तो नहीं था । वह देवीन्दरलाल की हिफाज़त कर सकता था, किन्तु उसके लिए देवीन्दरलाल दूसरे संप्रदाय का प्रतीक था । शेख साहब की बेटी जैबून्निसा रफीकुद्दीन की रक्षा करती है । शरणार्थी की रक्षा का धर्म उस कुटिल माहौल में भी जैबू निभाती है । "देवीन्दरलाल ने जाना कि दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है । भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है । घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है ।"[1] शेख साहब की बेटी जैबून्निसा जहर की सूचना देकर इंसानियत का प्रतीक बनकर आती है । धर्म से परे मानवीय सोच उसमें है । नरेन्द्र मोहन के अनुसार "यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन काले अंधेरे दिनों में भी मानवीय करुणा की झलक यंत्र-तंत्र दिख जाती थी।"[2]

देवीन्दरलाल लाहौर से भागकर जब दिल्ली पहुँचता है तो उसे लाहौर के मुहर की एक चिट्टी मिली । चिट्टी जैबू की थी - "आप बचकर

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 61
2. नरेन्द्र मोहन - भारत विभाजन की त्रासदीय अन्त कथा दृष्टि, पृ. 42

चले गए इसके लिए खुदा का लाख-लाख शुक्र । अब्बा ने जो किया या करना चाहा उसके लिए मैं माफी माँगती हूँ और यह भी याद दिलाती हूँ कि उसकी काट मैंने ही कर दी थी । अहसान नहीं जताती.. सिर्फ यह इलतजा करती हूँ कि आपके मुलक में अकलियत का कोई मजलूम हो तो याद कर लीजिएगा ।"[1] देवीन्दरलाल के लिए मानवीय सदाशयता के नाम पर की गई इस अपील का अब कोई अर्थ न था । विषाक्त वातावरण और मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन ने उन्हें यातना के जिस दौर से गुज़रने के लिए मज़बूर किया उसके सामने जैबू की चिट्ठी अर्थहीन है । इसलिए वह उसे मसलकर फेंक देता है ।

उस ज़माने में एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय के खून का प्यासा हो चुका था । फिर रक्षा का प्रश्न कहाँ ? इस माहौल में भी शेख की बेटी निःस्वार्थ भाव से देवीन्दरलाल की रक्षा करती है । रचनाकार यह संकेत देता है कि उस समय वर्ग तो स्वार्थ में डूब गया था, पर व्यक्ति में नि-स्वार्थ चेतना बाकी थी ।

अज्ञेय कृत **'नारंगियाँ'** शीर्षक कहानी में भी सांप्रदायिकता की निन्दा और मानवता की स्तुति की गई है । 'हरसू और परसू' नामक दो निर्धन भाई इसके मुख्य पात्र हैं । ये बात-बात पर लड़त-भिड़ते रहते हैं । परसू हमेशा हरसू को ताने देता रहता है । हरसू प्रायः दीन -भाव से सब कुछ

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप - पृ. 62

सहन कर लेता है । कुछ दिनों बाद हरसू अपने जीविका चलाने हेतु 'नारंगियों' की एक दूकान खोलता है । बच्चे उनकी दूकान के सामने इकट्ठे होते हैं । परसू भी पास के पुलिया में बैठकर सब कुछ देखता रहता है और कभी-कभी हरसू पर व्यंग्य भी करता है । हरसू अपनी दूकान से किसी को भी नांरगियाँ मुफ्त में देन के लिए तैयार नहीं । लेकिन सभी को नारंगियाँ मुफ्त में चाहिए । उस समय एक लड़का पैसे देकर नारंगियाँ खरीदता है और शान से खाता है । अन्य बच्चों को वह नहीं देता । पास की पुलिया पर बैठकर सब नज़ारा देखकर परसू उन बच्चों पर तरस खाकर नारंगियाँ खरीदकर बच्चों में बाँट देता है । नारंगियाँ मिलने पर बच्चे प्रसन्न हो जाते हैं । हरसू व्यावसायिक बुद्धि और वृत्ति से परिचालित होने लगता है जबकि परसू दया-भाव और उदार-वृत्ति से ।

कहानी में हरसू, परसू सरीखे पात्रों के माध्यम से शरणार्थियों की उदारता को उभारने का प्रयास भी किया है । रिफ्यूजी मुहल्ले के बाहर हरसू की नारंगियों की दूकान देखकर मोहल्लेवाले दंग रह जाते है । क्योंकि "जब से हरसू और परसू दोनों भाई अचानक आकर मोहल्ले के सिरे की पुरानी दीवार की एक महराब के नीचे घर बनाकर जम गए थे, तब से किसी ने उनको काम करते या काम की तलाश करते कभी नहीं देखा था । रिफ्यूजी दूसरे मोहल्लों की तरह इस मोहल्ले में भी आए थे, लेकिन सभी बहुत जल्द इस कोशिश में जुट गए थे कि वे शरणार्थी न रहकर पुरुषार्थी कहलाने के

अधिकारी हो जाए । सभी ने कुछ-न-कुछ जुगत कर ली थी या गुज़र-बसर का कोई वसीला निकाल लिया था । लेकिन हरसू और परसू ज्यों के त्यों बने हुए थे ।"[1] परसू हरसू से सभी बच्चों को नारंगी देने को कहता है । यह सुनकर हरसू अचकचाकर अपने भाई की ओर देखता है और धनाभाव की ओर संकेत करते हुए अपनी मज़बूरी का खुलासा करता है । "कहाँ से दे दूँ सब को ? फिर तू ही कहता है कि दूकान कैसे चलेगी और कल को माल कहाँ से खरीद कर लाऊँगा।"[2] तब परसू उनसे पूछता है "अबे, बस, यही है तेरा रिफ्यूजी का जिगरा ? अबे जाना नहीं, हम सब लोग पीछे बड़ी-बड़ी जायदादें छोड़कर आए हैं और देखता नहीं, यहाँ भी कितनों ने फिर जायदादें खड़ी कर ली हैं ? तू ही बता कि पहली बार नारंगी खरीदने को पैसा कहाँ से आया था ?"[3] इसके बाद वह अपनी फटी जेब से अठन्नी निकालकर हरसू को फेंक देता है । हरसू चुपचाप छह नारंगियाँ उठाकर बच्चों को बाँट देता है । इसके बाद बचे हुए दुअन्नी परसू की ओर बढ़ाता है । तब परसू कहता है "... आगे भी तो ऐसे बच्चे आएँगे- उन्हें दे देना । नहीं तो दूकान तेरी कैसी चलेगी ? लोग भी क्या कहेंगे कि रिफ्यूजी बच्चा दूकान करने लगा तो दिन-आत्मा भी बेचकर खा गया ।"[4] परसू का मानना है कि दिल बढ़ने से कोई नहीं मरता, उसके सिकुडने से सब मर जाते हैं । यह कहानी शरणार्थियों

---

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप - पृ. 148
2. वही - पृ. 152
3. वही - पृ. 152
4. वही -पृ. 153

के जीवन के संघर्ष व पुनर्वास केलिए संगठित प्रयत्न को भी उजागर करती है ।

अज्ञेय की **'बदला'** कहानी में मानवीयता का गहरा सन्देश दर्ज है। कहानी की यही सीख है कि अमानवीय कार्यों और हरकतों का असली बदला अमानवीय कार्यों से नहीं, बल्कि मानवीयता से निभाना है । कहानी सांप्रदायिक भेद-भाव पर आधारित है और यह साबित भी करती है कि देश का सबसे बड़ा नुक्सान इसी भेद-भावना के कारण हुआ है । संकीर्णताओं के कारे में कैद होने के कारण हिन्दू-मुस्लिम और सिखों के बीच आपसी शत्रुता की भावना बनी रहती है ।

कहानी का कथ्य छोटा और नुकीला है । यह एक बूढ़े सिख की कहानी है, जिसके परिवार को मुसलमान अत्याचारियों ने दंगे के दौरान मिटा दिया था । शरणार्थी सरदार अपने शेष बचे बेटे के साथ अलीगढ़ की गाड़ी में सफर कर रहा है । इसलिए कि उसे अपना कोई ठिकाना नहीं है । रेलगाड़ी के एक डिब्बे में एक सिख और उसका बेटा पहले से बैठा है, एक स्टेशन पर अँधेरे में एक मुसलमान स्त्री-सुरैया अपने बच्चों के साथ गाडी पर चढ़ जाती है। सरदार को देखकर भीतर से वह भयभीत हो जाती है और चाहती है कि अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकते ही गाड़ी बदल लेगी । सरदार ने सुरैया के मानसिक उद्वेलन को महसूस करते हुए उसे 'बहन' कहकर पुकारा और उसके भीतर के भय को निकालने की कोशिश की । उसने

सुरैया से कहा "आप बैठी रहिए । यहाँ आपको कोई डर नहीं है । मैं आपको अपनी बहिन, समझता हूँ और इन्हें अपने बच्चे...।"[1] फिर एक हिन्दू भी डिब्बे में चढ़ आया । "सुरैया का मन तुरन्त कहा 'हिन्दू'। वह सचमुच डर गयी और थैली पोटली समेटने लगीं।"[2] यह ऐसा समय था कि हर कोई आदमी अपने को आदमी नहीं, बल्कि हिन्दू, मुसलमान और सिख समझता था । जब सुरैया डिब्बा बदलने के लिए सोची और सरदार ने उसे रोकने की कोशिश की तब हिन्दू ने सरदार से कहा 'सरदार जी, जाती है तो जाने दो न आपको क्या?' हिन्दू ने आगे सुरैया को सुनाते हुए कहा दिल्ली में कुछ लोग बताते थे, वहाँ उन्होंने क्या-क्या जुलम किए हैं हिन्दुओं और सिखों पर। कैसी-कैसी बातें वे बताते थे क्या बताऊँ, जबान पर लाते शर्म आती है । औरतों को नंगा करके ... बाप भाइयों के सामने ही बेटियों - बहनों को नंगा करके..."[3] जवाब में सिख ने कहा, "बाबू साहब, हमने जो देखा है, वह आप हमीं को बताएँगे...।"[4] बात को आगे बढ़ाते हुए हिन्दू महोदय ने कहा कि करोलबाग में किसी मुसलमान डॉक्टर की लड़की को...। हिन्दू सरदार के मन में सुरैया के प्रति घृणा, एवं वैर उपजाने की कोशिश करता है । लेकिन सरदार संयम निभाता है । अपनी बीवी बच्चों के कत्ल होने पर भी उसमें प्रतिशोध की भावना नहीं है । किसी के उकसाने पर भी वह संयम खोता नहीं। सरदार सुरैया को आश्वासन देता है "मैं तुम्हें अलीगढ़ तक सुरक्षित

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 70
2. वही - पृ. 71
3. वही - पृ. 71
4. वही - पृ. 72

पहुँचा दूँगा । साथ ही साथ हिन्दू की बातों से वह असहमति भी प्रकट करता है । सुरैया में भी धर्म से बढ़कर मानवीय दृष्टि नज़र आता है। जब सरदार ने अलीगढ़ उतरने की बात कहीं तब सुरैया अनजाने ही कहती है "अलीगढ़... अच्छी जगह नहीं है । आप क्यों जाते है?"[1] हिन्दू बाबू समझता है कि यह अपनी जान जोखिम में डालने के बराबर है । तब सिख कहता है - "मारेगा भी कौन, मुसलमान या हिन्दू । मुसलमान मारेगा तो जहाँ घर के और लोग गये हैं, वही मैं भी जा मिलूँगा और अगर हिन्दू मारेगा तो सोच लूँगा कि यही कसर बाकी थी।"[2] सरदार ऐसी हालत में भी असली और नकली हमदर्ही पहचानता है । सरदार ने हिन्दू बाबू से तिरस्कार पूर्वक कहा - 'रहने दीजिए बाबू साहब।' सरदार सुरैया और उसके बच्चों को बचाकर अलीगढ़ पहुँचाता है । वह कहता भी है - "हमदर्दी बड़ी चीज़ है, मैं अपने को निहाल समझता अगर आप हमदर्दी देने के काबिल होते । लेकिन आप मेरा दर्द कैसे जान सकते हैं ? मुझसे आप हमदर्दी कर सकते - इतना दिल आप में होता तो जो बातें आप सुनाना चाहते हैं, उनसे शर्म के मारे आपकी जबान बंद हो गयी होती - सिर नीचा हो गया होता । औरत की बेइज्ज़ती है वह हिन्दू या मुसलमान की नहीं, वह इनसान की माँ की बेइज्ज़ती है । शेखपुरे में हमारे साथ जो हुआ सो हुआ - मगर मैं जानता हूँ कि उसका मैं बदला कभी नहीं ले सकता, क्योंकि इसका बदला हो ही नहीं सकता । मैं बदला ले सकता

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 72
2. वही - पृ. 73

हूँ और वह यही कि मेरे साथ जो हुआ है, वह और किसी के साथ न हो।"[1] वह मुस्लिम उन्मादियों का बदला ही ले रहा है, पर अपने तरीके से हत्या का जवाब रक्षा से देकर । "मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैंने देखा है, वह किसी को न देखना पड़े और मरने से पहले मेरे घर के लोगों की जो गति हुई वह परमात्मा न करे, किसी की बहू-बेटियों को देखनी पड़े ।"[2] इस प्रसंग में मधुरेश का कथन उल्लेखनीय है "सब कुछ खोकर भी अपने मानवीय विवेक की रक्षा कैसे की जा सकती है, यह कहानी इसे उदाहृत करती है । जिस मजहब के लोगों ने उस बूढ़े सिख का सब कुछ छीन कर उसे इस हालत में पहुँचा दिया है, उसी मजहब के लोगों की रक्षा को उसने अपने जीनव का लक्ष्य बना लिया है ।"[3] हर आने-जाने वाली गाड़ी में वह दिल्ली के लोगों को अलीगढ़ पहुँचाता है और अलीगढ़ के लोगों को दिल्ली । सरदार के अन्दर की इनसानियत जुनून की हद तक जाकर वह सब करता है जो उसके वश में है ।

अज्ञेय की **'लेटर-बक्स'** कहानी एक शरणार्थी बच्चे की कहानी है जिसके माँ-बाप सांप्रदायिक दंगे में मारे जा चुके हैं । वह अपने माता-पिता, परिवार, घर-बार से विछुडकर अकेला पड गया है । वह अपने पिताजी को पत्र लिखना चाहता है । पर उसे पता नहीं पिता इस वक्त कहाँ रहते हैं । लड़का लेटर-बक्स के पास खड़े होकर हर आने जानेवालों से अपने पिता

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 75
2. वही - पृ. 75
3. मधुरेश - हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 45

का पता पूछता है । उसकी हालत का बयान एकदम ह्रदयविदारक है "कितनी बड़ी दुर्घटना को मनुष्य ' न कुछ' करके निकाल देता है यदि उसकी अपने की कोई क्षति नहीं हुई ।"[1] तत्कालीत दौर की नृशंसता का त्रासद चित्र भी कहानी में पेश है । पाँच साल के बच्चे के सामने उसकी माँ की नृशंस हत्या हुई थी । "माँ का मुँह, नाक, जबड़ा कुछ भी नहीं था, लहु से भरा सिर था बस।"[2] बाप तो लापता है । इसलिए लड़का चिट्ठी लेकर बाप के इंतज़ार में पोस्ट-ऑफीस के सामने बैठा रहता है । उसने माँ का खून अपने आँखों से देखा था । कहानी में इसका ज़िक्र है - "माँ को भी उन्होंने पकड़ लिया । माँ चिल्लाई... उस आदमी ने चीखकर माँ को झटके के साथ अलग करके ज़मीन पर पटक दिया और कुलहाड़ी की उलटी तरफ से मुँह पर वार किया - 'माँ चिल्लाई तो रोशन ने आँखें बन्द कर ली, खोली तो माँ का मुँह नाक, जबड़ा कुछ नहीं था ।... और वह आदमी माँ की छाती पर पैर रखकर और चोट करता जा रहा था, मुँह पर। साथियों ने रोशन को पकड़ा और लड़ते-लड़ते भागते चले।"[3] हमलावारों के लिए मानवीय मूल्य एवं संबन्ध निरर्थक होते हैं । वे संवेदन शून्य है । बच्चे के सामने माँ की नृशंस हत्या भी उनके लिए लाजिमी है । कहानी का बच्चा रोशन ऐसे अनेक बालकों का प्रतिनिधित्व करता है जिनके वर्तमान और भविष्य को विभाजन ने अंधकार में डाल दिया था । रोशन प्रतीक्षा कर रहा है कि कोई उसके पिता

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 85
2. वही - पृ. 86
3. वही - पृ. 87

का पता बता देगा । यह अंतहीन इंतज़ार झूठी आशा पर निर्भर है, जो मानवीय करुणा को जागृत करती है । विभाजन के त्रासद दृश्यों ने उसके कोमल दिमाग पर जो छाप छोड़ी है वह उसके लिए ज़िन्दगी भर का झुलसता नरक है ।

अज्ञेय की एक अन्य कहानी **'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई'** शरणार्थी समस्या पर आधारित है । इसमें भावुकता से पिण्ड छुडाकर यथार्थ को सही मायने में आँका गया है । हत्या, और लूट-पाट के परिवेश में समग्र देश, विवेक सन्तुलन व मर्यादा को तितर-बितर करके जिस विष में डूबा था, उसका दंश आज तक मिटा नहीं । इन्हीं विसंगत, विश्रृंखल स्थितियों की अभिव्यंजना इस कहानी में गहराई से की गई है ।

अक्सर समाज में सांप्रदायिक दंगों के भड़क उठने के पीछे ठोस व सशक्त कारण नहीं होते हैं । अफवाहों के कारण दंगे-फसाद की ईजाद होती है । सरदारपुरे के एक दैनिक अखबार में एक छोटी खबर छपी- "अफवाह है कि पाटों के कुछ गिरोह इधर-उधर छापे मारने की तैयारियाँ कर रहे हैं । इस तनिक से आधार को लेकर न जाने कहाँ कहाँ से खबर उड़ी कि जाटों का एक बड़ा गिरोह हथियारों से लैस बंदूकों के गाजे बाजे के साथ खुले हाथों मौत के नए खेल की पर्चियाँ लुटाता हुआ, सरदारपुरे की ओर बढ़ा आ रहा है ।"[1] लोगों में भगदड़ मच गई । सेवेरे की गाडी निकल चुकी थी । इसमें भारी भीड़ रहती थी । जो लोग उसमें घुस न सके वे हितों के बीच

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 75

में धक्का संभालनेवाली कमानियों पर काठी कसकर जम गए । इसी भीड़-भाड़ में तीन अधेड़ उम्र की स्त्रियाँ-सकीना, अमीना व जमीला भी जिन्हें पाकिस्तान जाना था, फँस गईं । भीड़-भाड़ के कारण एक गाड़ी छूट गई । अमीना बोली "एक इस्पेशल ट्रेन आनेवाली है जो सीधी पाकिस्तान जायेगी, उसमें सरकारी मुलाज़िम जा रहे है न ।"[1] वह आगे कहती है "आखिर तो मुसलमान होंगे बेठने क्यों न देंगे?"[2] उस वक्त ज़मीला ने कहा "हाँ आखिर तो अपने भाई है ।" जब गाड़ी आयी तो तीनों उसी ओर लपकीं । उसमें भी अतिशय भीड़ थी और ! वे स्थान पाने में असमर्थ हो जाती हैं ।"[3] इस्लाम धर्म की ही एक उच्च जाति की औरत उन्हें दुत्कारते कहती है "जाना है तो जाओ, थर्ड में जगह देखो । बड़ी आई हमें सिखानेवाली।"[4]

विभाजन की घोषणा के बाद पंजाब से लाखों की संख्या में हिन्दू शरणार्थी भारत की ओर तथा दिल्ली, कानपुर, लखनऊ आदि शहरों से मुस्लिम शरणार्थी पाकिस्तान की ओर निकले थे । हर जगह आक्रमण की भीषण स्थिति बनी हुई थी । ऐसे समय में प्रत्येक को अपनी अपनी सुरक्षा की चिन्ता थी । जहाँ हिन्दू हिन्दू के लिए पराया था । ठीक उसी प्रकार मुस्लिम भी मुस्लिम के लिए पराये थे । इस कहानी के ज़रिए अज्ञेय ने इस सत्य का रेखांकन किया है कि संकट के समय एक मुस्लिम दूसरे मुस्लिम

---

1. अज्ञेय - ये तेरे प्रतिरूप, पृ. 77
2. वही - पृ. 78
3. वही - पृ. 78
4. वही - पृ. 79

के साथ किस प्रकार अमानवीय ढंग से पेश आता है । मतलब संकटकालीन स्थिति में इनसानियत की जो विरूपता प्रकट होती है, इसका यथार्थ चित्रण कहानी में हुआ है । तथाकथित उच्च वर्ग के अहं तथा अमानवीयता को स्पष्ट करने के साथ-साथ इस्लामी बन्धुत्वभाव कितना खोखला और सीमित है इसे भी यह कहानी स्पष्ट करती है । कहानी के अन्त में जमीला की गाडी चलने पर की गई 'थू' में उसका सारा आक्रोश एवं खेद प्रकट होता है ।

मोहन राकेश की कहानी

मोहन राकेश की कहानी **'मलबे का मालिक'** देश विभाजन और सांप्रदायिक दंगों के सन्दर्भ में लिखित बहुचर्चित उत्कृष्ट कहानी है । देश के बँटवारे ने संवेदना के स्तर पर अनेक रचनाकारों को प्रभावित किया था । आज़ादी के साथ ही हिन्दुस्तान का एक डुकड़ा पाकिस्तान बन गया था। इस विभाजन के फलस्वरूप ही हिन्दू और मुसलमानों में भयानक सांप्रदायिक दंगे हुए जिनमें हज़ारों बेकसूर लोग मारे गए । अत्याचार, बलात्कार और खून खराबा का जो नंगा नाच हुआ उसने मानवीय संबन्ध और जीवन मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लगा दिया था ।

कहानी में इसका चित्रण है कि विभाजन के साढ़े-सात साल बाद लाहौर से मुसलमानों की एक टोली हाँकी का मैच देखने भारत आती है । वास्तव में हॉकी का मैच तो बहाना था, यह लोग उन घरों को देखने आये

थे जो साढ़े सात साल पहले उनके थे । इन लोगों ने बड़े आस्था से एक दूसरे के समाचार पूछे । इतने वर्षों में अमृतसर काफी बदल चुका था । कई जगह पर नये मकान बन गये थे, पर कई जगह मलबे की ढेर थी । लाहॉर से आयी इस टोली में अब्दुल गनी नामक एक बूढ़ा मुसलमान भी था । अब्दुल गनी पहले ही अमृतसर छोड़ चुका था, पर उसका लड़का 'चिराग' अपने परिवार के साथ यहीं रह गया था । उसके परिवार में उसकी पत्नि जुबैदा, लड़कियाँ किश्वर और सुलतान थी । विभाजन के समय हिन्दू-मुसलमानों में जो दंगे हुए उसमें 'रक्खे' नामक पहलवान ने उसके मकान पर कब्जा करने के लिए चिराग और उसके परिवार को मौत के घाट उतार दिया था । इस घटना के पश्चात् उस मकान में किसी ने आग लगा दी और वह मलबे का ढ़ेर हो गया। गनी ने अपने नातेदारों के साथ दंगे में जलाए गए मकान को फटी-फटी आँखों से देखता रहा । "चिराग और उसके बीवी-बच्चों की मौत को वह काफी अर्सा पहले स्वीकार कर चुका था, मगर अपने नए मकान को इस रूप में देखकर उसे जो झुनझुनी हुई, उसकेलिए वह तैयार नहीं था । उसकी जबान पहले से और शुष्क हो गयी और घुटने भी ज़्यादा कांपने लगे ।"[1] वह सोचता है कि रक्खे पहलवान के होते हुए अपने परिवार की बर्बादी कैसे हुई? मलबे को बहुत निकट से देखकर उसके मुँह से निराशापूर्ण शब्द निकलते है 'यह बाकी रह गया है'। यह मलबा उसे नष्ट स्मृतियों की याद दिलाता है । दिन भर अपने वतन में गुज़र कर और अपनी कामनाओं से ढहे

1. सं. विजय देव झारी, नफीस अफ्रीदी - मुस्लिम परिवेश की विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 91

हुए मलबे को देखकर शाम को गनी मियाँ वापस चला जाता है ।

वह रक्खे से कहता भी है - "देख रक्खे पहलवान क्या से क्या हो गया है । भरा पूरा परिवार घर छोड़कर गया था और आज यहाँ यह मिट्टी देखने आया हूँ । बस घर की आज यही निशानी रह गई है । सच पूछे तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने को मन नहीं करता ।"[1] अपने वतन के प्रति, मिट्टी के प्रति मनुष्य की ईहा को कहानीकार ने अभिव्यक्ति दी है। मलबे को देखकर गनी की आँखों से आँसू बहने लगे व वह अपने पुत्र चिराग के लिए रोने लगा । गनी यह सोच नहीं सकता था कि रक्खा पहलवान ने ही उसके परिवार का सत्यानाश किया है । वह आत्मीयता से उससे कहता है "तू बता रक्खे, यह सब हुआ किस तरह? गनी किसी भी तरह अपने आँसू रोककर बोला, तुम लोग उसके पास थे सब में भाई-भाई की सी मुहब्बत थी। अगर वह चाहता तो तुम में से किसी के घर में नहीं छिप सकता था।"[2]

गनी की यही करुण अवस्था को देखकर रक्खे भीतर ही भीतर कांप उठा। उसकी आवाज़ में एक अस्वाभाविक सी गूँज थी । उसके होंठ गढ़े लाल से चिपके गये थे । मूँछों के नीचे से पसीना उसके होठों पर आ रहा था । उसके माथे पर किसी चीज़ का दबाव महसूस हो रहा था और उसकी रीढ़ की हड्डी किसी का सहारा चाह रही थी । कहानी के यह वाक्य स्पष्ट करते हैं कि मानवीय संबन्ध और जीवन मूल्य कहीन न कहीं व्यक्ति

1. सं. विजय देव झारी, नफीस अफ्रीदी - मुस्लिम परिवेश की विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 85
2. वही - पृ. 86

के मन को कचोटते हैं । बात को बदलते हुए रक्खे ने पूछा 'पाकिस्तान में तुम लोगों का क्या हाल है । जवाब में गनी ने कहा -“मेरा हाल तो मेरा खुदा ही जानता है । चिराग वहाँ साथ होता तो और बात थी । ...“मैंने उसे कितना समझाया था कि मेरे साथ चल । पर वह ज़िद पर अड़ा रहा कि नया मकान छोड़कर नहीं जाऊँगा। यह अपनी गली है । यहाँ कोई खतरा नहीं है । ... रक्खे उसे तेरा बहुत भरोसा था ।.. कहता था कि रक्खे के रहते मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । मगर जब जान पर बात आई, तो रक्खे के रोके भी न रुका।”[1]

गनी की इस बात को सुनकर रक्खे पहलवान को भीतर ही भीतर पश्चाताप हो रहा था । उसे खुद अपने विश्वासघात पर दुःख हो रहा था । कहानीकार ने संकेत भाषा में सभी कुछ कह दिया है - “रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी बहुत दर्द कर रही थी । अपनी कमर 'और जांघों' के जोड पर उसे सख्त दबाव महसूस हो रहा था । पेट की अँतड़ियों के पास से जैसे कोई चीज़ उसकी साँस को रोक रही थी । उसका सारा जिस्म पसीने से भीग गया था और उसके तलुओं में चुनचुनाहट हो रही थी । बीच-बीच में नीली फूलझड़ियाँ - सी ऊपर से उतरती और तैरती हुई उसकी आँखों के सामने से निकल जातीं । उसे अपनी जबान और होठों के बीच एक फासला-सा महसूस हो रहा था । उसने अंगोछे से होठ के

1. सं. विजय देव झारी, नफीस अफ्रीदी - मुस्लिम परिवेश की विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 90

कोणों को साफ किया । साथ ही मुँह से निकला - "हे प्रभु तू ही है, तू ही है, तू ही है । गनी ने रक्खे पहलवान के मुँह से किसी पश्चाताप के अर्थ को संभवतः न समझा हो और उसने कहा 'जो होना था हो गया रक्खिआ! उसे अब कोई लौटा थोड़े ही सकता है । खुदा नेक की नेकी बनाए रखे और बद की बदी माफ करें ।"[1] मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया है तो समझूंगा कि चिराग को देख लिया । अल्लाह तुम्हें सेहतमंद रखे । गनी का यह कहना रक्ख के मन पर फिर से एक गहरा आघात था, जो उसे भीतर ही भीतर कुरेद रहा था ।

यह कहानी जैसे उपर्युक्त सूचित किया मानवीय संबन्ध और जीवन मूल्यों पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न लगाती है । कहानी का गनी मियाँ अपने पुत्र और उसकी बीवी-बच्चों की हत्या करने पर भी, रक्खे पहलवान को माँफी देता है । गनी मियाँ के मानवीय संस्पर्श पाकर उसके स्नेह, करुणा, ममता से रक्खे की अमानवीयता चूर हो जाती है और उसका व्यवहार ही बदल जाता है । वह परिचित लोगों के अपनी शाही आवाज़ नहीं देता है और अपनी वैष्णों देवी की यात्रा का विवरण सुनाता है जो उसने पन्द्रह साल पहले की थी । इसप्रकार अमानवीयता से मुक्त रक्खा मलबे की हकदार नहीं बनता है । वह मनुष्य बनता है । राकेश की यह कहानी न तो हिन्दू - मुसलमानों के संघर्ष का चित्रण करती है और न ही किसी संप्रदाय विशेष का पक्ष लेती

1. मोहन राकेश - मोगन राकेश का कहानियाँ, पृ. 91

है । पर मानवीय संबन्ध और जीवन मूल्यों के प्रति गहरी संवेदना को व्यक्त करती है । डॉ. हेतु भरद्वाज के शब्दों में "कहानी में मलबा भारत विभाजन की विभीषिका से उजड़े जीवन का प्रतीक है तथा प्रतीक है उस मासूम ज़िन्दगी का जो सांप्रदायिकता के शिकार हुई । जीवन की इस विषण्ण स्थिति को व्यक्त करने के लिए मलबा एक सटीक प्रतीक है ।"[1]

मोहन राकेश की लगभग सभी कहानियों में मानवीय संबन्ध और जीवन मूल्यों का अंकन कहीं न कहीं हुआ है । देश विभाजन पर लिखी गई उनकी कहानियों में जहाँ एक ओर विभाजन की त्रासदी को झेल रहे पात्रों का यथार्थ चित्र अंकित किया गया है, वहीं दूसरी ओर युगानरूप बदलते जीवन मूल्यों को भी चित्रित किया गया है । इस कहानी में बंटवारे के बाद शरणार्थी शिविरों के लोगों की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है । **'क्लेम'** के माध्यम से व्यक्तियों की मनोभावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्र भी प्रस्तुत है । शरणार्थी कैंप में रहते शरणार्थियों की भीषण स्थिति यह है कि उन्हें घोर अभावग्रस्तता का सामना करना पड़ता है और उसके कारण संबन्धों एवं संवेदनाओं में परिवर्तन भी आ जाता है । कहीं उन्हें मनुष्य का दर्जा भी हासिल नहीं होता । 'क्लेम' के पैसे की संभावना से कई लोग, अलग-अलग मनसूबे बाँधने लगते हैं । क्लेम से अधिक से अधिक पैसा कैसा लिया जाए यही ज़्यादातर लोग सोचते हैं । सरकारी योजना तात्कालिक समस्या के

---

1. डॉ. हेतु भरद्वाज - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानव प्रतिमा - पृ. 205

कारण बनी थी, किन्तु इस तात्कालिक परिस्थिति ने आदमी के अन्तस्थ को कितना प्रभावित किया था इसका अत्यन्त प्रभावशाली निरूपण इस कहानी में हुआ है । सरकारी कर्मचारियों का भ्रष्टाचार और शरणार्थियों के बीच उपजी स्वार्थ बुद्धि ने स्थितियों को और बिगाड़ दिया है । साधुसिंह इसप्रकार का शरणार्थी है । वह आदमी कितनी जलदी स्वार्थ पर उत्तर आता है और छोटी -बड़ी प्राप्ति से मूल्यों को किस तरह ताक पर रखकर झूठ बोलने को तैयार हो जाता है । यह देखने लायक है - "तांगे में बैठे तीनों सवारियों क्लेम्स के दफ्तर की थीं । रास्ते में ये सवारियाँ वार्तालाप कर रही हैं । कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने अपनी जायदाद से अधिक क्लेम किया था और उसका क्लेम मंज़ूर भी हो गया था । कुछ ऐसे ईमान्दार भी थे जिन्होंने उतना ही क्लेम किया जितनी उनकी संपत्ति थी किन्तु वे घाटे में रहे । अब वे सोचने लगे कि अगर कुछ ज़्यादा संपत्ति लिखा देते तो उन्हें क्लेम की धन राशी और अधिक प्राप्त हो सकती थी । आगे बैठा सरदार कह रहा था कि उसका साठ हज़ार का क्लेम मंजूर हुआ है जिसमें आधा पैसा उसे नकद मिलेगा और आधा जायदाद की शक्ल में । पीछे बैठी स्त्री रो रही थी कि बेड़ा गर्क हो क्लेम मंज़ूर करने वालों का, जो उसका सिर्फ अठारह हज़ार का क्लेम मंज़ूर किया गया है। .... अगर उन्हें पहले पता होता तो वे आधा कनाल, ज़्यादा लिख देते... वे अपनी सच्चाई में मारे गए ।"[1] इसी तरह चक्कर काटते-काटते उसके पति की मृत्यु हो गई और खुद भी बीमार रहने लगी है।

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 113

"पता नहीं, मुझे अपने जीते जी इन कसाइयों का पैसा देखने को मिलेगा या नहीं ? मुझे लगता है कि मैं भी इसी में मर खप जाऊँगी और मेरे बच्चे पीछे बिलगते रहेंगे।"[1] उसका लहजा ऐसा था जैसे वह किसी से बात न करके किसी से फरियाद कर रही हो । इससे स्पष्ट है कि क्लेम की राशी मिलने के लालच में आदमी अपने मूल्यों को भूलकर अधिक राशी कैसे मिलेगी इसी के चक्कर में लगे हैं । ताँगे में बैठी विधवा स्त्री को इस बात का दुःख हो रहा था कि उसके पति ने क्लेम अधिक नहीं भरा । वह कहने लगी - "मैं कहती रही कि जितना छोड़ आए हो, उससे ज़्यादा का क्लेम भरो। मगर ये ऐसे मूरख थे कि हठ पकड़े रहे कि जितना था, उतने का ही क्लेम भरेंगे - पहले ही इतने दुःख उठाए है अब और बेईमानी क्यों करें ? आज ये मेरे सामने होते, तो मैं पूछती कि बताओ बेईमानी करनेवाले सुखी हैं या हमलोग सुखी हैं? लोगों ने जितना छोड़ा था, उसका दुगुना-तिगुना वसूल कर लिया और मैं बैठी हूँ छः हज़ार लेकर ।"[2] इस स्त्री की पीड़ा यह है कि उसके पति ईमान्दार थे और अपनी ईमान्दारी के कारण उन्होंने अपने जीवन मूल्यों को नहीं छोड़ा । उन्हें क्लेम के माध्यम से अधिक से अधिक राशी प्राप्त करना अनुचित लगा । दूसरी तरफ तांगों में ही एक ऐसा व्यक्ति बैठा था जिसके अभी तक कुछ नहीं मिला था । वह कहता है कि हमारा कसूर यही है कि मियाँ बीवी दोनों सलामत हैं । मैं, अगर मर गया होता तो मेरे बच्चों को भी

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 114
1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 115

अब तक दो रोटियाँ नसीब हो जातीं ।‘आँखें मेरी अंधी हो रही है, जोड़ मेरे दर्द करते हैं - मैं जीता हुआ भी क्या मुरदों से बेहतर हूँ ।मगर सरकार के घर में ऐसा अंधेर है कि लोग इनसान की ज़रूरत को नहीं देखते, बस जीते, हुए और मरे हुए का हिसाब करते है ।तांगे में बैठे हर व्यक्ति का अपना दुःख और अपनी व्यथा है ।हर व्यक्ति क्लेम के पीछे भाग रहा है किन्तु क्लेम की इस अंधी दौड में भी कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने क्लेम नहीं किया ।ये अपने जीवन मूल्यों से कहीं पर भी समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे । ऐसे ही व्यक्ति था तांगेवाला साधुसिंह।

वह ताँगा चलाता है ।घोड़े के चारा खरीदने की आमदनी तक नहीं कमा पाता है ।बँटवारे के वक्त उसने अपनी नवविवाहिता बीवी को खोया था ।अपना वतन, एवं अपनी जलवायू से उखाड़कर फेंक दिया गया था । सवारी के बीच पुरानी यादों से वह गुज़रता है ।विभाजन के पूर्व वह पत्तोकी के मकान में नौ रुपये महीने के किराए पर रहता था, किराए में होते हुए भी उसके लिए वह घर,वतन, आम का पेड़ आदि ‘अपना’ महसूस होते थे और वहाँ बड़ी खुशी का अनुभव करता था और सुन्दर सपने भी देखता था । दंगाइयों ने जब उनके घर पर हमला किया तो, साधु सिंह तो दीवार फांद कर भागने में कामयाब हो गया परन्तु पत्नि दंगाइयों के हाथ लग गई ।उसका अपना जो कुछ था उन सबको बलवाइयों ने चकनाचूर कर दिया ।उसकी चाहत और स्वप्न सब कुछ यौवन में ही बुझा दिए गए ।केवल नाम, वल्द

कौम ही बाकी रह गए । साधुसिंह अपनी दुःखद स्मृतियों से बचना चाहता है । लेकिन बच नहीं पाता । विभाजन और उसके बाद की घटनाओं की स्मृतियों से बच पाना तत्कालीन जनता के लिए संभव नहीं था । इस संदर्भ में नरेन्द्र मोहन का कथन उपादेय है "मेरे लिए बंटवारा महज एक घटना नहीं है । वह इतिहास का एक जलता हुआ टुकड़ा है जो हम से बिना पूछे हमारी आत्माओं में समा गया है और हम कुछ नहीं कर सके हैं । दोस्त, तुम इतिहास से कन्नी काट सकते हो, इतिहास में फैली हुई स्मृतियों से मुँह नहीं मोड़ सकते । तुम कोशिश भी करोगे तो वे स्मृतियाँ तुम्हारी पीछा नहीं छोड़ेंगी । तुम मानो न मानो इतिहास और स्मृति मेरे लिए एक ही सिक्के के दो पहलू हैं एक दूसरे में गूँथे हुए।"[1] साधुसिंह के घर की अपनी एक खास तरह की गंध थी, जो कपड़ों की गाँठ से लेकर आँगन की दीवारों तक हर चीज़ में समाई हुई थी- "वह गंध...। और वे रातें जो आँगन में लेटकर आसमान की ओर ताकते हुए बीती थी और आनेवाली ज़िन्दगी के सब मनसूबे जो उस घर की देहलीज़ के आर पार जाते दिल में, बना करते थे।"[2] साधुसिंह के सारे सपने टूट गए । एक तरह की निराशा, यंत्रणा और बेचैनी उसकी ज़िन्दगी को घेर रही थी । इन शरणार्थियों के अपने वतन, मिट्टी या धन ही नहीं बल्कि इज्ज़त, अरमान, ज़िन्दगी सब कुछ बर्बाद हो गए । इन्हीं परिस्थितियों में साधुसिंह सोचता है कि वह किसका क्लेम करे ? "उस आम के पेड़ की... उस घर की.. उन रातों की... घर के दहलीज़ के अन्दर -बाहर

1. नरेन्द्र मोहन - विभाजन की त्रासदीय भारतीय कथा दृष्टि, पृ. 42
2. मोहन राकोश - जानवर और जानवर, पृ. 117-118

जाते मन में उठनेवाले उन मनसूबे की.. हीरा के साथ रहकर उस स्पर्श सिहरन कल्पना भविष्य की...।"[1] देश को बाँटने वालों ने शायद यह नहीं समझा कि अतीत की स्मृतियों में उसके जैसे कितनों के सुख स्वप्न विलीन हो जायेगे । इसका क्लेम अब वह किससे कर सकता है । देश के बंटवारे के साथ अपना सब कुछ पराया हो गया था । शरणार्थी साधुसिंह के आगे सबसे बड़ी समस्या क्लेम का फार्म बन गयी । वह फार्म के खाने में क्या भरेगा । उसमें मात्र ज़मीन, जायदाद, संपत्ति भरने के खाने मात्र है , पर उसकी क्षतिपूर्ति कौन करेगा? कैसे करेगा ? विभाजन के मुख्य देन स्थानान्तरण ही है । यह स्थानांतरित जनता अपने पाँवों पर खडे होने के लिए कड़ी मेहनत और घोर संघर्ष कर रही थी । ज़्यादातर जगहों पर शरणार्थियों के प्रति वहाँ के निवासियों का दृष्टिकोण विदेशी, चोर था खानाबदोश जैसे हैं, जो उनकी जीवन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने आये हैं ।

स्वाधीनता के पश्चात् संपूर्ण देश में मानव संबन्ध और मूल्यों में जो गिरावट आयी है, उसका यथार्थ चित्रण **'परमात्मा का कुत्ता'** में हुआ है। जीवन के मूल्य इतने गिर गये है कि रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार सामान्य सी बात हो गई है । इस कहानी में राकेश जी ने प्रशासन और तंत्र में फैले खोखलेपन, भ्रष्टाचार, घूसखोरी और रिश्वतखोरी पर करारा व्यंग्य किया है। प्रशासन में चपरासी से लेकर सबसे बडे अधिकारी तक भ्रष्टाचार में लिप्त

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 118

है । परिणामतः सारा प्रशासन निष्क्रिय और ठप्प हो चुका है ।

कहानी में विभाजन से पीड़ित एक शरणार्थी का चित्रण है जो क्लेम के दफ्तर में चक्कर लगा कर थक चुका है । उसने दो साल से दफ्तर में अर्ज़ी दे रखी थी । उस आदमी को सरकार की ओर से जो ज़मीन मिली वह गड़ढ़ा था और वह दूसरी ज़मीन लेना चाहता था जिसमें खेती करके अपना जीविकोपर्जन कर सकें । किन्तु पूरे दो साल में भी जब उसकी अर्जी पर कोई निर्णय नहीं लिया गया तो वह अपनी बीवी और बच्चों के साथ दफ्तर में आके सभी को ललकारता है । समय की सच्चाई से वाकिफ परमात्मा का कुत्ता, क्लेम के दफ्तर के चारों ओर इकट्ठे लोगों के सामने भौंक्कर गालियाँ देकर, अपना गुस्सा, दर्द, संकट आदि सब कुछ उगलता है । दफ्तर के चारों ओर चक्कर काटकर ज़ोर ज़ोर से घुटनों पर हाथ मारकर ललकारता है “सरकार वक्त ले रही है । दस पाँच साल में सरकार फैसला करेगी कि अर्जी मंज़ूर होनी चाहिए या नहीं । सालों, यमराज भी तो हमारा वक्त गिन रहा है । उधर वह वक्त पूरा होगा और इधर तुमसे पता चलेगा कि हमारी अर्जी मंज़ूर हो गई है।”[1] चपरासी अपने हथियार लिए हुए माथे पर त्योरियाँ चढ़ाकर उससे कहता है, “ए मिस्टर चल यहाँ से बाहर । चल... उठ...। वह चपरासी की इन बातों को अनसुनकर अपने भीतर के क्रोध को यों व्यक्त करता है । मिस्टर आज यहाँ से नहीं उठ सकता ।.. ‘मिस्टर आज यहाँ का

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 87

बादशाह है । पहले मिस्टर देश के बेताज बादशाहों की जय बुलाता था । अब वह किसी की जय नहीं बुलाता । अब वह खुद यहाँ का बादशाह है।.... बेताज बादशाह । उसे कोई लाज शरम नहीं है । उस पर किसी का हुकम नहीं चलता । समझे चपरासी बादशाह ।"[1] उसका कथन एक ओर उसके आक्रोश को जाहिर करता है तो दूसरी ओर शासकीय तंत्र में गिरते मूल्यों की स्थिति की पोल भी खोलती है । जब चपरासी उसे कहता है, "तुझे अभी पुलिस के सुर्पुद कर दिया जायेगा तो तेरी सारी बादशाही निकल जाएगी । चपरासी की बात सुनकर शरणार्थी ने ज़ोर से हँसते हुए कहा "तेरी पुलिस मेरी बादशाही निकालेगी ? तू बुला पुलिस को । मैं पुलिस के सामने नंगा हो जाऊँगा और कहूँगा कि निकालो मेरी बादशाही । हम में से किस-किस की बादशाही निकालेगी पुलिस ? ये मेरे साथ तीन बादशाह और है । यह मेरी भाई की बेवा है - उस भाई की जिसे पाकिस्तान में टांगों से पकड़कर चीर दिया गया था । वह मेरे भाई का लड़का है जो अभी तेपदिक का मरीज़ है और यह मेरे भाई की लड़की है जो अब ब्याहने लायक हो गई है...। तू ले आ जाकर अपनी पुलिस, आकर इन सबकी बादशाही निकाल दे । कुत्ता साला...।"[2]

'कुत्ता साला' आवाज़ को सुनकर कार्यालय की बाबू लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है । गाली गलौज करने पर उसे समझाते है । पर वह

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 89
2. वही - पृ. 89

और उबलकर फिर से कहता है "एक नहीं तुम सब के सब कुत्ते हो । तुम भी कुत्ते हो, मैं भी कुत्ता हूँ । फर्क इतना है कि तुम सरकार की तरफ से भौंकते हो । मैं परमात्मा का कुत्ता हूँ ।"[1] उसकी दी हुई हवा खाकर जीता हूँ और उसकी तरफ से भौंकता हूँ ।उसका घर इन्साफ का घर है । मैं उसके घर की रखवाली करता हूँ । तुम सब उसके इन्साफ की दौलत के लूटेरे हो। तुम पर भौंकना मेरा फर्ज है, मेरे मालिक का फरमान है । मेरा तुमसे असली बैर है । कुत्ते का बैरी कुत्ता होता है । तुम मेरे दुश्मन हो, मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ ।"[2] उसके हंगामे से क्लेम दफ्तर के बाबुओं की नींद खुलती है और विभाजन के नौ साल बाद कमिश्नर उसकी अपील पर कार्यवाही का आदेश देता है । कमिशनर साहब स्वयं उस व्यक्ति को अपने पास बुला लेता है । जब वह कमरे में दाखिल हुआ तुरंत घंटी बजी, फाईलें हिली, बाबुओं को बुलाया गया और आधे घंटे उस आदमी का केस तय कर दिया गया वह आदमी मुस्कुराता हुआ बाहर निकला । उत्सुक भीड़ ने उसे आते देखा तो वह फिर बोलने लगा - "चूहों की तरह बिटर-बिटर देखने में कुछ नहीं होता। भौंको, भौंको, सबके सब भौंको । अपने आप में सालों के कान फट जाएँगें। भौंको कुत्तों, भौंको ।"[3]

राकेश यह स्पष्ट करना चाहता है कि मूल्य और भ्रष्ट शासन में अवाम को कितना भटकना पड़ता है । बगैर रिश्वत के कोई काम नहीं होता।

---

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 90
2. वही - पृ. 91
3. वही - पृ. 91

सिफारिशें जुटानी पड़ती है फिर भी काम नहीं होता । सिफारिशें जुटानी पड़ती है फिर भी काम कहीं न कहीं आड़ जाता है । लेखक के भौंकने शब्द का सांकेतिक विशेष अर्थ विद्रोह है । "लेखक भौंकने के नीति के स्तर पर ही छोड़ नहीं देता, उसमें से विद्रोह का अर्थ और एक उपलब्धि भी प्राप्त करता है । यानी भौंकने से व्यवस्था टूटती है । बेहयायी से बरकत हासिल होती है ।"[1]

विभाजन के साथ हुए सांप्रदायिक दंगों के कारण ही शरणार्थी शिविरों की ज़रूरत पड़ी थी । अनेक शरणार्थियों का जीवन दूभर हो गया था । इसके सही चित्रण की वजह से ही यह कहानी गौरतलब बनती है ।

विष्णु प्रभाकर की कहानी

विष्णु प्रभाकर की कहानी **'मेरा बेटा'** हिन्दू मुस्लिम दंगे की पृष्ठभूमि में रची गयी है । धार्मिक उन्माद और कट्टरता मनुष्य को ऐसे नीचे स्तर तक ले जाती है कि वह अपने माँ बाप और भाई से भी नफरत करने लगता है ।इस सिलिसिले में आदमी आदमी नहीं, काफिर और म्लेच्छ बन जाता है ।

इस कहानी के कथानक का ताना-बाना तीन पीढ़ियों को एक साथ रखकर बुना गया है । डॉक्टर हसन, उसके पिता अनवर और बूढे दादा के

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी कहानीः अंतरंग पहचान, पृ. 125

माध्यम से लेखक ने सांप्रदायिकता के सन्दर्भ में तीन पीढ़ियों के वैचारिक अन्तर को स्पष्ट किया है । इसके साथ यह भी स्पष्ट किया है कि समय के अंतराल ने किस तरह एक ही परिवार को सांप्रदायिक आधार पर बाँट रखा है । कहानी का पात्र अनवर का भाई रामप्रसाद ज़ख्मी होकर अस्पताल में है । यह बात जानकर अनवर परेशान होता है । भाई होते हुए भी हिन्दू होने के कारण वह उससे नफरत करता है । कहानी में लिखा गया है, उनके चेहरे की झुर्रियों में नफरत उभरती आ रही थी । उन्होंने जलती हुई आँखों से हसन की तरफ देखा और कहा "हाँ मैं कानपुर के रामप्रसाद को जानता हूँ और मैं उससे नफरत करता हूँ ।... और उसके मरने का मुझे ज़रा भी रंज नहीं है ।"[1]

काम के बाद अस्पताल से आए डॉ. हसन को एक ज़ख्मी की हालत नाजुक होने की वजह से लौटना पड़ा । वह ज़ख्मी डॉ. हसन के पिता डॉ. अनवर का भाई था । यह जानकर डॉ. अनवर के चेहरे की झुर्रियों में नफरत उभरने लगी । ज़ख्मी को होश आ गयी तो अन्दर के कमरे से अनवर के अब्बा याने डॉ. हसन के दादा आ गए । तब और सारी बातों का पता चला। कांपते हुए उसने कहा "मैं होश में हूँ मेरे बच्चे, मैं उसके पास जाऊँगा, आखिर वह मेरा बेटा है, कोई गैर नहीं, मैं मुसलमान हूँ और वह हिन्दू, वह मुझसे, मेरे बच्चों से नफरत करता है । पर वह भी मेरा बच्चा है।

---

1. (सं) गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 156

मैं उससे नफरत नहीं करता, हसन.. मैं उससे पूँछगा मैं मुसलमान हो गया तो क्या हुआ 'हमारा बाप-बेटे का नाता तो नहीं टूट सकता, आखिर उसकी रगों में अब भी मेरा खून बहता है, इतना ही जितना अनवर की रगों में नहता है, शायद ज़्यादा ।"[1] इसप्रकार धर्म के नाम पर मानवीय रिश्तों के टूटने का त्रासद रेखांकन इस कहानी में हुआ है । लेकिन दादा के ज़रिए यह उदात्त भाव भी दिखाया गया है कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान सबकी नसों में एक ही खून बह रहा है ।

कहानी में सांप्रदायिक समस्याओं से जुड़े दो मुद्दे खासतौर से उठाए गए है । पहला है रक्तपात का । क्या हिन्दू मुसलमान आपस में कोई फैसला नहीं कर सकते ? कहानीकार का अभिमत है कि फैसला तो तब हो जब वे एक दूसरे की बातें समझे । असली बात तो यह है कि वे फैसला करना ही नहीं चाहते । वे लड़ना चाहते हैं और लडते रहेंगे । इसलिए वे एक दूसरे की बात समझने से इनकार करते है । सांप्रदायिकता से जुडी दूसरी बात नफरत की है । लेखक ने तीन पीढियों के पात्रों का सायास सृजन किया है । धर्म परिवर्तन के बाद रामप्रसाद के लिए अनवर के मन में जिस तरह की नफरत है, उससे सांप्रदायिकता से सीधे प्रभावित पीढी की नफरत का संकेत मिलता है । दोनों सगे भाई है, रामप्रसाद बड़ा और अनवर छोटा । नई पीढ़ी सांप्रदायिकता के विकास के साथ-साथ विकसित हुई है । यथार्थ का

1. (सं) गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 158-159

सर्वाधिक प्रभाव इन्हीं पर पडा है, इसलिए सांप्रदायिक समस्याओं के प्रति इनकी प्रतिक्रिया तीव्र है । ये एक-दूसरे से नफरत करते हैं । इस नफरत के प्रभाव में अनवर के पिता शरीक नहीं है । उनके लिए दोनों लडके बराबर हैं । तीसरी पीढ़ी सांप्रदायिकता के प्रति तटस्थ है । वह केवल घटनाओं को कौतूहल से देख रही है और समय की धारा को पहचानने की कोशिश कर रही है ।

भारत विभाजन के दौरान अपनी मिट्टी और वतन छोड़कर शरणार्थी बन गए मिस्टर पुरी की कहानी मेरा वतन कहानी में अंकित किया गया है । अपने वतन की ईहा से वह पागल जैसी स्थिति में पहुँचता है । कहानीकार विभाजन के दिनों की सांप्रदायिकता के तनाव, मार-काट, खून खराबे के न केवल द्रष्टा थे, अपितु भुक्त भोगी भी थे । **'मेरा वतन'** में उन्होंने अपने वतन के साथ मनुष्य के गहन रिश्ते को ही अंकित किया है । कहानी का वह अपनी ही वतन पर अजनबी हो जाने पर पागल बन जाता है । मिस्टर पुरि अपनी मिट्टी से गहन संबन्ध रखनेवाला शरणार्थी है । जिस भुमि ने उसे जन्म दिया है, जिस भूमि से उसने साँस ली है, उसी स्थान में वह जीना और मरना चाहता है । लेकिन विभाजन ने उसे मजबूरन अलग कर दिया । अमृतसर पहुँचने पर उसे लगता है कि लाहौर उसे मिकनातीस की तरह खींच लेता है । किसी से बताए बिना पुरि लाहौर लैट आता है । लाहौर में उसे कोई पहचानता नहीं । वह किसी तरह घूम-फिरकर वह अपना पुश्तैनी

मकान पहुँचता है जिसका निर्माण दादा ने किया था । उसके पिता, पुरी और उसके बच्चों ने उसी मकान के ऊपरी कमरे में जन्म लिया था । उस मकान के कण-कण में उसके जीवन का इतिहास अंकित था । उसे फिर बहुत सी कहानियाँ याद आने लगीं । वह उन कहानियों में इतना डूब गया था कि उसे परिस्थिति का तनिक भी ध्यान नहीं रहा । घर के नए मालिक के अनुदार व्यवहार देखकर वह तुरन्त वहाँ से लौट जाता है । पुनः अमृतसर पहुँचे पुरी अपने पुत्रों के प्रश्नों से बचता रहता है । क्योंकि वह जानता है कि नई पीढ़ी ज़मीन से अधिक जुड़ी नहीं है । लेकिन अपनी पत्नि से वह सच्चाई बताता है - "क्यों जाता हूँ, क्योंकि वह मेरा वतन है । मैं वहाँ पैदा हुआ हूँ । वहाँ की मिट्टी में मेरी ज़िन्दगी का राज़ छिपा है । वहाँ की हवा में मेरे जीवन की कहानी लिखी हुई है । यह सुनकर पत्नि की आँखें भर आयीं और बोलने लगी - पर अब क्या, अब तो सब कुछ गया । पर वह जवाब देता है - "मैं जानता हूँ अब कुछ नहीं हो सकता पर न जाने क्या होता है । उसकी याद आते ही मैं अपने आपको भूल जाता हूँ और मेरा वतन मिकनातीस की तरह मुझे अपनी ओर खींच लेता है।"[1] फिर परिवेश से अवगत पुरी अपना वकीली चोग पहनता है और कर्म से जुड़ने का प्रयास करता है लेकिन जुड़ नहीं पाता । इसलिए वह किसी से बताये बिना फिर तहमद लगाकर लाहौर पहुँच जाता है । पूरी को लगता है कि वतन उसे हमेशा बुलाता रहता है । लाहौर में सब उसे एक पीड़ित मुसलमान समझकर उदार दृष्टि से देखते हैं।

1. विष्णु प्रभाकर - इक्यावन कहानियाँ, पृ. 144

वहाँ के लोगों की घर्मांधता की बातें सुनकर उसकी आँखें चमकने लगती है। 'वतन, धरती मोहब्बत सब कितनी छोटी-छोटी बातें हैं ? सबसे बड़ा मजहब है, दीन है, खुदा का दीन, जिस धरती पर खुदा का बन्दा रहता है, जिस धरती पर खुदा का नाम लिया जाता है, वही मेरा वतन है वही मेरी धरती है और वही मेरी मोहब्बत है । गली में घूमनेवाले उस हिन्दू वकील की दो व्यक्तियों में से एक पहचानता है और उस पर गोली चला देता है । फिर भी पूरी उस वतन से घृणा नहीं करता है । पुरी का पुराना मित्र हसन सहायता के लिए पहुँचता है और उससे पूछता है कि "तुम यहाँ इस तरह क्यों आये, मिस्टर पूरी"[1] मिस्टर पूरी ने एक बार फिर आँखें खोलीं। उसने धीमे स्वर से फुसफुसाये, "मैं यहाँ क्यों आया? मैं यहाँ से जा ही कहाँ सकता हूँ ? यह मेरा वतन है, हसन! मेरा वतन..."[2] पुरी वतन से जुड़कर रहने को अपना फर्ज़ मानता है । वह अपने वतन को अपने जीवन से भी ज़्यादा प्यार करता है।

महीप सिंह की कहानी

महीप सिंह की विभाजन संबन्धी कहानी **'सहमे हुए'** 1980 ई के आसपास की सांप्रदायिक समस्याओं को बेनकाब करती है । तत्कालीन सांप्रदायिक समस्या के लगभग सभी पहलुओं की अभिव्यक्ति इस कहानी में हुई है । उस समय की नई परिस्थितियों के कारण समाज में सांप्रदायिकता

1. विष्णु प्रभाकर - इक्यावन कहानियाँ, पृ. 145
2. वही - पृ. 148

का विष तेज़ी से फैल रहा था । साथ साथ रहने वाले लोग भी एक-दूसरे से सशंकित थे । स्थान स्थान पर सांप्रदायिक दंगे हो रहे थे । दंगों के कारण समाज और तेज़ी से सांप्रदायिक आधार पर बंट रहा था । आम आदमी की तो बात ही छोडिए पढ़े-लिखे, नौकरी पेशा, साथ साथ रहनेवालों को भी सांप्रदायिकता किस प्रकार से प्रभावित कर रहे थे उसे पाँच पात्रों-जिन्हें वह पंचकडी कहता है - के माध्यम से प्रस्तुत किया है । साँप्रदायिकता के सन्दर्भ में यह कहानी केवल हिन्दू-मुसलमानों तक ही सीमित न रहकर, सिखों, ईसाइयों और हिन्दू समाज की जातियों के टकराव के कारण उत्पन्न नवीन स्थितियों को भी रेखांकित करती है ।

कहानी के पाँच पात्र जनाब इकबाल हाश्मी, सरदार हरजीत सिंह, मिस्टर जॉन लोबो, पण्डित लघुनाथ शर्मा और बी.आर वर्मा सहकर्मी तो हैं साथ अपने अपने संप्रदाय के प्रतिनिथि भी हैं । एक दूसरे के घर आने-जाने और खन-पान की सारी उदारता के बावजूद वे एक दूसरे से सशंकित हैं । परिवेश के दवाब से उनकी शंका लगातार बढ़ती जा रही है । यदि हरजीत को इसका डर है कि हाश्मी 'बीफ' न खिला दें तो हाश्मी को भी डर है कि हरजीत पोर्क' न खिला दें । चारों तरफ से आनेवाले दंगों के समाचारों से इनकी शंका और बढ़ जाती है । इनके संबन्धों में लगातार खिंचाव आता जा रहा है । यह खिंचाव सबसे पहले लंच की मेज़ पर दिखाई पड़ता है -"लंच टाइम में खाना तो सबका साथ-साथ चल रहा है, जगह भी वही है, खाना भी

पहला जैसा ही है, पर पता नहीं क्यों एक दूसरे के लंच बक्स से चीज़ लेना लगभग बंद सा हो जाता है । वर्मा अपना सलाड उसी तरह लाता है और कागज़ पर फैलाकर मेज़ के बीचों बीच रख देता है । लोग बड़े अनमने ढंग से उसमें से एकाध टुकड़ा उठा लेते हैं । पर खाना सभी लोग अपने-अपने लंच-बक्स से ही खाते रहते है । .... जैसे दूसरे के खाने में ज़हर मिला हुआ हो।"[1]

स्पष्ट है कि इनके मन में कुछ और है, अपनी भावनाओं को ये जबरदस्ती रोके हुए थे, पर दंगों के समाचारों ने मन के भावों को प्रकट होने का अवसर प्रदान दिया था । एक हिन्दू के मन में मुसलमान के प्रति जो भाव है, पूर्वाग्रह है, उसे पण्डित रघुनाथ शर्मा के कथन में देखा जा सकता है "पाकिस्तान बन गया पर पाकिस्तान ज़िन्दाबाद के नारे अब भी उसी तरह लगा रहे हैं जैसे अभी तक और पाकिस्तान बनना हो, मस्जिद गोलाबारुद और चाकू-छुरा का भण्डार बना हुआ है । पाकिस्तानी एजेंट सेरआम दंगे करवा रहे है । दुःख की बात तो यह है कि पनाह उन्हें यहाँ के मुसलमानों से मिल रही है । दंगाई खुलकर पुलिस और फौज पर हमला कर रहे हैं और इसमें मशीनगनों और आटोमाटिक राइफिलों का प्रयोग हो रहा है । यह हथियार इन्हें कहाँ से मिल रहे है ।"[2]

पटना जाते समय ट्रेन में बातचीत के दौरान शर्मा का पूर्वग्रह और

1. (सं) गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्‌भाव की कहानियाँ, पृ. 146
2. वही - वृ. 144

खुलकर सामने आता है । इनके अनुसार मुसलमान इस देश के प्रति कभी वफादार नही हो सकते । एक तरफ शर्मा में पूर्वग्रह है जिसके कारण वह देश के सभी मुसलमानों को सांप्रदायिक समस्याओं के लिए समान रूप से ज़िम्मेदार मानता है तो दूसरी तरफ हाश्मी जैसा पढा-लिखा मुसलमान खुलकर जीना चाहते हुए भी असुरक्षाबोध के कारण उन तंग बदबूदार गालियों में जीने के लिए मज़बूर है । जहाँ उसके संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । यहाँ उसे एक तरह की सुरक्षा का विश्वास है । उसे लगता है कि कहीं दूसरी जगह मकान लेने पर वहाँ के लोग हिन्दू सिख आदि उसके परिवार के साथ घुलेंगे-मिलेंग नहीं । वह हर समय इस आशंका से घिरा रहता है कि जाने कब बहुसंख्यक संप्रदाय. पर पागलपन सवार हो जाए । "किसी भी मुल्क में माइनारिटीज़ की ज़िन्दगी महफूज़ नहीं होती । पता नहीं कब मेजोरिटी कम्यूनिटी में किसी भी सबब से पागलपन सवार हो जाए तो वह माइनारिटीज़ के पीछे हाथ धोकर पड़ जाए।"[1]

पं. रघुनाथ शर्मा से बातचीत करते हुए सांप्रदायिक समस्या के एक अहं कारण की तरफ हाश्मी ने संकेत किया है - "शर्मा एक बात में भी कहूँ? यह देश क्या है ? नदियाँ । पहाड़ । ज़मीन । नहीं यह देश नहीं है। देश है यहाँ के बसनेवाले लोग... तुम...तुम जो अपने आपको हिन्दू कहते हो । हिन्दू के मन में हमारे लिए नफरत है और उसके दिल से नफरत नहीं

1. (सं) गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्‌भाव की कहानियाँ, पृ. 145

जा सकती ।"[1] इस आपसी नफरत ने केवल हिन्दूओं और मुसलमानों को ही नहीं बांटा है, इसी के कारण हिन्दू धर्म के लोग भी आपस में बंटे हुए हैं। ऊँच-नीच, छुआ-छूत आदि के विचार इसी के परिणाम है । इसी नफरत के कारण ही मनुष्य झुण्ड बनाकर एक-दूसरे से लड़ता है और सम्मानित होता है । यदि हिन्दुओं की इस भावना के शिकार हाश्मी है तो उससे कम वर्मा भी नहीं । वर्मा के विचार यह है - "जी हाँ, इसी सम्मान के लिए वह सामूहिक रूप से घृणा करता है - व्यक्ति से नहीं, बल्कि एक पूरे समूह से.. उसे गाँव में बसने नहीं देता । कुएँ से पानी भरने नहीं देता मन्दिर में नहीं जाने देता उसकी छाया मात्र पड जाने से यह अशुद्ध हो जाता है।"[2]

हरजीत की समस्या भी इसी तरह की है । एक तरह वह खुद माइनारिटी कम्यूनिटी का है, ऊपर से उसका मकान मुसलमानों के इलाके में है । उसके परिवार के लोगों पर दोहरा खतरा है । एक तरफ तो वह हिन्दुओं से आशंकित है तो दूसरी तरफ मुसलमानों से । इधर की परिस्थिति में वह लगातार हाश्मी के नज़दीक आता जा रहा है । कारण साफ है, दोनों मेजोरिटी कम्यूनिटी से सहमे हुए हैं ।

सांप्रदायिकता की समस्या वास्तव में क्या है, इसपर कहानीकार ने अपने विचार इसी पंचकडी के ज़रिए ज़ाहिर किया है । उनका विश्वास है कि व्यक्ति सामान्यतः सांप्रदायिक नहीं होता, पर मजहबी माहौल उसे प्रभावित

1. (सं) गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 147
2. वही - पृ. 149

करके सांप्रदायिकता की तरफ ले जाता है । इस तथ्य का खुलासा कहानी के पात्र जॉन लोबो की बात से होता है "शर्मा हाश्मी से नफरत नहीं करता और न ही हाश्मी । न ही कभी हाश्मी शर्मा के प्रति बेवफाई करेगा । पर जब हम अपने मजहबी माहौल में पहुँचते है तो हम बदलने लगते हैं । तब हरजीत पक्का अकाली बन जाता है और मुझे अपना कैथोलिक होना याद आने लगता है ।

लेखक की मान्यता है कि सांप्रदायिक झगडों के बीज हमारी नसों में पता नहीं कब और किसने बो दिये थे, जिसके परिणामस्वरूप हम लगातार लडते जा रहे हैं, पर यह निर्विवाद है कि यह आम जनता की लडाई नहीं हैं । यह लडाई सत्ता, ताकत और दौलत की है । इन्हें प्राप्त करने के लिए चंद लोग सांप्रदायिकता का इस्तेमाल हथियार के रूप में कर रहे हैं ।

इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद दिल्ली में सिखों की जिस तरह की स्थिति का सामना करना पड़ा था, उसकी मार्मिक झलक महीप सिंह की कहानी **'एक मरा हुआ दिन'** में देखी जा सकती है । प्रधानमंत्री की मृत्यु के तुरन्त बाद दिल्ली में सिखों पर अत्याचार शुरु हो गये थे । मडिकल इंस्टीटयूट से निकली हुई भीड़ ने ही सिखों को सबक सिखाना प्रारंभ कर दिया था । ऐसी हालत में सिख इस हद तक सहमे थे कि वे अपने घर में ही दुबके पड़े रहे।

दूसरे दिन को सुबह कहानी का पात्र हरनाम सिंह सोचता है जैसे सिख आश्वस्त थे कि अब तक मामला शांत हो गया होगा । अपने इसी विश्वास के कारण वह सीसगंज गुरुद्वारे तक जाने के लिए निकल पड़ा, पत्नी जसजीत ने रोका भी परन्तु उसने समझा दियाः "तू तो पागल है । ऐसे मामलों में लोगों का गुस्सा फौरी किस्म का होता है।... और फिर लोग मुझे क्या कहेंगे जिसका ऐसी किसी चीज़ से कभी कोई वास्ता ही नहीं रहा।"[1] बस-स्टैंड तक पहुँचते-पहुँचते हरनाम को लगने लगा, कि स्थिति सामान्य नहीं है । हर व्यक्ति उसे ही घूर घूर कर देख रहा है । उसे दहशत-सी हुई पर वाहे गुरु का जप करता हुआ बस पर चढ़ गया । उसने सोचा कि अगर कुछ हुआ भी तो कर्फ्यू लग जाएगा और पुलिस मामला संभाल लेगी । पर उसका यह विश्वास भी स्थिर न रह सका । उसे दूर-दूर तक कहीं भी पुलिस का कोई सिपाही दिखाई न दे रहा था । इसी उधेड़बुन में वह गुरुद्वारे पहुँचा । घर जल्दी पहूँचने की चिन्ता में वह गुरुद्वारे में माथा टेक्कर शीघ्र ही बस-स्टैंड पर वापस आ गया, तब तक माहौल बदल चुका थाः "एक नेता किस्म का आदमी फुटपाथ पर खडे ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा था-सिखों ने इंदिरा की हत्या कर दी.. इसकी कीमत देनी पड़ेगी ।...इन्होंने हमारी माँ को मार डाला... हम इसका बदला लेकर रहेंगे।"[2] किसी तरह से छिपते-छिपाते हरनाम सिंह अन्तर्राष्ट्रीय बस अड्डे तक पहुँचा। वहाँ से भी उसे सवारी न मिली । सिखों को देखकर सवारियाँ भी नहीं रुक रही थीं । वह आगे बढ़ा ही था कि उसे

1. (सं) सुरेन्द्र तिवारी - काला नवम्बर, पृ. 46
2. वही - पृ. 49

सुनाई पड़ा-सरदार सरदार-मारो... मारो। हरनाम सिंह नहीं सोच पा रहा था कि उसे लोग क्यों मारना चाहते हैं । "उसे लगा, भला, ये लोग उसे क्यों मारेंगे.. उसने इनका क्या बिगाड़ा है । फिर उसे लगा, अगर ये लोग उसपर हमला करेंगे तो सड़क से गुज़रती हुई कारें, बसें रुक जाएंगी । उनमें से लोग उतर जाएँगे और इन्हें खेदड़ देंगे । पर ऐसा कुछ नहीं हुआ । भीड़ हरनाम सिंह पर यह कहकर टूट पडी कि 'तूने नही तो तेरी जात वालों ने इंदिरा गाँधी को मारा है।"[1] लहूलुहान हरनाम सिंह शाम तक सड़क पर बेहोश पड़ा रहा।

अंधेरे में किसी तरह से घिसटते-घिसटते वह बस्ती तक पहुँचा । वहाँ भी उसी तरह के लोग थे । प्यासे हरनाम को पानी तो मिला नहीं, किसी तरह जान बची । सिख होने के कारण कोई भी उसकी मदद के लिए तैयार न था । ऐसी स्थिति में उसे शरण मिली तो मज़दूरों के झोंपड़ों में । वहाँ उसे न केवल पानी मिला बल्कि सुरक्षा का विश्वास भी हासिल हुआ।

जिस समय पूरा देश सिखों के प्रति हिंसक हो उठा था, शासन व्यवस्था नाम की चीज़ न रह गई थी, खुले आम सड़कों पर हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था उस समय मज़दूरों में मानवता की भावना का चित्रण कर महीप सिंह ने यह कहना चाहा है कि यही वही वर्ग है, जिसकी मानवता अभी तक कुंठित नहीं हुई है । प्रतिगामी शक्तियों के प्रभाव से देश का यही वर्ग अछूता है ।

---

1. (सं) सुरेन्द्र तिवारी - काला नवम्बर, पृ. 51

महीप सिंह की कहानी **'पानी और पुल'** में बंटवारे की यंत्रणा ही प्रस्तुत की गई है । कहानी यह स्पष्ट कर देती है कि विभाजन से लोगों के मन में दरारें नहीं पडी हैं, केवल ज़मीन को टुकड़ों में बांटा गया है । प्रस्तुत कहानी का नैरेटर 'मैं' चौदह साल बाद अपनी जन्मभूमि की ओर जा रहा है। सचमुच तीन सौ यात्री अपने वतन और गुरुद्वारे का दर्शन करने भारत से पाकिस्तान की ओर जा रहे है । उन्हें महसूस होता है "जो कल कितना अपना था, आज कितना पराया हो गया।"[1] बंटवारे के मौके पर परिवेश के दबाव ने अवश्य अपनी दुनिया को परायी और स्वदेश को परदेश बना दिया गया था । राजनीति की वजह से एक देश दो हिस्सों में बँट गया था और बीच में खाई पैदा हो गयी थी - एक जातीय संस्कार की दो फाँके हो गयी थीं। उसी गांव में मिली जुली हवा बह रही थी जिसमें हिन्दु-मुस्लिम सामाजिकता की महक के साथ साथ सांप्रदायिकता की बू भी थी । यात्रियों के मन में पुराने दंगे की ताज़ी याद थी । गाड़ी जब सराई स्टेशन पर पहुँची तो वहाँ रहनेवाले मुसलमान गहरी आत्मीयता और उमंग के साथ एकत्रित हुए । उन के लिए गाड़ी के यात्रियों का स्वागत करना त्योहार के बराबर था । मूलसिंह की बीवी और बेटे की मुलाकात से सब एक अजीब सी खुशी का अहसास करते है । वे माँ से इच्छा ज़ाहिर करते हैं कि सब वापस आ जांयें, उसी गाँव में आ बसे । "भरजाई तुम अपने बच्चों को लेकर यहाँ आ जाओ किसी एक ने कहा और कितनों ने दुहराया, भरजाई तुम लोग वापस आ जाओ... वापस

1. महीप सिंह - चर्चित कहानियाँ, पृ. 35

आ जाओ । बोलो भरजाई कब आओगी? अपना गाँव तो तुम्हें याद आता है ? भरजाई वापस आ जाओ।"[1] सराईवालों के स्नेह और आत्मीयता के आगे माँ कुछ नहीं कह सकी, मात्र हाथ जोडे जा रही थी । गाडी के छूटने के समय उन्होंने गाड़ी को और कुछ देर के लिए खड़ी करने को कहा । "अरे बाबू । दो चार मिनट और खड़ी रहने दे न गाड़ी को । देखता नहीं, यही बीवी इसी गाँव की है।"[2] और एक ने उसका लालटेन वाला हाथ नीचे कर दिया । कहानी में विभाजन के खाखलेपन को ही दिखाया गया है । सांप्रदायिक राजनीति ने भारत की भूमि को बांट दिया था, लेकिन जनता के मानस को नहीं । जब गाड़ी स्टेशन से बाहर निकल गयी तब माँ की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह रही थी । मानवता पर आधारित रिश्ते कभी टूटते नहीं । रिश्तों में दो कौमों या राष्ट्रों का अस्तित्व नहीं है । कहानी में चित्रित जन्मभूमि की यात्रा, जातीय संस्कारों की एकता तथा विभाजन की विडम्बनाओं को उजागर करती है ।

महीप सिंह की इस विभाजन संबन्धी कहानी में विभाजन के चौदह वर्ष बाद पाकिस्तान के गुरुद्वारे के दर्शन करने निकले लोगों के अनुभवों की दास्तान भी कहानीकार ने कही है । मनुष्य का आपसी रिश्ता मज़बूत है जिसका आधार मानवीयता है । वह नदी की धारा सी बेरोक बहती है । विभाजनकालीन सांप्रदायिक दंगे ने उसे रोकने का प्रयास किया था । लेकिन

1. महीप सिंह - चर्चित कहानियाँ, पृ. 37
2. वही - पृ. 37

यह संभव नहीं । इसी हकीकत का खुलासा कहानी में हुआ है ।

बदी उज़्ज़माँ की कहानी

‘**अन्तिम इच्छा**’ एक तरफ भारत विभाजन के पूर्वकाल को समेटी हुई है तो दूसरी तरफ कथानक का विस्तार बिहार के गया जिले से लेकर पाकिस्तान के कराची शहर तक फैला हुआ है । बदी उज़्ज़माँ ऐसे कथाकार है जो भारत विभाजन के निर्णय की निरर्थकता को अपने कथासाहित्य में बार-बार सेखांकित करते रहते हैं । इस कहानी में उन्होंने विभाजन के खिलाफ आवाज़ उठाई है । इसमें मिट्‌टी की ईहा अपनी अन्तिम इच्छा बन जाती है । यह कहानी स्वेच्छा से पाकिस्तान गए लोगों की दुःखद ज़िन्दगी की दास्तान है । उनके वतन की तलाश की कथा है । कहानी का कमाल भाई मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता मुहममद अली जिन्ना का समर्थक और बँटवारे को अनिवार्य माननेवाला है । उसकी राय में विभाजन के दौरान जो सांप्रदायिक दंगा हुआ था वह मुस्लिम लीग के लिए सांप्रदायिक आन्दोलन ही है ।

कहानी की शुरुआत इसप्रकार होती है कि कथावाचक अपने चाचाजात भाई कमाल की मृत्यु की खबर सुनकर स्तब्ध हो जाता है । वह अतीत में भटकने लगता है । उसके मस्तिष्क में विगत घटनाओं की यादें अक्रम आने लगती है । कमाल भाई की मुस्लिम लीग के साथ गतिविधियाँ और पाकिस्तान बनवाने की ज़िद काफी तीखी थी । कथावाचक याद करता है कि कमाल भाई नारा लगाता था कि पाकिस्तान लेकर रहेंगे , और कायदे

आजम ज़िन्दाबाद । मुहम्मद अली जिन्ना जब गया आये थे और बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया था तो अगुओं में कमाल भाई भी था । यह उन दिनों की बात है जब मुस्लिम लीग का असर तेज़ी से फैल रहा था और राजनीतिक स्तर पर हिन्दू और मुसलमानों का अपसी बंटाव हो चुका था । कथावाचक अपने दूसरे भाई अहम्मद इमाम की याद करता है जो राष्ट्रवादी था । वह मुस्लिम लीग व पाकिस्तान का कट्टर विरोधी था । उसे लोग, गाँधी भाई कहते थे ।

विभाजन पूर्व मुस्लिम लीग की गतिविधियाँ किस सीमा तक उग्र हो गयी थीं, इसे लेखक ने कमाल भाई और गाँधी भाई की बातों के माध्यम से प्रस्तुत किया है । कमाल भाई कहता है - "मुसलमानों की संस्कृति, भाषा, पहनावा खान-पान, रीति-रिवाज़ सब कुछ हिन्दुओं से अलग हैं । वे अलग कौम है । अखण्ड भारत में उनकी संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकती ।"[1] इसके विपरीत गाँधी भाई का उत्तर है - "धर्म को छोड़कर हिन्दूओं-मुसलमानों में कोई अन्तर नहीं है । जो अन्तर दिखाई देता है, वह केवल बाहरी है । इससे अधिक अंतर तो खुद मुसलमानों के विभिन्न वर्गों और हिन्दुओं के विभिन्न वर्गों में दिखायी दे जाएगा।"[2]

जिन्ना के अनुसार मुसलमान अलग कौम के हैं । कमाल भाई की यही मान्यता है । कमाल भाई अपने जैसे मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र

---

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 142
2. वही - पृ. 142

अनिवार्य समझता है । अपने इस आदर्श पर अडिग रहने के कारण माँ-बाप के मना करने पर भी कमाल भाई पाकिस्तान चला जाता है । पर शीघ्र ही हकीकत उसके सामने आ गई । वह हिन्दुस्तान लौट आया । वह अपने सगे - संबन्धियों से कबूल करता है कि कराची का पानी रास नहीं आता है । कराची का खान-पान उसे अच्छा नहीं लगता है । अपनी बड़ी अम्मा से दिक्कतों के बारे में वह कहता है - "बड़ी अम्मा यहाँ से जाने को जी नहीं चाहता पर क्या करे । मज़बूरी है... जानते हो कराची में ऐसी चाय पीने को जी तरस जाता है । ऐसी सौंधी चाय कराची में कहाँ नसीब?"[1] कथावाचक से भी वह कहता है - "जानते हो ख्वाजा पाकिस्तान जाकर मैं ने सख्त गलती की । अब्बा का कहा मान लेता तो अच्छा रहता । मेरी हालत धोबी के गंधे की हो गई है । न घर का न घाट का । सोचता था, मुल्क का बंटवारा न होता तो अच्छा था ।"[2]

पाकिस्तान में रहने के पश्चात् कमाल भाई के सामने हकीकते स्पष्ट हो जाती हैं ।अपने देश, अपनी मिट्टी के लिए उसमें कितनी ललक थी । इसका पता उनके पत्रों से चलता है । उसी कमाल भाई की मृत्यु की सूचना पर घर में कोहराम मच जाता है । अंतिम दिनों में कमाल भाई ने यही कहा था - "मुझे गया ले चलो, अम्मा के पास मैं कराची के रेगिस्तान में मरना नहीं चाहता ।"[3]

---

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 144
2. वही - पृ. 144
3. वही - पृ. 144

सांप्रदायिक विवाद की निरर्थकता को लेखक बार-बार उभार कर सामने लाता है । सांप्रदायिक समस्याओं और विभाजन के लिए लेखक जिन्ना को उत्तरदायी मानता है । कहानी में जिन्ना के प्रति उसका आक्रोश बार-बार व्यंजित हुआ है । पतन और अनैतिकता के माहौल में लेखक के सामने महात्मा गाँधी रूपी मानवता की ज्योति भी अधिक समय तक टिक नहीं रहती है । सांप्रदायिक शक्तियाँ उसे भी बुझा देती है । विभाजनकालीन परिवेश और सांप्रदायिक समस्याओं की पुष्ठभूमि पर लिखी गयी यह कहानी तत्कालीन कालखण्ड को समग्रता से प्रस्तुत करती है । यह कहना अतिशय नहीं होगा कि यह उस कालख्ण्ड़ का एतिहासिक दस्तावेज़ है । साथ ही इसमें कहानीकार ने शरणार्थी जीवन और मिट्‌टी की ईहा संबन्धी मानवीय विचारों को भी व्यक्त किया है ।

बदी उज्ज़माँ की अन्य कहानी **'परदेशी'** वतन से उखड़े हुए आदमी की यंत्रणा और करुणा का बोध, जगाती है । कहानी का पात्र छाका (अब्दुश्शकूर) पाकिस्तान का नागरिक बनने के लिए मज़बूर होता है । वह अपनी ज़मीन की गंध से, पर्व-त्योहारों से, गाँव के मुहर्रम और अखाड़े से इतना जुडा हुआ था कि अपने पाँव को उठा नहीं पाता है । बहकावे में आकर छाको बिहार से ढ़ाका पहुँचता है । अपने लोगों से मिलकर सलाह करने का वक्त भी उसे नहीं मिला । चार-पाँच दिन के अन्दर-अन्दर इलाही मास्टर ने सब कुछ करवा दिया था । फिर वहाँ से छाको लगातार पत्र

लिखता रहा । प्रत्येक पत्र में अपने वतन, अपने मुहल्ले के पर्व.. त्योहार आदि में भाग लेने की ईहा प्रकट करता है । छाको के खत के हर लफ़ज से ऐसी मासूमियत टपक रही थी कि वह मज़बूरी की वजह से ही पाकिस्तान गया है । उसे हमेशा ही अपने मुहल्ले की याद सताती है ।

एक महीने का विसा लेकर अपना गाँव पहुँचे छाको वहाँ से लौटना नहीं चाहता । उसके लिए ढाका जाना अपना सबकुछ छोड़कर 'परदेश' जाना है । वह अपनी मिट्टी में रहना चाहता है जो अब उसकी अपनी नहीं रह गयी है । कानूनन उसे जाना है । उसे विदा देने के लिए गाँववाले एकत्रित हुए है, तब छाको की वेदना माँ से अलग होते बच्चे जैसी मर्मांतक रही । उस दृश्य का साक्षी होना ही मर्मभेदी बात है । इसलिए कथावाचक उसे विदा करने के लिए नहीं जाता है । छाको के चेहरे पर अजीब तरह का तनाव है, जैसे उसका चेहरा फट पड़ेगा उसके मन के तूफान को लेकर।... उसकी बेवा बहन जनवा उसके पास खड़ी है । छाको का एक पाँव रिक्शे के पायदान पर है । दूसरा पैर अभी ज़मीन पर ही है, जैसे वह ज़मीन में गड़ चुका है । जनवा के आंसुओं में डूबे हुए शब्द उसके कानों में पहुँच रहे है-- "अल्लाह खैर से वापस लाए।"[1] और तब उसका चेहरा फट पडा है । दिल का तूफान बाहर निकल पड़ा है । उसका पैर रिख्शे के पायदान से हटकर फिर ज़मीन पर आ गया है । वह फूट फूटकर रो रहा है जैसे वह

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 144-146

सचमुच कोई बच्चा हो और उसकी कोई प्यारी चीज़ उससे छीनी जा रही हो।"[1] गया की मिट्टी छाको की अपनी मिट्टी है । उससे अलग होना उसके लिए संभव नहीं है । वहाँ के आम जीवन में पर्व-त्योहार में सक्रिय रूप से भाग लेना ही उसके लिए ज़िन्दगी है । ऐसे छाको के लिए अपने परिवार से, मुहल्लेवालों से और पड़ोसियों से परदेशी होना असह्य है। कथावाचक छाको की पीड़ा से उद्वेलित होकर कहता है "मैं जानता हूँ कि कानून का जज्बात से कोई ताल्लुक नहीं है । पर न जाने क्यों एकाएक मेरे दिमाग ने जैसे काम करना बंद कर दिया है । कानून की मोटी-मोटी किताबें जैसे छाको के आँसुओं के सागर में डूबती जा रही है और मैं रूह की गहराई में कहीं शिद्दत से यह महसूस कर रहा हूँ कि छाको दरअसल परदेश जा रहा है, जहाँ की हर चीज़ उसकेलिए अजनबी है।"[2] अपनी ज़मीन से लगाव जितना छोटे तबके छाको में है वैसा ऊँचे तबके के से जुड़े हुए कथावाचक में नहीं है । दिमाग के लिए कानूनन ढ़ाका छाको का स्वदेश है पर दिल के लिए वह परदेश ही है । इस कहानी का छाको अपने ही देश में परदेशी बनने केलिए अभिशप्त जनता का प्रतीक है ।

भीष्म साहनी की कहानी

विभाजन की समस्या पर लिखी गयी कहानी है **'निमित्त'**। कहानी

---

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 147
2. वही - पृ. 147

का बुजुर्ग प्रधान पात्र है । वह भाग्यवाद पर विश्वास करता है । वह सभी बातों को भाग्य से जोड़ देता है । उसका अपना भाग्य भी बुरा नहीं है । ज़िन्दगी में उसे और कोई चिन्ता नहीं । कोई परेशानी नहीं । कभी वह अपने बेटे के यहाँ बंबई चला जाता है और कभी भाई के यहाँ दिल्ली में । वह तो सत्तर साल की उम्र में भी खूब चलता-फिरता है ।

बुजुर्ग विभाजन के समय की घटनाओं की याद करके कह रहा था कि जिनके भाग्य में दंगे-फिसाद से बचने की बात लिखा है वह बच जाएगा। जिनके भाग्य में मरने की बात लिखी है वह मर जाएगा । यह साबित करने के लिए वह एक घटना कथानायक को सुनाता है ।

सभी तरफ आग जल रही है। दंगा हो रहा है । तब एक शाम के वक्त इमामदीन नामक बूढा मिस्त्री, बुजुर्ग के पास आता है । वह तो बुजुर्ग के फैक्टरी में पन्द्रह साल से काम कर रहा था । वह हाथ बाँध खड़ा हो गया और बुजुर्ग से कहता है कि वह अपनी गाँव नहीं जा सकता । उसे कुछ पता नहीं कि उसका बाल बच्चों का क्या हाल है । उसकेलिए सभी रास्ते बंद हो गये हैं । तब बुजुर्ग उससे पटियाला जाने को कहता है । यहाँ बुजुर्ग की भाग्यवादी दृष्टि काम कर रही है । वह मन ही मन सोचता है - "इनकी मौत आई है तो मैं इसे बचा नहीं सकता।"[1] अंत में उसने शेरसिंह नामक ड्राइवर के साथ इमामदीन को फैक्ट्री के गाड़ी में पटियाला भेज दिया । उस समय

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 150

हर तरफ मार-काट चल रही थी । उससे बचकर निकल जाना कठिन था । फिर भी इमामदीन शेरसिंह ड्राइवर के साथ कार लेकर चला गया । बुजुर्ग ने तो सब कुछ भगवान के हाथ में सौंपकर उस आदमी को भेज दिया । उसका विश्वास है कि जो उसके पास आया है, भाग्य का निमित्त बनकर आया है । वह सब कुछ निमित्त था । कुछ भाग्य का ही खेल है । इमामदीन कार लेकर चलने के कुछ समय बाद फैक्टरी का चौकीदार भागता हुआ कमरे में आया । चौकीदार के पीछे-पीछे कुछ लोग उनके कमरे में हथियार तलवारें लेकर, घुस आए और एक मुसलमान को फैक्टरी के कार में भेजने की जुर्म में बुजुर्ग को गालियाँ देने लगे । उन्होंने इलज़ाम लगाया कि बुजुर्ग ने अपनी कौम के साथ गद्दारी की है ।

इसके उत्तर में बुजुर्ग जवाब देता है कि वह मुसलमान तो फैक्टरी का पुरानी आदमी है । अपने बाल-बच्चों की खोज में पटियाला गया है । मेरे पाँव पकडते गिडगिडाता रहा । इसलिए ही उसे जाने दिया । एक मुसलमान को फैक्टरी के कार में भेजने के कारण ही वे लोग चिल्ला रहे थे। वे आदमी को नहीं धर्म को देखते हैं । ज़माना ऐसा था कि हिन्दू और मुसलमान आपस में घृणा की दृष्टि से देख ही नहीं रहे थे, एक दूसरे को मिटाने के लिए भी तैयार खडे थे ।

गाड़ी आँखों से ओझिल हो गयी तो बुजुर्ग सोने गया । सबेरे उठा तो फैक्टरी के गोरखा चौकीदार ने उसके पास आकर कहा कि इमामदीन

मारा गया है । इमामदीन के मरने की बात सुनकर उसको हैरानी नहीं हुई । बुजुर्ग तो इमामदीन की हत्या का भी निमित्त मानता है । यह मालिक का खेल है । चौकीदार की बातों से पता चला कि इमामदीन की हत्या शेरसिंह ड्राइवर ने की है । उसने यह भी कहा कि पटियाला जानेवाली सीधी सड़क पर आ गया तो ड्राइवर ने मोटर रोक दी और इमामदीन को गाड़ी से बाहर निकाला और किरपान से उसका सिर कलम कर दिया । फिर लाश पर पेट्रोल डालकर आग लगा दी । दूसरी मोटोर वहाँ पहुँचते ही शेरसिंह ने आग के शोले दिखा दिये । "काट कर जला दिया मुसले को।"[1] यह देखकर दूसरे मोटरवाले लौट आये । उसके बाद शेरसिंह भी मोटर के साथ वापस आ गया।

बुजुर्ग किस्मत की बात इसलिए कह रहा है कि इमामदीन जिन्दा है । यह मारा नहीं गया था । शेरसिंह ने झूठी कहानी बनायी थी । गाड़ी पुलन्दरी गाँव के पास पहुँचते ही शेरसिंह को लगा कि गाँववाले गाड़ी को रोक लेंगे । इसी विचार से शेरसिंह ने इमामदीन को गाड़ी के नीचे लिटा दिया था और गाँव पहुँचते ही इमामदीन के कपडों की गठरी और ट्रंगी निकालकर पेट्रोल छिडककर आग लगा दी । तभी दूसरी गाड़ी वहाँ पहुँची । गाँववाले लाठी आदि लेकर आते ही ट्रंगी को देखकर उसपर झपट पडे । किसी को मोटर के अन्दर झाँककर देखने का ख्याल नहीं आया । सभी को शेरसिंह ड्राइवर ने धोखा दिया और एक इनसान की जान बचाई ।

---

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्‌भाव की कहानियाँ, पृ. 152

भीष्म साहनी की **'पाली'** विभाजन के दौरान खो गये एक बालक की कहानी है । कहानी का पाली मनोहरलाल और कौशल्या का बेटा है जो विभाजन के दौरान खो जाता है । सभी शरणार्थियों को अपनी अपनी चिंता होती है । इसलिए पाली को कोई खोज नहीं पाता । निःसन्तान शकूर व जैनव दंपत्ति को वह मिल जाता है । बेटे को प्राप्त करके वे खुश होते हैं । मौलवी पाली की सुन्नत करवाते है। और कलमा पढ़ाते हैं ताकि वह काफिर के बच्चे से दीन के बच्चे में परिवर्तित हो जाये । पाली का धर्म परिवर्तन किया जाता है । पाली का नाम बदलकर 'इलताफ' रखा जाता है ।

मनोहरलाल फिर अपने बच्चे की खोज में लगा था । दो साल बाद शकूर को समन मिला । शकूर और जैनब इलताफ को लेकर कहीं बाहर चले जाते हैं । ऐसी आँख मिचौनी में पूरे, तीन साल निकल गए । अन्त में मनोहरलाल शकूर के घर पहुँचा तब मौलवी भी उपस्थिति था । मौलवी के वाद विवाद के बीच बच्चे को तलब इस शर्त पर किया कि बच्चा इस खुद अपने माँ बाप को पहचानता है इसलिए धार्मिक कट्टरपंथियों के विरोध को नज़र अन्दाज़ करके जैनब-शकूर दंपत्ति इलताफ को अपनी सगे माँ बाप को देने के लिए तैयार हो जाते हैं । जैनब मनोहरलाल को बच्चा शर्त पर सौंपता है कि प्रतिवर्ष वे ईद के अवसर पर उसे उनके पास भेजेंगे । पाली को लाते समय रास्ते में ही समाज सेविका पाली की टोपी रास्तो में ही फेंक देती है। हिन्दू का बच्चा है तो मुसलमान की टोपी क्यों पहनेगा ? हिन्दू उसका नाम

इल्ताफ से यशपाल करने का आयोजन करता है । उसका मुण्डन कराया जाता है ।

भीष्म साहनी की इस कहानी में यह दिखाया गया है कि हिन्दू को मुसलमान और मुसलमान को हिन्दू बनाने की ज़िद हिन्दू पाण्डितों और मौलवियों दोनों में है ।

भीष्म साहनी की **'जहूरबख्श'** में भी सांप्रदायिक दंगे की अमानवीय हरकतों का त्रासद चित्रण है । जहूरबख्श मध्यप्रदेश के एक जाने माने लेखक है ।अत्याचारियों ने उसके घर पर आक्रमण किया और घर पर आग लगा दी । 'जहूरबख्श' किताबों को जान से भी ज़्यादा प्यार करता था । किताबों को जलाना उसके लिए असहनीय था । वह सोचता है "इन्हें अपनी आँखों के सामने जलने कैसे दूँ, जो बचता है बचा लूँ । न जाने कितनी देर तक उस वक्त तक, जब उसके हाथ नहीं जल गए थे और फेफडों में धुआँ नहीं भर गया था, वह हाँफता हुआ, सिर पकड़कर बाहर आकर बैठ नहीं गया था वह उन्हें ढो ढोकर बाहर लाता रहा था।"[1] दंगाइयों के आगे पराजित जहूरबख्श अंत में पागल बन जाता है । "तब वह सैकड़ों-हज़ारों जैसा ही एक लगा था, जैसे दीवार के साथ खडे, खड़े जड़ हो गया हो।"[2] पथराई आँखों से जहूरबख्श जिस घर की ओर देख रहा था उसके सामने जले हुए घर की दीवारें थीं । उसके घर के सामान भी सामने मकान में बिखरे पड़े थे।

1. भीष्म साहनी - जहूखरटश, पृ. 120
2. वही - पृ. 125

मैदान में उड़ रहे, अध-जले, कागज़, पाण्डुलिपियाँ थीं, जो उसकी खून से लिखी गई थीं । एक-एक पाण्डुलिपि पर ज़िन्दगी के वर्षों खप जाते थे । अत्याचारी उसकी मनुष्यता की परिकल्पना एवं उसके परिवार पर भी आग लगाती है । जहूरबख्श के सम्मुख "पाण्डुलिपियों पत्रा-पत्रा हो गयीं, रेज़ा-रेज़ा और जहूरबख्श दीवार के साथ लगा रुँधे-गले से, फटी-फटी आँखों से देखता रहा, मानो अपनी मौत स्वयं देख रहा हो ।"[1] सांप्रदायिक आतंकवादियों की आँखों में कभी भी मनुष्य और उसके गुण नज़र नहीं आते हैं । उनकी अक्ल में परिचित व्यक्ति, कृतिकार, मानव प्रेमी आदि केलिए कोई स्थान नहीं है । दरियादिल व्यक्ति उनके रास्ते के काँटे हैं । इसलिए वे उनको अपने रास्ते से बेरहमी से हटाते है ।

भीष्म जी 'जहूरबख्श' के ज़रिए भारत की साझी संस्कृति के प्रति अपने लगाव को व्यक्त करते हैं । किताबों को वह ज़िन्दगी भर की पूँजी' समझता है, इसमें कालिदास की शाकुन्तलम और गुलिस्ताँ का हिन्दी अनुवाद जो (जहूरबख्श ने स्वयं की है) से लेकर यहाँ तक रामायण भी थी। रामायण थी, तुलसी कृत रामचरित मानस जिसमें जगह-जगह निशानियाँ लगी थीं, मानो उसे पढ़नेवाला उसे पढ़ता नहीं रहा था उसे पूजता रहा था।"[2]

दंगेवाले के आगे भारतीय संस्कृति भारतीय साहित्य, धर्मनिरपेक्षता इत्यादि शब्द निरर्थक हैं । जहूरबख्श भी उनकी दृष्टि में सिर्फ एक म्लेच्छ

1. भीष्म साहनी - निशाचर, पृ. 121
2. वही - पृ. 126

है, उससे बढ़कर कुछ नहीं । अमर्त्यसेन के शब्दों में "यह मैं तर्क दूँ कि सांप्रदायिक शक्तियों को भारतीय धर्मनिरपेक्षता को ध्वस्त या समाप्त करने के लिए सिर्फ भारतीय मुसलमानों के अधिकारों और मौजूदगी से ही नहीं निबटना होगा बल्कि भारत की क्षेत्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता से भी निबटना होगा, विभिन्न को सहन करने की शक्ति या स्वभाव को आसानी से नहीं बांधा या बदला जा सकता है।"[1] नरेन्द्र मोहन के अनुसार "मजहब का इन्सान विरोधी कारनामे हमेशा से रहे हैं । मगर 'किसी' को क्या पता था कि एक दिन मजहब इंसान का खून पीने के अलावा सभ्यताओं, भाषाओं, साहित्यकारों को भी निगलना आरंभ कर देगा।"[2] साहित्य द्वारा भारतीय संस्कृति, भारत की एकता और भारतीयता की रक्षा होती है । उसमें हमेशा मनुष्य और उसके संस्कार की बातें उठायी जाती हैं । इसलिए सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों ने भारत की बहुलतावादी संस्कृति के पालक साहित्यकारों पर हमला बोल दिया ।

'अमृतसर आ गया' है भीष्म साहनी की बहुचर्चित कहानी है जिसमें विभाजन कालीन दंगा का त्रासद बयान मार्मिक बाङ्मय के ज़रिए प्रस्तुत किया गया है । कहानी में पाकिस्तान से अमृतसर तक के सफर का चित्रण है । चलती गाडी के भीतर का असर यात्रियों पर पडता है और वे भी उसके हिस्से बन जाते हैं । रेल गाडी धीमी रफ्तार से चल रही है । कहानी

---

1. अमर्त्यासेन - अतीत का वर्तमान, पृ. 63
2. नरेन्द्र मेहन - विभाजन की त्रासदीः भारतीय कथा दृष्टि, पृ. 55

का प्रारंभ अनिश्चय की स्थिति में हुआ है । कथावाचक दिल्ली में होनेवाले स्वतन्त्रता दिवस समारोह को देखने जा रहा है । भविष्य की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं बन पाई है । गाड़ी में बैठे मुसाफिर तरह-तरह की अटकलें लगा रहे हैं - 'मेरे सामने बैठे सरदारजी बार-बार मुझसे पूछ रहे थे कि पाकिस्तान बन जाने पर जिन्ना साहब बंबई में रहेंगे या पाकिस्तान में जाकर बस जाएंगे । लाहौर और गुरदासपुर के बारे में अनुमान लगाए जा रहे थे कि कौन सा शहर किस ओर जाएगा । मिल बैठने के ढंग में हँसी मज़ाक में गप-शप में कोई विशेष अंतर नहीं आया था । कुछ लोग अपने घर छोड़कर जा रहे थे जबकि अन्य लोग उनका मज़ाक उड़ा रहे थे । जगह-जगह दंगे भी हो रहे थे और आज़ादी की तैयारियाँ भी चल रही थीं । इस पृष्ठभूमि में लगता था देश आज़ाद हो जाने पर दंगे अपने आप बंद हो जाएँगे।"[1] सब मिलाकर एक अनिश्चय का वातावरण था पर किसी वक्त भावी रिश्तों की रूपरेखा भी झलक आती थी।

डिब्बे में बैठे पठान मुसाफिर और एक दुबले-पतले बाबू के बीच हंसी मज़ाक चल रहा था । डिब्बे में घूसने का प्रयास कर रहे एक मुसाफिर को पठान ने लात मारकर नीचे गिरा दिया। उस समय तक कही को ई विरोध नज़र नहीं आ रहा था । किंतु वजीशबाद स्टेशन आते ही माहौल बदल गया। लग रहा था शहर में दंगा हुआ है । गाड़ी आगे बढने लगी तो ऐसी लगा कि जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आसपास बैठे लोगों

1. भीष्म साहनी - निशाचर, पृ. 126

का जायजा ले लिया है । "सरदारजी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे । नीचे वाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपरवाली वर्थ पर चढ़ गया।"[1] मतलब साफ है कि सवारियाँ अपने अपने में सिमटने लगीं थी । डिब्बे में चुप्पी सी छा गई थी । पठानों की बात में शामिल होनेवाला अब कोई नहीं रह गया था, इसलिए वे भी चुप थे ।

अमृतसर स्टेशन जैसे-जैसे पास आने लगा दुबले-पतले बाबू की प्रतिक्रियाओं में अंतर होता गया । वह पठानों को ज़ोर-ज़ोर से गाली देने लगा - "ओ वे पठान के बच्चे, नीचे उतर तेरी माँ की...। अपने घर में शेर बनता था ।अब बोल तेरी मैं उस पठान बनाने वाली की...। हिन्दू औरत को लात मारता है, हरामज़ादे । तेली मैं लात न तोडूँ तो कहना।"[2] अमृतसर में बाबू डिब्बे से उतर गया । वापस आया तो उसके हाथ में लोहे की छड़ थी पर तब तक पठान यात्री मौके की नज़ाकत समझकर निकल गये थे । बाबू थोड़ी देर तक उत्तेजित भाव से पठानों को गालियाँ देता रहा । उसके सिर पर जुनून सवार था । इसी जुनून में डिब्बे में चढ़ने की कोशिश भी करते। एक मुसलमान यात्री का सिर उसने फोड दिया । बूढ़े मुसलमान यात्री की ‘’अंधमुँदी आँखें जो धीरे-धीरे सिकुड़ती जा रही थीं, मानो उसे पहचानने की कोशिश कर रही हो कि वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है ।"[3]

---

1. भीष्म साहनी - निशाचर, पृ. 128
2. वही - पृ. 128
3. वही - पृ. 128

यह कहानी भीष्म साहनी की क्लासिक कहानियों में से एक है । उनकी विभाजन से जुड़ी कहानियों में सामुदायिक भावना के मूल को समझने परखने की कोशिश हुई है । इस कहानी में लेखक ने परिवेश की भयावहता और दहशत को समानान्तर डिब्बे के अन्दर भी दिखाया है । जब ट्रेन मुस्लिम बहुल इलाके से गुज़र रही है तब पठानों का जोश बढ़ता दिखाई देता है । इस वक्त दुबला बाबू चुप रहकर सारी मुसीबते झेलने में ही अपनी भलाई समझता है । पर जब ट्रेन हरिवंशपुरा पार करके अमृतसर पहुँचता है दुबले बाबू में गज़ब से जोश और शक्ति का संचार होता है । अमृतसर आते ही वह धार्मिक जुनून के आवेग में असहाय मुसलमान यात्रियों को मार डालता है । इसप्रकार कहानी में भौगोलिक बदलाव के अनुसार हिन्दू और मुसलमानों में होते बदलाव को लाहौर से अमृतसर तक की यात्रा के दौरान बारीकी से अंकित किया गया है ।

❖ ❖ ❖

चौथा अध्याय

समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर

समकालीन संदर्भ में कहानी गद्य साहित्य की सबसे प्रतिष्ठित तथा प्रखर विधा बन गया है । मतलब आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कहानी का समूचा रूप बदल गया है । कहानी ने सामाजिक सन्दर्भ से जुडते हुए परिवर्तन का कारगर माध्यम बनकर अपने समय और संवेदना को अभिव्यक्त किया है । वह भावुकता तथा वायवीयता की मंजिलों से उतरकर यथार्थ के खुरदरे धरातल पर खड़े होकर समकालीन समाज की वास्तविक तस्वीर उजागर करती भी है । आज कहानी बदलते हुए जीवन को पकडने में अधिक से अधिक संवेदनशील एवं सक्षम विधा बन गयी है । अवाम के जीवन का यथार्थ चित्र समकालीन कहानियों की सबसे बडी खासियत बना है । मानव मन की गहराइयों में पैठकर मानवीय संवेदना को उसकी पूरी समग्रता व तीव्रता के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता समकालीन कहानी ने प्राप्त की है।

समकालीन संदर्भ में जहाँ तक सांप्रदायिकता का प्रश्न है, वह दो धार्मिक समुदायों के बीच धार्मिक मुद्दों पर टकराहट की स्थिति से उत्पन्न हुई है, जिसके मूल में राजनीति है । असगर अली इंजिनीयर के अनुसार "इसका मूल कारण राजनीतिक सत्ता व सरकारी नौकरियों में हिस्सेदारी है, न कि धर्म। धर्म इसका मूल कारण नहीं है, लेकिन लोगों को एकत्रित करने की क्षमता के कारण धर्म को हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता है ।"[1] इस परिप्रेक्ष्य एवं सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को समझते हुए कथाकारों ने अनेक

1. जितेन्द्र श्रीवास्तव - दहशत की ज़मीन पर सत्ता की फज़ल, (उम्मीद) पृ. 181

कहानियाँ लिखी हैं और सामाजिक विभाजन के बारीक कारणों और स्वरूप को रेखांकित भी किया है । सांप्रदायिकता और उसकी रणनीति में जो बदलाव आया है, उसका प्रतिफलन समकालीन कहानी का मुख्य मुद्दा है ।

पार्टीशन

स्वयंप्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' में कहानीकार ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास को खासकर सांप्रदायिक राजनीति के हस्तक्षेप को कुर्बान अली की जिन्दगी के ज़रिए व्यक्त किया है । इसमें भारत-पाकिस्तान विभाजन का ऐतिहासिक परिदृश्य प्रस्तुत किया गया है । पार्टीशन आज एक दुर्घटना नहीं रह गया, वह प्रक्रिया में तब्दील हो गया है । स्वतन्त्रता आन्दोलन के समानान्तर पार्टीशनों का इतिहास चलता रहा है ।एक ओर पार्टीशन धर्म, जाति, नस्ल, मुल्क, भाषा आदि के आधार पर होता है, तो दूसरी ओर व्यक्ति के मानसिक-बौद्धिक स्तर पर होता है ।अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए व्यक्ति हर संभव तरीके अपनाते हैं । जिससे समाज बुनियादी तौर पर ही सांप्रदायिकता के जाल में फँस जाता है ।

कुर्बान भाई की ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव के आधार पर 'पार्टीशन' कहानी आगे बढ़ती है । कुर्बान एक धनी परिवार का सदस्य था । विभाजनकालीन सांप्रदायिक दंगे, लूट-पाट, हत्या आदि के बीच उसने अपने परिवार ही नहीं सब कुछ खो दिया । कुर्बान का पुश्तैनी घर जलाया गया, रिश्तेदार पाकिस्तान चले गए, दो भाई और पिता का कत्ल हो गया । फिर

भी कुर्बान भारत में ही रहा - "क्योंकि कुर्बान भाई को अच्छे लगनेवाले बहुत से लोग नहीं गए।"[1] देश का नक्शा बदल गया । फिर भी उस बदली हुई परिस्थिति में अनेक मारक और बेधक मुसीबतों का मुकाबला करते हुए भी कुर्बान अपने आप को सँभालने की कोशिश करता रहा । कुर्बान मजहब से नहीं बना है, वह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संस्कृति पर अडिग आस्था रखता है । इसी आस्था के बल पर वह दुखों धक्कों, नुक्सानों और ज़ख्मों से पार करने का प्रयास करता रहा । मानवता के लिए जगह ढूँढता रहा । विभाजन के वक्त सांप्रदायिक, आतंक एवं वैमनस्य अपनी चरम अवस्था पर पहुँचे थे । मानवता ने उसे पार करने की कोशिश की है । स्वाधीनता के बाद भी मानवता और सांप्रदायिक राजनीति के बीच का संघर्ष चल रहा है । लेकिन अब तक नुक्सान मानवता के पक्ष का हुआ है, इसे कुर्बान के माध्यम से व्यक्त किया गया है । कुर्बान ने अनेक कठिनाइयाँ सहकर भी संजोए रखे मूल्यों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है । कहानी के दूसरे भाग में ऐसा चित्रण है कि वह एक जगह जमने और आहिस्ता-आहिस्ता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने लगता है । कुर्बान की दूकान पढ़े-लिखों का अड़डा बन जाती है । कुर्बान में भी बहुत बदलाव आ जाता है । वह पुराना दर्द भूलने लगा । नतीजा यह हुआ कि कुर्बान भाई इमामबाडे वालों और 'शाखा' वालों के गुस्से का शिकार हो गया । कुर्बान की वैज्ञानिक एवं सेकुलर दृष्टि के खिलाफ साजिश की गयी । षड्यंत्रकारियों

1. स्वयंप्रकाश - आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 35

ने कुर्बान भाई को कुर्बान मियाँ में सीमित करके उसके दिल और गुट को भी विभाजित किया । खगेन्द्र ठाकुर के शब्दों में "उसकी दूकान के सामने गाड़ी लगानेवाले ने टोकने पर उसे 'क्यों' कह दिया, जब कि वे मजहबी असर से दूर जा चुके थे । वे अदबी हो चुके थे । ऐसी परिस्थिति में उसे 'क्यों' (मियाँ) कहने से ऐसा सदमा लगा कि इस बार उसके दिल का पार्टीशन हो गया ।"[1] कुर्बान ने अग्निपरीक्षा जीतकर प्राप्त किए आत्मविश्वास और अपनापन को वकील ऊखचंद ने गाडीवान गोम्या द्वारा मिटा दिया । "क्या-क्या कीमत रोज़ चुकाकर कस्बे में थोड़ा-सा अपनापन... थोड़ी सी सामाजिक सुरक्षा...थोड़ा सा आत्मविश्वास..... थोड़ी सी सहजता उन्होंने अर्जित की थी... और कितनी बड़ी दौलत समझ रहे थे इसको ... और लो। तिल-तिल करके बना पहाड़ एक फाँक में उड गया।"[2] फलतः कुर्बान इस्लामी पुनरुत्थान वाद का शिकार हो गया । वह फिर अंधकार की ओर लौटने को मज़बूर हो गया । "कुर्बान भाई की दूकान के सामने लतीफ भाई खड़े हैं ....। और कुर्बान भाई दूकान में ताला लगा रहे हैं और उन्होंने टोपी पहन रखी है... और फिर दोनों मस्जिद की तरफ चल दिए हैं।"[3] यह एक त्रासदी है । कुर्बान के जीवन की यह दुर्घटना वैज्ञानिक दृष्टि, धर्मनिरपेक्षता एवं इनसानियत का दुर्घटनाग्रस्त होना है । यह स्वतन्त्र भारतीय समाज का खतरनाक एवं त्रासद यथार्थ है जिसे बड़ी खूबी से स्वयं प्रकाश ने प्रस्तुत

---

1. खगेन्द्र ठाकूर - समकालीन हिन्दी कहानी की शक्ति - वागर्थ फरवरी, 2008 पृ. 98
2. स्वयंप्रकाश - आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 40
3. वही - पृ. 42

किया है । बंटवारे के वक्त दो देशों के नाम पर मानवता का विभाजन हुआ था । लेकिन आज एक ही देश के एक ही प्रांत में यहाँ तक व्यक्ति का भी विभाजन हो रहा है । इसलिए कुर्बान कहता है - "आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं ? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था । हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है...।"[1] धर्मनिरपेक्षता और जनतंत्र के साथ स्वातंत्र्य का अर्थ भी सिमटने लगा है और अल्पसंख्यकों की आस्था, विश्वास, आकांक्षा, स्वप्न, उमंग, जोश तथा राजनीतिक-सामाजिक विवेक भी बुझने लगे हैं । साथ ही साथ छोटे-छोटे खानों में बाँटने को मज़बूर हो गए हैं जिसके सामने तथाकथित शासक, राजनीतिक, सामाजिक कार्यकर्ता ही नहीं बल्कि धर्मनिरपेक्ष एवं धार्मिक सद्भाव के प्रवक्ता भी मौन हैं । इसलिए सांप्रदायिकता की कीचड़ से निकलने के लिए छटपटाते कुर्बान भाई पर और भी बदतर सांप्रदायिक होने की मज़बूरी तथा दबाव पड़ता है ।

भारतीय समाज बाहरी एवं भीतरी तौर पर बांटता जा रहा है । धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, नस्ल के नाम पर, भाषा के नाम पर । यह विघटन इनसान को असुरक्षा में डालता है । आज़ाद चौक का पुनः नामकरण संजय चौक किया जाता है । धर्मनिरपेक्ष समाजवादी जनतंत्र का स्वप्न भी फीका पड़ जाता है । जनतन्त्र तानाशाही में बदलने लगता है । 'पार्टीशन' कहानी स्वातन्त्र्योत्तर भारत के राजनीतिक-सामाजिक इतिहास के कुछ संकेतों द्वारा भारतीय राजनीति में कार्यरत सांप्रदायिक सान्निध्य एवं

---

1. स्वयंप्रकाश - आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 42

विभाजन के नैरन्तर्य को व्यक्त करती है ।

दूसरा कबीर

राजेन्द्र जोशी की कहानी 'दूसरा कबीर' में सांप्रदायिकता की राजनीति में आए बदलाव का चित्रण हुआ है । 'अंग्रेज़ों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को आगे बढ़ाने का प्रयास स्वतन्त्र भारत में हुआ, जो आज और बल पकड़ती जा रही है । धर्म का सख्ती से राजनीतिकरण हो रहा है । स्वाधीन भारतीय जीवन में आदर्श के स्थान पर सुविधा जमने लगी है । सुविधा के पीछे पड़े लोग स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामाजिक परिवेश में सांप्रदायिक ज़हर घुलाने लगे हैं । सांप्रदायिक दंगों के कारण शहर में जीवन दिन-ब-दिन त्रासद एवं दूभर होने लगा है । जीवन की सारी तरलता गायब हो चुकी है । कबीर कहानी का मुख्य पात्र मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखनेवाला है, धर्म, जाति, वर्ग आदि भेदों के आधार पर देखनेवाला नहीं है। वह अफवाहों पर भी विश्वास नहीं रखता है । दफ्तर जाते, दिखाई पड़ते और सुनते अमानवीय घटनाओं एवं हादसों से वह चिंतित है । धर्म के नाम पर अमानवीय घटनाएँ घट रही हैं । लोग कौम के नाम पर आपस में लड़ते हैं, और लड़वाते भी हैं । एक दिन आतंक भरे माहौल से भयभीत कबीर दफ्तर से लौटने को विवश हो जाता है ।

रास्ते में सांप्रदायिक ताकतें कबीर पर प्रहार करती हैं । फिर भी कबीर विचलित नहीं हुआ । उसके मन में धर्मनिरपेक्षता के प्रति अटूट

आस्था है -"उसकी देह लहू से लछपथ हो रही थी । फरि़ भी वह सोच रहा था जो हो रहा है इस बारे में मैं काका को कभी कुछ नहीं बताऊँगा । मैं दंगे का कारण नहीं बनूँगा । मुझे इस शहर को बचाना होगा । मैं एक लफ्ज़ ऐसा नहीं बोलूँगा कि जिससे शहर में फिर दंगा छिड़ जाए । मैं खुद ऐसा पुश बटन नहीं बनूँगा जो मेरे शहर का सर्वनाश करे... मेरी या उसकी कौम जैसा कुछ नहीं होता... हम सब इस देश के इनसान हैं । ... हम एक दूसरे के गाले क्यों काटें ? कौन किसे मार रहा है, यह अहमियत नहीं है।... मेरे लिए सब बराबर है । मैं काका से कहूँगा कि दफ्तर की सीढियाँ उतरते हुए मैं गिर पड़ा था । और उन्हें कभी इस बात का पता भी नहीं चलेगा।"[1] इसप्रकार निरपेक्ष ढंग से उस घटना का सामना करने का ख्याल उसके मन में था । लोग अपनी स्वार्थता की पूर्ति केलिए धर्म और राजनीति का इस्तेमाल करते हैं । इसके बीच इंसान और इंसानियत पर पड़ते प्रहार को वे अनदेखा करते हैं । वे अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरे की हत्या करते हैं, चाहे वह अपने ही भाई-बंद भी हो । आपने को पुरा बटन न बनने का कबीर की ईहा बेकार हो गयी । उस गली की घटनाओं की जानकारी एकाध घण्टे में पूरे शहर में फैल गयी । सभी दल के राजनीतिक नेताओं ने अपने -अपने बटन दबा दिये। तीन चार दिनों के पश्चात् उसकी लाश शहर की किसी गटर से मिली। "उस शाम को टीवी न्यूज़ के अंत में कर्फ्यू की घोषणा से पहले यह कहा गया कि रिलिफ रोड़ की मेन गटर से प्राप्त एक लाश को आइडेन्टीफेय

1. राजेन्द्र जोशी - दूसरा कबीर (नवभारत टाइम्स) 2 जुलाई 1993

किया गया है । मरनेवाले का नाम कबीर था । लेकिन वह हिन्दू था मुसलमान, क्या था । इस बात का अब तक पता नहीं लगता है।"[1] सांप्रदायिकता ने कबीर की मानवीय पहचान को ठुकरा दिया । व्यक्ति की पहचान का मुख्य आधार केवल उसके धर्म में ढूँढने वाले वर्तमान समाज में व्यक्ति केवल हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और सिख है । इसके परे आदमी का कोई अस्तित्व नहीं । कबीर जैसा धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति सांप्रदायिक राजनीति के रास्ते का काँटा है । इसलिए उसे उस रास्ते से हटाना उनकेलिए आवश्यक है ।

इस कहानी में जैसे स्पष्ट है धार्मिक उनमादी समय में मानवीयता के लिए स्पेस खोजनेवाले का सही चित्रण हुआ है । कहानी का कबीर और 'कबीरदास' में भिन्नता यह है कि कबीर सांप्रदायिक उन्माद और दंगे के माहौल में अपने लिए मानवीय स्पेस ढूँढता है । तो कबीरदास ने स्वयं धर्मनिरपेक्ष होने के साथ-साथ समाज में भी ऐसा सोच विकसित कराने का प्रयास किया था । अर्थात् मध्यकाल के संत कवि कबीरदास समाज में धार्मिक भेद भाव को दूर कर एकता कायम करने का प्रयास किया था । कहानी के कबीरदास के असली परिवार के बारे में किसी को भी मालूम नहीं है । लोग उसे कबीरदास कहते हैं । वेश भूषा एवं हरकतों से वह कोई पागल भिखारी लगता है । असल में वह पागल नहीं है । सांप्रदायिक उन्माद के

---

1. राजेन्द्र जोशी - दूसरा कबीर (नवभारत टाइम्स) 2 जुलाई 1993

खिलाफ उसकी असलियत को प्रकाश में लाने के लिए लेखक ने पागलपन का मार्ग अपनाया है । अपनी ठोस बातों को खुलकर कहने के लिए, सारे प्रतिबंधों और बाधाओं को ठुकराने के लिए पागलपन अनिवार्य है, खासकर धार्मिक पागलपन की बात कहने के लिए।

जनता में धार्मिक उन्माद इतना बढ़ गया है कि मरनेवालों की गणना भी धर्म के आधार पर होने लगी है - "इस धर्म के इतने लोग मारे गए, उस मजहब के इतने लोग ज़िन्दा जला दिये गये - चारों ओर ऐसी अफवाहों का ज़ोर था।"[1] लोग अंधेरे में घिरे हुए हैं और अंधेरे को ही रोशनी समझ रहे है। इस उन्माद में पड़े मनुष्य भीड में "इंसान की शक्ल में भेड़िए लकड़ बग्धे, सांप बिच्छू, गिद्ध और मगरमच्छ।"[2] का रूप ले रहे हैं । कहानी में इस ओर संकेत है कि मृत्यु को भी इस सांप्रदायिक गुलामी से बचने का रास्ता नहीं दिया जाता है । हिन्दू और मुसलमान सिर कटी लाश अपना हक स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं । दोनों संप्रदाय दो हिस्सों में बंट कर लाश पर अपना अधिकार ज़माने के लिए कटिबद्ध है ।अचानक कबीरदास उस भीड़ में कूदकर लाश के पास पहुँच जाता है । फिर दोनों ओर देखकर गंभीर मुद्रा में भाषण देने लगता है - "भाइयों हवा किस धर्म की होती है ? धूप का संप्रदाय क्या है ? नदी के पानी की क्या नस्ल है ? आकाश की जात क्या है ? परिंदे किस कौम के है ? बादलों का मुल्क क्या है ? इद्रधनुष की

1. सुशांत सुप्रिय - कबीरदास वाक् - 6, पृ. 142
2. वही - पृ. 142

विरादरी तो बताओ, लोगों । सूरज, चांद और सितारों का मजहब क्या है?"[1].... लोग एक विक्षिप्त आदमी को इंसानियत की बात कहते सुन रहे हैं । पागल कबीरदास संतों, महात्माओं और दवेशों की वाणी बोल रहा है। फलस्वरूप "30 जनवरी, 1948 की सुबह"[2] की घटना की तरह कबीरदास के बदन पर गोली चली । के.एन. पणिक्कर के शब्दों में -"गाँधीवाद के युग में ही हिन्दू सांप्रदायिकता का जन्म हुआ था और गाँधी का विचार और प्रवृत्तियाँ उसके खिलाफ थीं इसलिए ही गाँधी की हत्या की गई।"[3] अक्सर गाँधी ने समाज के भेद भाव को मिटाने का प्रयास किया था, चाहे वह भेद जाति, धर्म, वर्ग कुछ भी हो । सांप्रदायिक राजनीति के आगे इसलिए ही गांधी बाधा बन गये। कहानी का कबीरदास भी (और मध्ययुग का कबीरदास) ऐसा प्रयास करता है । कहानीकार ने लिखा है... "लाशों के बीच पड़े एक बूढ़े भिखारी के सीने के बाई ओर जहाँ इंसान का दिल धड़कता है, ठीक उसी जगह गोली लगी हुई थी।"[4] वास्तव में यह गोली धर्मनिरपेक्षता पर लगी गोली है । कबीरदास की लाश के पास से मिली पोटली इसे और भी स्पष्ट करती है । उसमें सांप्रदायिक सद्भाव पर कुछ लेख लिखा था। गाँधी और एक औरत और दो बच्चों की तस्वीरें भी थीं । ये तस्वीरें शायद बाबरी मस्जिद

---

1. सुशांत सुप्रिय - कबीरदास वाक्-6, पृ. 145
2. वही, पृ. 20
3. डॉ. के. एन. पणिक्कर - फासिसत्तिन्टे नालवषिकल, पृ. 171
4. सुशांत सुप्रिय - कबीरदास वाक्-6, पृ. 145

ध्वंस के बाद के सांप्रदायिक दंगों में मारे गए उसकी पत्नी और दो सन्तानों की थीं । भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति को मिटाकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हो रहा है । आज भारतीय न केवल राजनीतिक गुलामी ही नहीं सामाजिक और सांप्रदायिक गुलामी को भी भुगत रहा है । जनतंत्र तानाशाही में बदल गया है । धर्मनिरपेक्षता और जनतंत्र के साथ स्वातंत्र्य. का अर्थ भी घिसकर मिटने लगा है ।

'दूसरा कबीर' का कबीरदास के ज़रिए आतंकवाद की हैवानियत की ओर भी इशारा किया गया है । आतंकवादी सत्ता की सहायता से समाज में आक्रामकता को बढावा देते है और मनुष्य आतंक के मारे जड होने लगता है । सत्ता एवं आतंकवादियों के गठबंधन एवं षड्यंत्र के आगे कबीर अजीब सी बेचैनी अनुभव करने लगता है । गला भी सूखने लगता है, उससे ठीक तरह से खाया भी नहीं जाता । उसके मन में आतंक इतना जम जाता है कि रात भर सोचते-सोचते दिमाग चकराने लगता है, अतंकवादी आखिर उसे भी जड़ बना देते हैं । आतंकवादियों का सामना करने का असफल प्रयास पर वह सोचता है - "कल सुबह होते ही पुरानी कुलहाड़ी ढूँढ निकालूँगा । ऐसे समय में ऐसे हथियार ही काम में आते हैं।" इस आतंकवादी माहौल से अपनी आत्मरक्षा के लिए हथियार ढूँढकर रखने का चित्रण सचमुच वक्त की मांग है ।

1. राजेन्द्र जोशी - दूसरा कबीर (नवभारत टाइम्स) 2 जुलाई 1993

रशीद का पाजामा

आज सांप्रदायिकता का इस्तेमाल जोयनाबद्ध तरीके से स्कूली बच्चे भी कर रहे हैं । स्वयं प्रकाश की कहानी 'रशीद का पाजामा' में इसे रेखांकित किया है । प्रेसिडेंट्स स्काउट के दस रोजा प्रशिक्षण शिविर में भाग लेने के लिए पूरे प्रांत में से सिर्फ आठ विद्यार्थियों का चयन हुआ है । इनमें रशीद भी है । रशीद न केवल देखने में खूबसूरत है बल्कि दिमाग से भी तेज़ है । वह पिछड़ी सामाजिक आर्थिक परिवेश से आता है । लगन और उत्साह की वजह से उसने अपने से बड़े प्रतिभागियों को भी हराया । साथ-ही-साथ पुरस्कार और प्यार भी प्राप्त किए । इससे ईर्ष्यालू नंदकिशोर और उसके साथी अध्यापकों की सहायता से उसके नाम पर शिकायत दर्ज कर रशीद का हौसला पस्त कर देते हैं । सोफिया को छोड़कर सभी छात्र रशीद के खिलाफ शिकायत करने लगे -"रशीद के वदन से, बिस्तर से, बालों से बदबू आती है कि वह मांस खाता है, कि रोज़ नहाता नहीं, और कि वह दोस्ती करने लायक नहीं है।"[1] इस तरह उपेक्षित उत्पीड़ित रशीद कई बार अकेला घूमता रहता है - "भूख लगी होती तो भी सबके साथ खाना खाने नहीं जाता। पेड़-पौधे, चिड़ियों बादलों से बातें करता है ।"[2] वापसी की यात्रा के वक्त वह बहुत उदास और अनमना होता है । तब भी नंदकिशोर और उसका साथी रशीद का मज़ाक करते और उसके सारे कर्मों को मजहब के साथ जोड़ने

1. स्वयंप्रकाश - आदमी जात का आदमी, पृ. 35
2. वही - पृ. 36

लगते । इन सभी बातों से दुःखी रशीद रोने लगता है । सोफिया रशीद के साथ हमदर्दी व्यक्त करती और चुप-चाप रोती है । हौसला पस्त रशीद आगे नहीं बढ़ पाता है और अपने पिता के अरमान के अनुसार इंजीनियर नहीं बन जाता है । नंदकिशोर अपनी जाति का लीडर बन जाता है । जब भी उसका फोटो या नाम अखबार में देखता है उसे पुरानी यादें आती हैं - "लेकिन उसे आज तक यह समझ में नहीं आया है कि पाजामे के नेफे में नाड़ा घुस जाने का उसका धर्म से क्या संबन्ध था।"[1] ऐसी स्वार्थी सांप्रदायिक राजनीति पर सवाल उठाते हुए कहानी के अंत में स्वयं प्रकाश पाठकों से पूछते हैं - "क्या आपको समझ में आया है?"[2] यह प्रश्न वे सांप्रदायिकता रूपी अंधेरे में फँसकर अँधे बन गए दिशाहीन समाज से ही करते हैं ।

बदली तुम हो सादिया

नमिता सिंह की कहानी **'बदली तुम हो सादिया'** में धर्मान्ध लोग कैसे मानवीय संबन्धों में दरार डालते हैं, इसका रेखांकन है । कहानी में अलोका और सादिया बचपन के दोस्त हैं और एक दूसरे के परिवार के हिस्से भी । जब सादिया ने अलोका के भाई रंजीत के साथ प्रेम किया तब दोनों घर के बीच के रिश्ते टूट जाते हैं । दो अलग-अलग धर्म के अनुयायी होने के कारण उन दोनों की शादी नहीं हुई । लेकिन सत्ताईस साल बाद

---

1. स्वयंप्रकाश - आदमी जात का आदमी, पृ. 38
2. वही - पृ. 38

सादिया अलोका को देखने के लिए अमेरिका से आती है और लौटने के बाद सादिया ने अपने बेटे की शादी अलोका की बेटी के साथ कराने की इच्छा प्रकट करके खत भेजती है- "हमारी मज़बूरी इसलिए थी अक्कू कि हम तुम हिन्दुस्तान में रहते थे । अगर हम लोग कहीं किसी और मुल्क में - यहाँ अमेरिका में रहते, तो गुलाब बस्तूर उगते ।.. अब तो ज़माना बहुत बदल गया है ।.. नए रिश्तों के सहारे हम अपने पुराने सपनों को फिर पूरा करें । हमारी ज़िन्दगी में एक बार फिर गुलाब महकें ।.. मुझे उम्मीद है, तुम्हें यह रिश्ता मज़ूर होगा । खत मिलने के बाद अलोका बहुत परेशान होती है । वह सोचती है "मैं कैसे कहूँ कि हम लोग ऐसे समाज में है, जहाँ हम एक कदम आगे बढ़ते हैं और दो कदम पीछे हटते हैं । हम सब आज भी मुखौटा लगाकर जी रहे हैं ।"[1]

लेखिका ने धर्म से भारतीय के आत्मीय संबंध और पाश्चात्य सेकुलर दृष्टि को एक साथ रखकर यहाँ धर्मनिरपेक्षता का 'खोल खोल दिया है - "भारत में व्यक्ति अनेक जंजीरों से जकड़ा हुआ है और जातिगत एवं संप्रदायगत बंधनों को तोड़ना उसकेलिए आसान नहीं है । आज़ादी के कई दशक बाद भी भारतीय शायद ही स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय ले पाता है । उसका वजूद अपनी जाति या समुदाय के हिस्से के रूप में ही ज़्यादा है और राजनीतिक निर्णय लेते समय भी वह सामूहिक हितों या सामूहिक गौर व का

1. नमिता सिंह - निकम्मा लड़का, पृ. 75

ख्याल रखता है । व्यक्तिगत स्वतंत्रता की राह की इन रुकावटों को पश्चिम ने बहुत पहले ही पार कर लिया है ।"[1] सांप्रदायिक संघर्ष के समानान्तर भारत में एकता का भी अपना इतिहास रहा है । इस सच्चाई को नज़र-अंदाज़ करके सांप्रदायिकवादी अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए समाज को धर्म के आधार पर बांटने की साज़िश कर रहे है।

ये धुआं धुआं अंधेरा

हरिओम की कहानी 'ये धुआं धुआं अंधेरा' में आज के शिक्षा क्षेत्र में पनपी सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप का अंकन है । आज शिक्षा क्षेत्र भी सांप्रदायिक होता जा रहा है । इस कहानी के पात्र हैं नसीम, अनीस और जयराज। इन दोनों में दोश-प्रेम और समाज-बोध निहित हैं । इनकी राजनीतिक समझ स्वस्थ है । वे सांप्रदायिकता जैसी बातों के विरुद्ध विद्रोह भी करते हैं । सांप्रदायिकता के अस्तित्व का आधार भेद है । वह हमेशा धर्म जाति, वर्ग आदि भेद के आधार पर लोगों को बांटकर रखना चाहती है । आज के अधिकांश छात्रों को पाठ्यक्रम के परे की चीज़ों की ज़्यादातर जानकारी नहीं है । जयराज को इसप्रकार की सामाजिक चेतना अनीस से मिला है - "मार्क्स, एंगल्स... चेग्वरा, पाब्लो नेरुदा.. जैसे तमाम नामों और दुनिया की बेहतरी के लिए उनके कार्यों और विचारों का परिचय जयराज को अनीस से ही मिला था।.. अनीस का कमरा ठीक उसके दिमाग की तरह भरा

1. असगर अली इंजिनीयर -दिसंबर 2007, बहुधर्मी -लोकतंत्र व उसकी चुनौतियाँ बया, पृ. 18

हुआ था -दुनिया-जहान की किताबों, पत्रिकाएँ, पम्फलेट्स, पोस्टर्स और मीर, गालिब फैज अल्लामा इक्बाल, फिराक और फ़राज जैसे शायरों की गज़लों के ढ़ेर सारे सी.डी और कैसेट्स।"[1] अनीस और उसके दोस्त किसान-खेती, धान-गेहूँ की कीमतें, पलायन - बेरोज़गारी, सरकारी लूट के साथ अमेरिकी साम्राज्यवाद और तीसरी दुनिया का भविष्य जैसी बातों पर बहस करते हैं । नसीम और अनीस 'स्टुडेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया' से जुड़े हुए हैं ।लेकिन कैंपस में राष्ट्रीय छात्र संघ और विद्यार्थी परिषद जैसे दूसरे संगठन भी थे । सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अपने राष्ट्रवादी एजेंडे को पूरा करने के लिए शिक्षा का भगवाकरण कर रहा है - "गरीब तथा हाशिए पर पड़े समूह निरंतर बढ़ते पैमाने पर-चुनाव प्रक्रिया के साथ गहराई से जुड़ते गए हैं। इसलिए भाजपा इस ध्रुवीकरण के खतरे को मद्देनज़र जनतंत्र के पंख कतरने के लिए शिक्षा का भगवाकरण कर रही है।"[2] इसप्रकार अपने मकसद को पूरा करने के लिए सांप्रदायिक राष्ट्रवादी शिक्षा क्षेत्र में धार्मिक आधार पर संगठन बनाते हैं । इसकेलिए आर्थिक सहायता भी देते हैं । साथ ही राजनीतिक संगठन के ढीला करने का कार्य भी करते रहते हैं - यह सब बड़ा कन्फ्यूज़िंग है । पढाई-लिखाई से राजनीति का क्या वास्ता?... इन्हें अपने कार्यक्रमों और बैनर-पोस्टर पम्फलेट के लिए पैसा कहाँ से मिलता है? आगर ये सब संगठन छात्रों के भविष्य और शिक्षा की बेहतरी के लिए

1. हरिओम - ये धुआं धुआं अँधेरा - नया ज्ञानोदय जून - 2009, पृ. 44
2. सरोज कुमारी यादबः सास्कृतिक राष्ट्रवाद का मुख्य एजडा हंस- नवंबर 2003, पृ. 69

परेशान हैं तो यूनिवर्सिटी की हालत ऐसी खस्ता क्यों है ? कक्षाएँ क्यों नहीं होतीं ? आए दिन कर्मचारियों की हडताल कैसी रहती है? इतने छात्र छात्राएँ 'डेलिगेसी' में रहते हैं उनके लिए होस्टल क्यों नहीं बनते?"[1] विद्यार्थियों की समस्याओं का समाधान ढूँढनेवाले इन संगठनों की अपनी सीमाएँ हैं । इन सीमाओं से परे जाने का कार्य उन्होंने किया था, जिसका फल आज विद्यार्थी भोग रहे है । ऐसी उपलब्धियों को अनदेखा करके कमियों एवं सीमाओं को बढ़ा चढ़ाकर, यो लोग छात्र संगठनों को मिटा देना चाहते हैं । यों वे अपना रास्ता सुगम एवं निष्कंटक बनाने की कोशिश करती है । इसके लिए राजनीतिक आचरणों को सही बताते भी हैं । दूसरी ओर वे नसीम, अनीस, जयराज आदि छात्रों के लिए काम करते हैं, समाज और धर्म में फैले अनाचारों को तोड़ने का प्रयास भी करते हैं । यूनिवर्सिटी में मुस्लिम छात्रों के लिए अलग होस्टल है । लेकिन अनीस मुस्लिम होस्टल में नहीं रहता है। यूनिवर्सिटी मैनेजमेंट ने अनीस को दूसरा होस्टल देने से इनकार कर दिया तो अनीस ने वाइस चांसलर के दफ्तर के आगे धरना दे दिया । अनीस का सवाल है "जब ईसाई, पारसी, सिख जैन मायनारिटी छात्रों के लिए दूसरा होस्टल नहीं है तो मुसलमानों के लिए क्यों? दूसरा संविधान और दूसरा मुल्क नहीं तो दूसरा होस्टल क्यों?.. पहचान मजहब और जात से नहीं होगी, काबिलियत से होगी । अगर वह दूसरे होस्टल में दाखिले के लिए ज़रूरी मेरिट रखता है, तो फिर उसे दाखिले से इनकार नहीं किया जा सकता।"[2]

1. नया ज्ञानोदय - जून 2009, पृ. 44
2. वही - पृ. 45

अंत में युनिवर्सिटी के बाइलॉज' में संशोधन कर अनीस को दूसरा होस्टल दिया जाता है । इस लड़ाई का फायदा बाद में कई मुस्लिम छात्रों को मिलता है ।

वर्तमान उत्तराधुनिक दौर में भी भारतीय नारी समान अधिकार के लिए लडने के लिए मज़बूर है । अभी भी वह समान अधिकार से दूर रहती है । यह मुस्लिम समाज में शायद कुछ ज़्यादा ही है । इसलिए कि उस समाज में प्रभावशाली 'नागरिक प्रवक्ताओं' का अभाव है । नसीम में एक ऐसी ही प्रवक्ता की संभावनाएँ दिखाई दे रही है । नसीम न केवल अपने धर्म की विद्रुपता के विरुद्ध संघर्ष करती है, बल्कि जटिल भारतीय संस्कृति को भी तोड़ती है । नसीम कहती है - "कामरेड । अगर राय की ही परवाह होती तो ये नसीम खुली हवा में साँस न ले रही होती । धूप में मेरे बाल न लहरा रहे होते । ये नसीम भी लाखों नसीमों की तरह जहालत और मजहबी लिहाज़ का काला नुरक ओढ़े गूँगी बैठी होती और फिर दिन-रात, स्याह-सफेद के क्या मानी.. तुमने कभी किसी मुस्लिम लड़की को अपने धुले बाल सुनहरी धूप या बहती बयार में सुखाते देखा है ?"[1] नसीम अपने मजहबी बिरादरों के बीच लगातार संघर्ष करती रही है । नसीम के मेधावी व्यवहार से लेड़ीज़ होस्टल की ज़्यादातर लड़कियाँ प्रभावित होती हैं और उसकी शागिर्द बन जाती हैं । पार्टी की कार्यकारिणी बैठक में देश की बदलती सियासी हालत

1. नया ज्ञानोदय - जून 2009, पृ. 46

पर चर्चा चलती है । कैंपस में बढ़ती जातिवादी, सामन्तवादी और फासीवादी गतिविधियों का पुरजोर प्रतिवाद करने का संकल्प भी लिया जाता है । पार्टी में नए छात्र-छात्राओं को जोड़ने की एक मुहिम चलाने का जिम्मा भी जयराज और नसीम पर सौंपा जाता है । नसीम देश में समतावादी समाज की परिकल्पना करती है । एक ऐसे समाज का सपना वह सँजोती है जिसमें धर्म व वर्ग के नाम पर झगड़े नहीं होंगे, सबको आगे बढ़ने का अवसर मिलेगा और अपने अधिकारों व दायित्वों से व्यक्ति पूरी तरह वाकिफ होगा । लेकिन दुर्भाग्यवश विश्वविद्यालयों में ऐसी स्थिति नहीं है । नसीम धर्म के फिरकापरसती राजनीति पर टिप्पणी करता है "कॉमरेड़ ! जब तक यह मजहब और धर्म की घुट्टी हमारी दादी-नानियाँ और पण्डित-मौलवी बच्चों को पिलाते रहेंगे, फिरकापरस्ती का यह सियासी तमाशा चलता रहेगा । ये मदारी इसी तरह डमरू बजाते रहेंगे और जनता जमूरे की तरह नाचता रहेंगी ।"[1] गौरतलब है कि फिरकापरस्ती से उन लोगों को भी फायदा है जो देश की सरकार चला रहे हैं । सदैव वे जनता में सांप्रदायिक हलचल पैदा कर उनकी ज़बान बंद कर देते हैं ताकि जनता अपने हक के लिए उनसे मत लड़े । जब इन छात्रों का कार्यक्रम, युनिवर्सिटी से बाहर शहरों और कस्बें की ओर भी व्याप्त होता है तब सांस्कृतिक राष्ट्रवादी उनका हौसला पस्त कर देते हैं । किशन पटनायक के शब्दों में "सांप्रदायिकता विरोधी कार्यक्रम दिमाग बनाने का भावनाएँ बनाने का, एक सांस्कृतिक कार्यक्रम होना चाहिए - एक ऐसा

1. नया ज्ञानोदय - जून 2009, पृ. 48

सांस्कृतिक कार्यक्रम होना चाहिए - एक ऐसा सांस्कृतिक कार्यक्रम जिसमें परंपरा के गलत मूल्यों को छोड़कर अच्छे मूल्यों को पकड़कर आधुनिक विज्ञान तथा काल के प्रवाह को स्वीकृति देकर नए मूल्यों एवं संबन्धों को प्रयोग के द्वारा स्थापित किया जाए । इस तरह का प्रयत्न भारतीय मनुष्य के भावनात्मक और बौद्धिक गुणों को विकसित करेगा ।"[1] इसप्रकार नसीम और उसके साथियों का सांप्रदायिकता विरोधी कार्यक्रम सही दिशा की ओर चलता था । इसलिए सांस्कृतिक राष्ट्रवादी उन्हें ध्वस्त कर देते हैं ।

"उस रात स्वयंसेवकों ने भगवान के नाम पर लहलहाती फसलों को रौंदा, दूकानों को लूटा और कुछ खास बस्तियों को घेरकर आग के हवाले कर दिया था । धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए उन्हें एक खास, पहनावे, हुलिए और जवान वाला जो भी कहीं मिला, उसे उन्होंने गाजर-मूली की तरह काटकर फेंक दिया । औरतों को अपने पौरुष से लहुलुहान किया। उन तमाम बस्तियों में से एक बस्ती नसीम की भी थी।"[2] सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों के मुकाबले नसीम का संघर्ष कमज़ोर साबित हो जाता है । "नसीम की आँखें पथरायी हुई थीं । वह जैसा जयराज से दूर नहीं ज़िन्दगी से दूर जा रही थी और उसमें किसी के प्रतिरोध की कोई ताकत नहीं बची थी।"[3] स्वयंसेवकों के राक्षसी हमले से नसीम की रक्षा करने में दुर्बल वामपंथी दल कामयाब नहीं हुआ ।

---

1. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया, पृ. 210
2. नया ज्ञानोदय - जून 2009, पृ. 49
3. वही, पृ. 49

काला शुक्रवार

सुधा अरोड़ा की कहानी 'काला शुक्रवार' 12 मार्च 1993 में मुंबई शहर में हुई आतंकवादी घटना का चित्रण करती है । लेखिका ने आँखों देखे अनुभव और भोगे यथार्थ पृष्ठभूमि में कहानी का सृजन किया है । कहानी के बारे में लेखिका ने स्वयं लिखा है "12 मार्च 1993 का बंबई का बम विस्फोट कांड, जब मैं घर से बाहर थी और जलते हुए शहर के बीच से होती हुई घर पहुँची थी । उस एक दिन का अनुभव चेतना को झकझोर देनेवाला था । कई दिन वह झुलसा हुआ शहर दिमाग पर वजन की तरह रहा । आखिर मैंने उसे रिपोर्ताज के रूप में लिख डाला । लेखन का टूटा हुआ सिरा एकाएक पकड में आ गया था । यह संस्करण हालाँकि तीन साल मेरी डायरी में बंद पड़ा रहा, बाद में मैंने इसे कहानी के फार्म में लिखा । यह कहानी 'काला शुक्रवार' हंस के दिसंबर 1996 अंक में प्रकाशित हुई थी।"[1] प्रस्तुत कहानी तत्कालीन हादसे को दर्ज करती है, साथ ही कालातीत और देशातीत समस्या को भी उजागर करती है ।

मुंबई में हमलों के लिए आतंकवादियों ने मंगलवार और शुक्रवार के दिन चुने थे । 'काला शुक्रवार' में चित्रित मुंबई का संबन्ध उस मध्यवर्ग और निम्नवर्ग से है जो आतंकवादी दुर्घटनाओं के शिकार बनाने के लिए अभिशप्त हैं । बाबरी मस्जिद ढहा देने के तुरन्त बाद भारत में जानलेवा

1. सुधा अरोडा - काला शुक्रवार, (भूमिका से)

तनाव फैल गया और इसी सिलसिले में मुंबई में जनवरी से मार्च तक श्रंखलाबद्ध बम विस्फोटों का काण्ड हुआ । इसमें 250 से ज़्यादा अभागे, बेगुनाह जो सड़कों पर खड़े चलते लोग थे, मारे गए।

मुंबई का चेहरा निरंतर बदलता रहा है । आज़ादी के बाद दो-तीन दशकों तक मुंबई हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे का शहर बना रहा ।लेकिन जैसे-जैसे इस राह से मज़दूर आन्दोलनों का खात्मा होने लगा वैसे-वैसे शहर भी सांप्रदायिक और क्षेत्रीयतावादी पार्टियाँ, तस्करों और माफिया गिराहों के चंगुल में फंसता चला गया । ऐसे शहर को सांप्रदायिक ताकतें और आतंकवादियों ने अपना निशाना बनाया ।

फिर देश की आर्थिक राजधानी मुंबई आतंकवादियों के हमले का केन्द्र बना । जबरीमल्ल पारख के अनुसार "भारत के विभिन्न शहरों में भी कई आतंवादी घटनाएँ हो चुकी हैं । इनमें मुंबई की चर्चा खास तौर पर की जा सकती है जहाँ 1992-1993 के दंगों के बाद 12 मार्च 1993 शुक्रवार को एक साथ कई स्थानों पर बम विस्फोट हुए थे और जिनमें 257 लोग मारे गये थे और 713 लोग घायल हुए थे ।"[1] कहानी में लेखिका ने अपने अनुभव का यथावत् चित्रण किया है ।

तीन महीनों के लगातार दंगों की भीषण खबरों के बाद शहर सामान्य हो रहा था । सारे कामों की लिस्ट बनाकर चार बजे तक वापस

---

1. जवरीमल्ल पारख - पक्षधर - 7, पृ. 42

आने की प्रतीक्षा में लेखिका और ड्राइवर मीराज़ घर से निकले । वे बैंक से निकलते ही कानों को सुन्न कर देने वाला एक धमाका सुनाई पड़ा । किसी इमारत के ढहने और बेशुमार शीशों के तड़तड़ाकर टूटने की आवाज़ उस धमाके को पीछा करती हुई आई । सडक पर अचानक भाग दौड़ मच जाता है । सताईस मंजिल इमारत के बाहर भीषण आग फैल जाता है । घने-काले धुएँ के बगूलों के साथ आग की ऊँची लपट का गुबार आसमान की ओर उठने लगा । शेयर मार्केट में बम फटा और ट्राफिक बन्द किया गया । कई लोग खून से तरबतर काँपते हुए पड़े थे, बहुत से लोग ज़ख्मी हुए । सड़क पर धधकती आग की चिनगारियाँ पूरे शहर के माहौल पर हावी होने लगीं । दूकानों के शटर धठघट गिराए गए और लोग एक बदहवासी की हालत में यहाँ से वहाँ दिशाहीन भागते रहे । मुंबई की हमेशा रौनकवाली सड़कें मुर्दा पड़ गई ।

दंगे में किस तरह बेबस आदमी को प्राणरक्षा के लिए अपनी शिनाख्त खो देनी पड़ती है, इसका कहानी में चेतना को पथरा देनेवाला लेखा-जोखा है । लेखिका का ड्राइवर मीराज इस हालत की ज़िन्दा मिसाल है । मजहब के तौहीन के रूप में सलीखे से रखी दाढ़ी और तराशी हुई मुँछ तक को इस धऱ्ती में रहने के लिए उसे छोड़ना पड़ा । “क्या करें मडैम ! दाढ़ी और मूँछ क्या अपुन का चले तो अपना नाम भी बदल दें ।क्या रखा है नाम और मजहब में ? मजहब के नाम पर दो जून की रोटी भी तो नहीं

मिलता ! इस दाढ़ी के चलते अपना पड़ोसी पीटर मारा गया । रजन सरीन साहब को फसाद में दंगाइयों ने पकड़ लिया था । नसीब अच्छा था, कार के लाइसेंस में अपना नाम दिखाकर छूट गए । वरना उस दिन घर सही सलामत न पहूँचते । दूसरे ही दिन उन्होंने अपनी दाढी मुँछ साफ करवा दी । हमें भी सबने यही सलाह दी कि जान है तो जहान है, अपनी सुरत शक्ल का मोह छोड़ो - पर सच कहता हूँ आईने में अपने को देखता हूँ तो लगता है कि किसी ने भरे बाज़ार कपड़े उतार लिए हैं ।"[1]

दादा के बताए सन् सैंतालीस के सांप्रदायिक दंगे की यादों के माध्यम से लेखिका कहानी को और गहरा बना देती है-"शहर में जब दंगे छिड़ते हैं तो आदमी अंधा हो जाता हैं । मजहब उसे पागल बना देती है । इनसान-इनसान के खून का प्यासा हो उठता है । यह सिलसिला आदिम काल से चलता आ रहा है । चींटियों की तरह रेंगते चलते लोग, चींटियों की तरह मारे जाते लोग।"[2] यद्यपि विज्ञान के क्षेत्र में हमने प्रगति की है, लेकिन आदमी की लाठी और भाले-भर्छेवाली आदिम हिंसक प्रवृत्ति में कहीं कोई बदलाव नहीं आया ।

अपने बुलेट प्रूफ कार के बन्द शीशों के भीतर से दंगा ग्रस्त इलाकों का जायजा लेकर लौट जाने वाले राजनैतिक नेताओं पर लेखिका ने

1. सुधा अरोडा - काला शुक्रवार, पृ. 17
2. वही - पृ. 18

व्यंग्य कसा है - "कसूर किसका है भाई? हमारी सरकार निकम्मी हो चुकी है । तीन महीनों में तीन बार साबित हो चुका है । ऐसी तबाही हमने अपनी अब तक की ज़िन्दगी में नहीं देखी अब बूढ़ौती में क्या मालूम, क्या कुछ देखने बदा है । खुदा से पूछने को दिल करता है । "तुम हय किदर। दूसरे का कथन- कसूर किसका है भाई? - हम जो नेताओं की शतरंज के मोहरे बने हुए हैं - जाहिल हैं हम । जान लेनी है तो हुकूमत में घुसो । उन्हें मारो जो अपनी गद्दी की खातिर तुम्हें लड़वा रहे हैं । क्यों राह चलते बेगुनाह इनसान की जान ले रहे हो... यह शहर अब रहने लायक नहीं रहा । ऐसा जबरदस्त बम फटा है कि लड़ाई के मैदान में क्या फटेगा । देश को बर्बाद करके क्या हासिल होगा । कौन लोग हैं क्या चाहते हैं, कुछ समझ में नहीं आता ।"[1] पूरी सड़क पर बसों और परखचों के साथ-साथ इंसान के अंग-प्रत्यंगों के चिथड़ें उड़ते देखना मानव के लिए खौफनाक अनुभव है । यह अली नवाज की अकेली दुर्घटना नहीं है । कई जान जन्म लेते ही स्वर्गवासी हो गईं । बम-विस्फोट, आगजनी और शोरगुल इतना भीषण रहे कि उसके बीच शरीर के भीतर जान समेटना तक मुश्किल हो रहा था । "उस भीड़ में एक अकेला आदमी एक कोने में खाली-खाली आँखों से सबको देख रहा था। किसी ने बताया कि उसी दिन बारह बजे पैदा हुए उसके बच्चे ने बम के धमाके से दम तोड़ दिया था । वर्ली के उस नर्सिंग हाम में दो नवजात शिशु दुनिया में आँखें खोलने के साथ ही हमेशा के लिए आँखें मूँद लेने को

1. सुधा अरोडा - काला शुक्रवार, पृ. 18

मज़बूर कर दिए गए थे।"[1]

हादसे ने लोगों को इतना असंवेदनशील बनाया था कि कुछ ही दिनों में शहर सामान्य स्थिति में पहुँच जाता है । मुंबई हादसे ने कई लोगों को शारीरिक और मानसिक दोनों तरह से इतना तितर-बितर किया कि उन्हें मनोचिकित्सा की ज़रूरत पड़ी । हिन्दुओं और मुसलमानों के रिश्ते को तहस-नहस करके धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने को बिखेर देना और उनके आपसी भेदभाव को और उकासाने के मकसद से बाहरी शक्तियों द्वारा की जानेववाली करतूतों की ओर भी लेखिका ने संकेत किया है । आम जनता दुतरफा वार की शिकार हो जाती हैं । एक तो विदेशी उस पर बम बरसा रहे थे और उसके अपने उसपर लाठियों की बौछार।

भारत ने संविधान के स्वरूप को धर्मनिरपेक्ष रखा लेकिन अपने समाज के स्वरूप की कल्पना धर्मनिरपेक्ष नहीं की । इसलिए देश धीरे-धीरे धर्मनिरपेक्षता से धर्मसापेक्षता की ओर सरकने लगी । शासन मौन साधता रहा । आतंकवादी देश की इस बहुधर्मिता की आड में लोगों की भावनाओं को भड़काकर अपनी स्वार्थ पूर्ति करना चाहते हैं । मुंबई सचमुच देश की धड़कन है । वहाँ क्षेत्रीयता और द्विराष्ट्रवाद आदि के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए । लेकिन यहाँ मजहब, देश भाषा से देश ऊपर होता है । इस लिए देश के नागरिक होने के नाते हमें अपनी अलग-अलग पहचान को

1. सुधा अरोडा - काला शुक्रवार, पृ. 21-22

देशभाव में पिरोने का अभियान चलाना होगा । यह कहानी सांप्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध अपनी जान की बाज़ी लगाते अवाम और औरत के संघर्ष की दास्तान है ।

लाल गोदाम की भूत

प्रियंवद की कहानी 'लाल गादाम की भूत' सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे पर गहरी नज़र डालती है । कहानी का पात्र उगनू कबीर, कबीरदास कुर्बान भाई आदि की तरह मानवीयता का पक्षधर है । यद्यपि उसके घर परिवार ही नहीं सब कुछ दंगों के दौरान नष्ट होते हैं । ये सारे पात्र धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संस्कृति पर अडिग आस्था रखते हैं । अग्नू रोशनी के समान पूरी कहानी में प्रसारित है । वह धार्मिक उन्माद के समय भी धर्म की असलियत को पहचानता है । वह मनुष्य और मनुष्यत्व को किसी भी कीमत पर खोने के लिए तैयार नहीं है । अलगू लाल गोदाम का मुनीम है । वह अक्सर दंगे का गवाह बनता है । लाल गोदाम के दरवाज़े की तरफ खटिक और पीछेवाले दीवार के बाद मुसलमानों की बस्ती है । दंगे होने की खास परिस्थिति की ओर कहानी में संकेत है "दोनों तरफ जवान पर बेकार बैठे लोग थे जो अपना खाली समय ताश.. कैरम या बदन फुलाने में बिताते, खटिक मन्दिरों में लाउडस्पीकर पर भजन बजाते । पीछे की मुस्लिम बस्ती में बदले में फायर किए जाते । दोनों बस्ती के लोग एक दूसरे से डरते हुए अपनी तैयारियाँ बढ़ाते रहते । नतीजे में हथियार बढ़ते, लड़कों के अन्दर

एक दूसरे के प्रति घृणा बढ़ती और मौके -बेमौके किसी झड़प का इन्तज़ार रहते जिससे कि अपनी जवानी और दिलेरी को साबित किया जा सके।"[1] अफसोस की बात है कि आर्थिक समस्याओं से बौखलाए लोग नासमझ बैठे हैं कि उनके अन्दर बोए गए सांप्रदायिक, ज़हर के इस्तेमाल से नुकसान उनका ही हो रहा है । जाति और धर्म के नाम पर विभिन्न गुटों में बँटकर लोग यह सोच नहीं पा रहे हैं कि उनकी नासमझी से दूसरे ही फायदेमन्द होते हैं।

अग्नू के मन में हिन्दू और मुसलमान जैसा भेद भाव नहीं है । धर्मनिरपेक्ष अग्नू धर्म के सीमित दायरों में रहते लोगों के प्रश्नों के घेरे में खडा करता है । दंगे के 'खतरे से वाकिफ होकर भी लाल गोदाम को छोड़ने के लिए उसका मन नहीं करता है । अग्नू कहता है कि "यही जगह सबसे ठीक है ।वह जगह बहुत ठीक थी जहाँ हमें सैंतालीस में मारा गया ! पर वहाँ हम नहीं बच पाए । यह न हिन्दू बस्ती है न मुसलमान बस्ती । यह लाल गोदाम भी न हिन्दुस्तान का है, न पाकिस्तान का । यह इस धूप.. इस रूई... तेल की महक... गजब का है .. जैसे मैं इनका हूँ...बस । बहुत से लोग ऐसे ही पूरी जिन्दगी जी लेते हैं । जो ज़िन्दगी पर चिप्पियाँ लगाते हैं ... धर्म की... जाति की... देशकी... वे या तो बहुत नादान हैं या बहुत जालिम।"[2] सांप्रदायिक खौफ के लिए हिन्दू मुसलमान भेद नहीं है, उनके आगे जो भी आए उसका काट होता है । अगनू कहता है - 'मेरे बच्चे के सर को फुटबाल

---

1. प्रियंवद-लाल गोदाम का भूत (हंस) आगस्त - 2001, पृ. 28
2. वही -पृ. 21

की तरह उन्होंने उछाला था । यह होना भी था । मैं अगर हिन्दू होता तो वे मुसलमान होते और मैं मुसलमान होता तो वे हिन्दू । मैं इसलिए अब कुछ भी नहीं होना चाहता।"[1]

धर्म को महत्व देनेवाले भारत जैसे देश में धर्म से परे होने की सोच सचमुच अच्छी शुरुआत है । लेकिन मानवीयता पर आस्थावान अगनू पर सांप्रदायिक राजनीति का कठोर प्रहार होता है । इसके पीछे राजनीति है । दंगों को उकसाते हुए असली समस्या से भड़का कर अपना मतलब साधने की राजनीति की ओर कहानीकार ने संकेत किया है कि "शहर के प्रदेश की राजनीति को अक्सर इसकी ज़रूरत पड़ती रहती और गाहे -बगाहे वह दोनों को अपनी दिलेरी कौम के लिए मर मिटने के जज्बे को साबंत करने का मौका देती रहती ।"[2] यह अधिकार की राजनीति है । एकता और धर्मनिरपेक्षता के ज़ोरदार नारों के बावजूद अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए यही राजनीतिक दावपेंच चलती रहती है ।

सांप्रदायिक आतंक की आग में पड़े अगनू को लाल गोदाम छोड़ने के लिए विवश किया जाता है । फिर भी वह तब तक आत्मसात मूल्यों और विचारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है । वह कहता है - "मैंने बहुत सोचा कहाँ जाऊँ? ज़मीन के ऐसे किस टुकड़े पर रहूँ जहाँ यह सब न होता हो।"[3]

---

1. प्रियंवद-लाल गोदाम का भूत (हंस) आगस्त - 2001, पृ. 30
2. वही - पृ. 32
3. वही - पृ. 33

बहुत सोचने के बाद उसको याद आया कि उसको गाँव में ऐसा एक खण्डहर है वहाँ केवल भूत रहते हैं । "भूत न आदमी होते हैं न औरत । न हिन्दू न मुसलमान न ईसाई । मैंने सोचा है कि इंसानों के बीच रहने से अच्छा है कि उनके साथ रहा जाए । वहाँ दरख्त, धूप, भूत ये सब कम से मेरे होंगे.. मैं उनका । मैं वही जा रहा हूँ । अब कभी नहीं लौटूँगा शायद।"[1]

कहानी में अगनू मनुष्यता और जीवन की अर्थवत्ता को किसी भी कीमत पर नष्ट करने के लिए तैयार नहीं । बँटवारे के दौरान उसके परिवार की हत्या हुई थी । चाहे कुछ भी हो, इनसानियत पर वह अडिग आस्था रखता है । परिवार को खोने के बावजूद वह अमानवीय नहीं बनता । इनसानियत अब भी उसके भीतर जुगुनू की तरह चमक रही है । हिन्दू और मुसलमान बस्ती को अलगानेवाले लाल गोदाम में रहते अगनू के मन में कोई विभाजक रेखा नहीं है । वह हिन्दू या मुसलमान के मोहर से बचना चाहता है । उन्हें इनसान का मोहर लगना ज़्यादा पसन्द है । वह किसी भी धर्म से परे है और सांप्रदायिक माहौल में भी आपसी सद्‌भाव का सन्देश लेकर आता है ।

फसाद

नफीस अफीदी की 'फसाद' सांप्रदायिक भावना कैसे मनुष्य को अंधा बना देती है, इसकी ओर संकेत करती है । किसी हिन्दू लड़की का

1. प्रियंवद-लाल गोदाम का भूत (हंस) आगस्त - 2001, पृ.33

मुसलमान लड़के के साथ या मुसलमान लड़की का हिन्दू लड़के के साथ भाग जाने जैसी अफवाहनुमा खबरों से अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक दंगे हुए हैं । असलीयत को समझे बिना दोनों संप्रदाय के लोग इस प्रकार की खबरों या घटनाओं को अपने-अपने धर्म पर प्रहार मानते हुए हिंसक हो उठते हैं । ऐसी स्थिति में असामाजिक तत्वों को दंगा भड़काने का मौका मिलता है । वे घटनाक्रम को इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि असांप्रदायिक व्यक्ति भी सांप्रदायिक हो उठता है । वास्तविकता क्या है, इसे जानने की कोशिश ही नहीं की जाती । उसका एक ही उद्देश्य हो जाता है - अपने धर्म पर हुए हमले का बदला लेना । नफीस अफीदी ने इस कहानी में सांप्रदायिक समस्या के इसी पक्ष को उठाया है ।

एक ही मुहल्ले के निवासी सुजान पण्डित और मौलवी खुदाबख्श गहरे मित्र हैं । दोनों को एक दूसरे पर पूरा विश्वास है । पण्डितजी की पुत्री गौरी ससुराल से लौटकर तीन वर्षों से उनके साथ रह रही थी । गौरी को खुदाबख्स का बेटा अनवर भगा ले जाता है । इस घटना से मुहल्ले के हिन्दू उत्तेजित हो जाते हैं । सभी लोग मौलवी को पाठ पढ़ाना चाहते हैं - "आज कुछ होकर रहेगा । फसाद खड़ा होगा । पण्डितजी ने चूड़ियाँ नहीं पहनी है। वह ज़रूर कुछ करेंगे । इस मौलवी को पाठ पढ़ाना होगा । पाँच वक्त की नमाज़ पढ़ने और अल्लाह की इबादत का ढोंग करनेवाले इस पाखण्डी के घर में ऐसा होगा, किसे विश्वास था ? हे भगवान क्या ऐसे ही लोग धर्म का

उपदेश देते हैं ?"[1] इस तरह की बातों से पण्डितजी के दरवाज़े पर इकट्ठी भीड़ लगातार क्रोधित और उत्तेजित होती जा रही थी । सुजान पण्डित भी बहुत देर तक अपनी उत्तेजना पर नियंत्रण न रख सके । वे मौलवी से बदला लेने इकट्ठी भीड़ के आगे आगे चल पड़े । मौलवी साहब के दरवाज़े पर भी मुसलमानों की अनियंत्रित भीड़ थी । वहाँ भी कुछ वैसी ही बातें हो रही थीं । जैसी पण्डितजी के दरवाज़े पर । यह अवश्य था कि मौलवी साहब तभी तक संयम बनाए हुए थे -"मैं खुद हैरान हूँ पण्डित । तुम्हें क्या जवाब दूँ । मुझे तो यकीन ही नहीं होता कि मेरी औलाद इस हद तक गिर भी सकती है।"[2]

मौलवी और पण्डित तक ही बात रहती तो शायद न बिगड़ती पर बात बढ़ चुकी थी । यह समस्या मौलवी और पण्डित की समस्या न रहकर दो गुण्डों - रमजू और शंकर उस्ताद के आन-मान की बात हो चुकी थी । दोनों दल भिड़ जाते इतने में पुलिस के आ जाने से स्थिति संभल गई । उस समय भीड़ भी हट गई, पर बात समाप्त हो गयी हो, ऐसा आसार नहीं था - "भला मोहल्ले में इतनी बड़ी बात हो जाये और शरीफ लोग चुपचाप बैठेंगे... एक मुसलमान एक भलेमानस हिन्दू की बेटी को भगा ले जाए और बात यूँ ही ठंडी हो जाए, उस पर तो लाशें बिछ जाती हैं लोगों को अब भी शंका थी कि कुछ होकर रहेगा.. दोनों तरफ तैयारियाँ चल रही थीं ।"[3]

1. गिरराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 86
2. वही - पृ. 86
3. वही - पृ. 87

मौलवी साहब के यहाँ, रम्जू, उस्ताद और पण्डितजी के यहाँ शंकर का ढेरा जमा हुआ था । सब कुछ हो जाने के बाद मौलवी साहब बेटे के कृत्य पर शर्मिन्दा थे । वे अपने बरसों की इज्जत पर पानी फेरने से चिंतित थे । पण्डितजी भी गौरी के बारे में, अपनी ज़िद के बारे में गौरी की ससुराल के बारे में सोचकर परेशान थे । उनके अजीज दोस्त के बेटा अनवर ऐसा करेगा, उन्हें विश्वास न होता था । एक मुसलमान उसकी इज्ज़त पर हमला करें । बर्दाश्त के बाहर की बात थी । वे चिल्ला उठे राम मेरी लाठी...।

पण्डितजी के साथ भीड़ पुनःमौलवी साहब के दरवाज़े पर पहुँच गई । वहाँ भी रमजू, उस्ताद के पट्ठे तैयार बैठे थे । दोनों दल भिडनेवाले ही थे कि अनवर आ गया । वह पण्डितजी की बेटी को उसके पति के पास पहुँचाकर आया था । यह समाचार सुनकर पण्डितजी में एकदम परिवर्तन आ गाय । - "मुझसे पूछकर ले जाना था। बेटी ऐसे ही सूनी चली गयी । मुझसे कहे तो धूम धाम से भेजता।... सुना मौलवी दामाद ने पढ़ाई पूरी करके नौकरी कर ली है । बाप से अलग होकर गौरी को बुलवाया था।"[1]

सही समय पर अनवर आ गया । अन्यथा उत्तेजित भीड़ क्या करती और उसका परिणाम क्या होता, कल्पना तक नहीं की जा सकती है। दरअसल कहानी इस तथ्य पर ज़ोर देती है कि सांप्रदायिक भावना मनुष्य को

---

1. गिरराज शरण - सांप्रदायिक सद्‌भाव की कहानियाँ, पृ. 88

अंधा बना देती है । उसका विवेक हर लेती है । वह सही गलत का निर्णय नहीं कर पाता । पण्डितजी की स्थिति कुछ ऐसी ही हुई थी । असामाजिक तत्वों और मुहल्ले के लोगों ने घटना को ऐसा रंग दिया था कि वे अपने अभिन्न मित्र और उसके बेटे पर अविश्वास कर बैठे थे । बार-बार सफाई देने पर भी वह मौलवी पर विश्वास नहीं कर सका था । भारतीय समाज में हिन्दू-मुसलमानों के साथ-साथ रहने से इस तरह की समस्याएँ आए दिन आती रहती हैं । इनके कारण काफी खून बह चुका है । अक्सर यह देखा गया है कि इस तरह की घटनाओं के मूल में कुछ अन्य कारण ही हुआ करते हैं । पर समाज इसे सांप्रदायिक आधार पर बांटकर देखता है ।

जलता हुआ सवाल

निश्तर खानकाही समकालीन कहानीकारों में प्रसिद्ध है । सांप्रदायिक समस्या को लेकर लिखी गई उनकी कहानी है 'जलता हुआ सवाल'। यह कहानी सांप्रदायिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाती है । लेखक की मान्यता है कि हमारी परंपरा को सही ढंग से न समझ सकने के कारण ही व्यक्ति संप्रदाय-विशेष के प्रति आग्रही हो जाता है । उसका यही आग्रह सांप्रदायिक आधार पर समाज को विभाजित करता है और आपसी तनाव पैदा करता है ।

वामन टीकरी नामक कस्बे के हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई

तनाव नहीं था । दोनों समुदाय में गहरी मित्रता थी । दोनों मिलजुलकर रहते थे । हर्षोल्लास से एक दूसरे के तीज़-त्योहारों में सक्रिय हिस्सेदारी करते थे। जब पूरे देश में सांप्रदायिक तनाव बरकरार था तब भी यहाँ के हिन्दू मुसलमान एकता के सूत्र में बंधे थे । पर फिर वह स्थिति नहीं रही । रामलीला की झांकियों के मार्ग को लेकर पहली बार सांप्रदायिक दंगा हुआ। दूसरी बार मुहर्रम के जुलूस के मार्ग के कारण दंगा हुआ । इन दंगों के परिणामस्वरूप दोनों संप्रदाय दूर हो गए । तीज़-त्योंहारों में सक्रिय हिस्सेदारी न रही । दोनों एक दूसरे से सशंकित रहने लगे - "वह दिन है और आज का दिन मुसलमान राम की रथयात्रा में नहीं शरीक होते और हिन्दू मुहर्म के ताज़ियों में...।"[1]

बालक अब्दाल रामलीला जुलूस देखना चाहता है । अब्दाल के अब्बू उसे जाने नहीं देता । वह परेशान है कि वही अब्बू जो पहले खुद रामलीला के जुलूस में शरीक होता था, राम के प्रति श्रद्धा रखता था आज उसे क्यों रोक रहा है ? वह यह भी नहीं समझ पाता कि "राम और हुसैन के कुछ विशेष मार्गों तक सीमित कर दिये जाने का अर्थ क्या है ? क्या सत्य के लिए कर्बला के मैदान में जेहाद करनेवाले हुसैन और चौदह वर्ष के वनवास की कुर्बानी देनेवाले भगवान राम मोहम्मद अली रोड और विश्व मन्दिर मार्ग के बंटवारे पर एक-दूसरे के विरुद्ध भिड़ सकते है।"[2]

1. गिरराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 108
2. वही - पृ. 108

रात को जागते रहते अब्दाल ऐसी अनेक बातें सोचता है । उसे माँ की बताई बात याद आती है कि यह धरती गाय के सींग पर टिकी हुई है । रजनीश के बापू ने भी उसे यही बात बतायी थी । वह सोचता है - "जब रजनीश के बापू और अब्बू की गाय एक ही है तो राम और हुसैन के मार्ग अलग-अलग क्यों है?"[1] अब्दाल का बालक-मन इन प्रश्नों का उत्तर नहीं तलाश पाता । वह चुपके से उठकर जुलूस में पहुँचता है । और भक्त की मुद्रा में राम के चरणों में झुक जाता है । तभी उसे महसूस हुआ कि कोई उसका हाथ पकडकर पीछे की ओर खींच रहा है । पीछे खींचनेवाले कोई और नहीं, अब्दाल का अब्बू ही था ।

कहानीकार ने अब्दाल के बाल-मानस का बारीकी से विश्लेषण किया है । हमें यह सोचने के लिए मज़बूर भी करता है कि आखिर ईश्वर के नाम पर यह भेदभाव क्यों ? हिन्दू मुस्लिम देवताओं का रास्ते से क्या ताल्लुक है ? सचमुच ईश्वर तो हमारे मन में रहता है । तंग गालियों में नहीं। अब्दाल के पिता रहमान पहले कट्टरवादी नहीं था । रहमान को राम का जुलूस देखकर ऐसा लगता है कि वह कोई अभिनय नहीं देख रहा है, बल्कि सचमुच वह घटना उनकी आँखों के सामने घट रही है । एक बार वह सुध-बुध खो बैठा और भीड को चीरता हुआ आगे बढ़ा और श्रद्धा से उसने राम की भूमिका निभानेवाले व्यक्ति के पैर छू लिया । रामलीला के दौरान हुए इस

1. गिरराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ.109

घटना के संबन्ध में कहा गया है - "उन दिनों रामलीला का जुलूस मोहम्मद अली रोड़ से होकर नहीं गुज़रता था । कालिदास मार्ग से होता हुआ सीधा उस कच्चे रास्ते की तरफ बढ़ जाता था, जहाँ आज़ादी के बाद पंजाबी बस्ती बसा दी गयी है । रास्ता अधिक तंग हो जाने के कारण अब जुलूस मुहम्मद अली रोड से होकर जाने लगा है । और तभी से हर साल शहर में तनाव की हालत पैदा हो जाती है । जब यह तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है तो मिल-जुल रहनेवाले हिन्दू मुसलमान भी बंट कर दो खेमों में हो जाते हैं ।"[1] अब्दाल के पिता रहमान भी इसका शिकार हो गया । फिर वह रामलीला देखने नहीं जाता और अपने बेटे को भी जाने नहीं देता । बेटा चुपके से रामलीला ग्राउंड चला जाता है तो रहमान उसे वापस खींच लाता है ।

बदलते परिवेश में व्यक्ति किसप्रकार इनसानियत को भूलकर संप्रदायवाद के अधीनस्थ होने के लिए मज़बूर हो जाता है और भविष्य पीढी को भी उसी रास्ते की ओर ले जाता है, इसी हकीकत को सही ढंग से रहमान के ज़रिए कहानीकार ने ज़ाहिर किया है ।

सांप्रदायिकता और आर्थिक विपन्नता पर लिखी गई कहानी

सांप्रदायिकता के कारणों की पड़ताल करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति, धर्म, जाति, नस्ल के अलावा अर्थ, वर्ग, भाषा भी इसके कारण बन जाते हैं । वर्ग-विभाजित समाज में व्यवस्था क्रूर होती है।

1. गिरराज शरण - सांप्रदायिक सद्‌भाव की कहानियाँ, पृ. 110

ऐसे समाज में सत्ता हमेशा बुर्जुआ वर्ग के हाथों में होती है । निम्नवर्ग के शोषण के ज़रिए ही वह अपने को कायम रखता है । सत्ता को अपने पास सुरक्षित रखने के लिए वह हर संभव कोशिश भी करता रहता है । सत्ता में रहकर धनार्जन ही उसका मुख्य लक्ष्य है । इस केलिए वह जनता को विभिन्न खेमों में विभाजित रखता है । अपने लक्ष्य तक पहुँचने की कोशिश में भी जुडे रहता है । वर्गबद्ध समाज में जनता को बांटकर आपस में लडवाना ऐसी ताकतों तथा अन्य असामाजिक सत्ता केन्द्रों का तंत्र है । धर्म के नाम पर जनता सबकुछ भूलकर सत्ता के जाल में फंस जाती है और आपस में लड़ती -भिड़ती रहती है । इसलिए सांप्रदायिकता को खत्म करना है तो वर्ग भेद को भी मिटाना है । यह निस्तर्क बात है "सांप्रदायिकता की जड़े, राजनैतिक और आर्थिक असमानात में है।"[1] दुःख की बात यह है कि सांप्रदायिकता के कारणों की खोज करते प्रशासन की नज़र में कभी भी आर्थिक विपन्नता नहीं दिखाई देती है । किशन पटनायक के अनुसार "आधुनिक सभ्यता ने आर्थिक विकास पद्धति को अपनाया है, उसके चलते कोई भी जन-समूह बाहरी आक्रमण और हस्तक्षेप से सुरक्षित नहीं हो सकता है क्योंकि इस विकास प्रणाली में 'अपने' जनसमूह को समृद्ध बनाए रखने के लिए कुछ अन्य जन-समूहों को राजनीतिक एवं आर्थिक रूप में निरन्तर पिछड़ा बनाए रखना आवश्यक है ताकि उनका बाज़ार, कच्चा माल और सस्ता श्रम अपने को उपलब्ध होता रहे।"[2] विश्व के किसी भी धर्म ने समाज में वर्ग भेद को

1. सं. पल -पतिपल, पृ. 3
2. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया, पृ. 3

मिटाने का प्रयास नहीं किया है । कम्यूनिस्ट पार्टियों ने अपनी विचारधारा में ही सांप्रदायिकता का समाधान तलाश कर लिया है । उनके नज़रिए के मूताबिक सासंस्कृतिक स्तर पर सांप्रदायिकता विरोधी लड़ाई को सफल बनाने केलिए आर्थिक स्थिति में बदलाव लाना अनिवार्य है ।"[1] असगर वजाहत की कहानी 'सारी तालीमात' में धर्म की आड में गरीब मज़दूरों के शोषण का चित्रण है । वर्तमान पूँजीवादी समाज में धर्म, शोषित, मज़दूरों के बीच सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने की वजह बनता है । गरीब मुसलमानों को 'हाजी अब्दुल करीम एण्ड को नामक दल में फंसाया जाता है । हाजी खुदगर्जी के कारण धर्म के नाम पर सांप्रदायिक उन्माद और परस्पर घृणा को उकसाते हुए मज़दूरों को हिन्दू मालिक की नौकरी करने से रोकता है। दूसरी ओर उद्योगपति वीरेन्द्र बाबू भी मजहब के नाम पर हिन्दू मज़दूरों को एकत्रित करने का प्रयास करता है ।

हाजी निजी हितों के वास्ते सार्वजनिक हितों को अनदेखा करता है। वह मुसलमान कर्मचारियों के मन में असुरक्षा सन्देह और भय को बरकरार रखना चाहता है । "इस्लाम तुम्हें यही सिखाता है कि एक मुसलमान के कारखाने के काम छोड़कर थोड़े से लालच में हिन्दू के कारखाने में चले जाओ? वीरेन्द्र बाबू से तुम्हारा क्या रिश्ता है ?.... कोई ज़्यादती करें तो अल्लाह के यहां दामन थाम सकते हो । लेकिन वीरेन्द्र बाबू के यहाँ क्या

1. किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया, पृ.

करोगे ? अगर कभी फसाद हो गया तो मार ही तो दिए जाओगे न ? इस्लाम की सारी तालीमात को भूल गए हो ? यही तो कौम में सबसे बड़ी खराबी है कि एक मुसलमान किसी दूसरे भाई का फायदा नहीं देख सकता।"[1] धर्म की तालीम का इस्तेमाल वह स्वार्थ सिद्धि के लिए करता है । ताकि उसकी फैक्ट्री में कम वेतन पर काम करवाता रह सकें । हाजी नौकरों को अपने संवैधानिक अधिकारों से वंचित रखता है । गरीब मुसलमान ईमान और जान की वजह से वीरेन्द्र बाबू के कारखानों को छोड़कर हाजी के फैक्ट्री में काम करते हैं । पूरे देश में मज़दूरी एकता को तोड़ने में सांप्रदायिकता की अहम भूमिका रही है । धर्म एवं राजनीति अमीर के साथ हैं । वे वर्ग भेद को मिटाने की कोशिश के बजाय बढ़ाने में कार्यरत हैं । इससे अमीर लोगों का ही फायदा होगा । वे गरीब को सदा गरीब ही बनाया रखना चाहते हैं । कुंवरपाल सिंह के शब्दों में - "बंबई में चाहे शिवसेना हो या कानपुर में संघपरिवार और अहमदाबाद में मुस्लिम लीग और हिन्दुत्ववादी संगठन रहे हों इन्होंने बड़े पूँजीपतियों और व्यापारियों का हित साधन किया है । मज़दूर आन्दोलन के बिखराव के बाद साँप्रदायिक शक्तियाँ और अधिक सशक्त हुई हैं ।"[2] सत्ता की राजनीति और स्वार्थी धर्म ने हिन्दुस्तान के साधारण जन की मनुष्यता छीन ली और सदियों से आसपास रहते पडोसियों को बाँटने का जघन्य अपराध किया ।

---

1. असगर वजाहत - उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 47
2. असगर वजाहत - उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, (भूमिका से)

वंदना राग की कहानी ‘युटोपिया’ में चित्रित किया है कि अच्चुदानंद गोसाई सांप्रदायिक राजनीति का एक मोहर है। फासीवाद बेरोज़गार युवकों एवं धर्मभीरु जनता को अपने कुत्सित स्वार्थों के लिए इस्तेमाल करता है । बाप की असमय मृत्यु ने अच्युतानंद को बेसहारा बनाया था । इस बेसहारे की रक्षा के वास्ते पार्षद राम मोहन उसके मन में सांप्रदायिक ज़हर फूँकता है । यही युवक 6 दिसंबर को शौर्य दिवस मनाने और वेलेंटाइन-डे में प्रेम विरोधी बनकर ‘संस्कृति’ की कथित रक्षा करने को कटिबद्ध नज़र आता है।

अवधेश प्रीत की कहानी ‘हम ज़मीन’ में दो रूहों के वार्तालाप के माध्यम से हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों में विद्यमान वर्ग बद्धता और शोषण को व्यक्त किया गया है । ‘पहला’ तीस सालके हिन्दू का रूह और ‘दूसरा’ साठ साल के मुसलमान का रूह ।

पानी, भोजन, वस्त्र. शिक्षा आदि जीवन की बुनियादी चीज़ें हैं । संविधान ने इन्हें मानवाधिकार का पद भी दिया है । फिर भी समाज का एक बड़ा हिस्सा इन्हीं मानव अधिकारों से वंचित है । हमारी शासन व्यवस्था भी वर्ग भेद को मिटाने में ध्यान नहीं देती है ।इसलिए गरीब हमेशा गरीब ही रहा करते हैं । भूख से मरनेवालों में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं है । इस यथार्थ को रूहों के वार्तालाप के माध्यम से कहानीकार ने व्यक्त किया है - “उन्हीं दिनों जबरदस्त अकाल पडा।... मैं शहर में मज़दूरी के लिए आया और उधर मेरी बीवी बच्चे भूख से तड़पकर मर गए।... इतना भी नहीं जानता कि

भूख से सिर्फ गरीब मरते हैं।"[1] इन दोनों की हत्या अपने-अपने 'अक्ल के अंधे' धार्मिकों ने की हैं । एक ही हत्या उसके ही अक्ल के अंधे ने इसलिए की है कि उसने एक हिन्दू का मकान बनाया और उसकी मौत को लेकर फसाद भी हुआ ।

हत्यारा परिस्थितियाँ बनाता है और कार्य करता भी है । ऐसे कारण एवं कार्य दोनों के लिए आर्थिक और राजनीतिक वजहें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । कहानी की आखिरी पंक्तियाँ इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि यदि मनुष्य चाहे तो मजहब की दीवार तोड़कर एक बेहतर समाज बना सकता है, जैसा कि इस कब्र में पड़े दोनों मुर्दे करते हैं - "नहीं बड़े मिया'। पहले ने दुगुने ज़ोर से जवाब दिया, मैं अपनी तरफ की मिट्‌टी खोदने लगा था । ठीक है । फिर मैं भी शुरु करता हूँ । दूसरे ने आश्वस्त किया और अचानक अब तक का सबसे नामुमकिन वाक्या वजूद में आया। सहमे हुए समय ने गौर से देखा, ज़मीन में ज़िन्दगी की सी हरकत हो रही है।"[2] आर्थिक एवं राजनीतिक कारण नहीं होते तो, आम आदमी के बीच कोई दीवार नहीं' होती ।

आज के पूँजीवादी समाज में शोषित मज़दूरों को सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने के लिए ज़रिया बनाया जा रहा है । इस बात को खुलासा करती उनकी कहानी है 'राजा का चौक'। स्वार्थवश संभ्रान्त वर्ग या राजनेताओं

1. अवधेश प्रीत- हमज़मीन, पृ. 63
2. वही - पृ. 65

द्वारा किए गए कार्यकलापों की सांप्रदायिक रूप रंग दिया जाता है ।

कहानी के आरंभ में चौक का वर्णन है । चौक में कई घर हैं और उनके पास एक मैदान है । मैदान में रहनेवाले गरीब खेची करके जीविका चलाते हैं । कहानी के पात्र छोटा बच्चू और बडा बच्चू उस चौक की मिट्टी में पले थे । फज़लू का बेटा छोटा बच्चू है और कलुआ का बेटा बड़ा बच्चू। ये दोनों दोस्त हैं । गाँव में हलचल तब शुरु हुआ जब एक मौलवी साहब ने आकर डेरा लगाया । वह धर्म प्रचारक है । पक्का मुसलमान भी धार्मिक दृष्टि से लोगों को भेदभाव की नज़र से देखता है ।

राजनीतिज्ञ, ज़मींदार, उद्योगपति आदि अपने घटिया चाल से छोटे और बड़ा बच्चू के दिलोदिमाग में हिन्दू मुसलमान होने का एहसास कराते हैं । पेट पालने के संघर्ष को सांप्रदायिकता का रंग दिया जाता है । अपने मकसद की पूर्ति के लिए धर्म का गलत इस्तेमाल किया जाता है । कहानी का एक पात्र दुर्गासरन व्यापारी है । दुर्गासरन जैसे लोगों की वजह से गाँव में दंगा होता है । ये लोग साधारण जनता को आपस में भड़काते है । इनके कारण ही छोटे और बड़े बच्चू आपस में लड़ते हैं । जब बड़ा बच्चू मारा जाता है तो दुर्गासरन उसे हिन्दू होने के कारण अपना आदमी कहता है । छोटा बच्चू मारा जाता है तो दुर्गासरन उसे हिन्दू होने के कारअ आपना आदम कहता है । छोटा बच्चू मुसलमान होने के कारण दंगे का सारे दायित्व उसके सिर पर थोप देता है । वह कहता भी है । "अच्छा? मुसलमान था

यह । है पूरी तैयारी थी बदमाश की - चाकू भी- हथगोला भी । हे भगवान यह तो पूरा होटल उडा देता ।"[1] फिर पुलिस को बुलाकर सफाई देता है कि झगडा सांप्रदायिक दंगा था । अधिकारी दंगे के खिलाफ सख्त कार्यवाही का आश्वासन देते हैं। उसके बाद ही दुर्गासरन चैन से साँस लेता है । वह सोचता है अच्छा इस बलबूते ने रास्ता साफ कर दिया । अब चौक में अपनी इच्छा से काम हो सकता है । कोई पूछनेवाला नहीं । यहाँ दुर्गासरन अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार लोगों का प्रतिनिधि है । बड़े बच्चू का पिता कलुआ अपनी गरीबी सरदार जी का कर्ज़ और गाँव की बूरी हालत आदि के कारण अपने परिवार के साथ शहर चला जाता है । उन दिनों कलुआ की शराब पीने की आदत भी बहुत बढ़ गया थी । उसके तत्काल शहर जाने का कारण भी था । एक दिन हाते के बाहर भयंकर धमाका हुआ। पता चला कि हथगोला फूटा है । धमाका होते ही उसने बाहर निकालकर चीखना शुरु कर दिया । "अब इस चौक में रहना भी दुश्वार है । जान के गाहक बन गये है सब । अबे, हरामजादे शहर में दंगा होता है तो हमें इससे क्या मतलब । शहर की हवा क्या हियां भी ले लाए हो । अरे । हम दो - चार घर के लोग हैं - रहने दोगे कि नहीं । आपस में खून-खच्चर करिबे का इरादा है का।"[2] पूरे चौक में मानो उसकी आवाज़ गूँज रही थी । इस घटना के तीसरे दिन वह बोरिया-बिस्तर लेकर शहर चला गया । दंगे-फिसाद का

1. नमिता सिहं - राजा का चौक, पृ. 22
2. वही - पृ. 23

आम लोगों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, कैसे वे बेधरबार हो जाते हैं, कलुआ के परिवार के त्रासद चित्रण से यह बात ज़ाहिर हो गई है । कहानी की आखिरी पंक्तियाँ इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि अपनी मंज़िल पाने के लिए सांप्रदायिक ताकतें कैसे धर्म को मोहरा बनाती हैं । "सेठ दुरगादास ने चैन की साँस ली । इन बदमाशों को मैदान की तरफ से भी हटाना होगा। अच्छा हुआ बच्चू लाल ने रास्ता साफ कर दिया । अब आगे आसानी होगी।"[1] बच्चू खाँ के हाथों बच्चू लाल के मारे जाने से उनका रास्ता साफ हो जाता है । क्योंकि इसप्रकार दूसरी तरफ की जगह भी खाली करवाई जा सकती है ।

उनकी अन्य कहानी 'पर्सनल मामला' में इसका चित्रण है कि किस प्रकार विरोधी दल और सांप्रदायिक नेता स्वार्थ वश आम जनता के बीच सांप्रदायिक ज़हर फैलाते हैं । नेताओं के बीच आपसी सौहार्द और लेन-देन होते हैं । कहानी के 'मुहल्ला सुरक्षा समिति' का अध्यक्ष पद रंजीत सबसे ज़्यादा चंदा देकर हासिल करता है और अपने 'उपयोगी' पावर हाऊस में ओवर्सियर रियाजुद्दीन की कर्फ्यू के वक्त भी पर्सनल मामले की आड में मदद भी करता है ।

वर्ग भेद समाज में हमेशा बना रहेगा तो बुर्ज़ुआ वर्ग द्वारा निम्न वर्ग का इस्तेमाल व शोषण भी हमेशा होता रहेगा । बेकार एवं दिशाहीन

---

1. नमिता सिहं - राजा का चौक, पृ. 25

युवापीढ़ी का इस्तेमाल भी मोहर के समान किया जाता है । अपनी इस हालत की असलियत का उन्हें पता नहीं है । युवापीढ़ी की सर्जनात्मकता को संकुचित करके उसे और देशविरुद्ध बनाना सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों का खेल है । अमीर दिन-ब-दिन अमीर होते जा रहे हैं और गरीबों की संख्या बढ़ती ही रहती है । स्वतन्त्रता के बाद भारतीयों में जिजीविषा थी, राजनीति में आस्था थी । लेकिन षड्यंत्र, सत्तामोह, भ्रष्टाचार, चोरी आदि शिखर को छू रही हैं । इस भ्रष्ट राजनीति की वजह से जनता में मोहभंग निराशा एवं कुण्डा पनपने लगी है । इसका भी ज़्यादातर असर युवापीढी पर पड़ा । कहानी इसकी ओर ही तर्जनी उठाती है ।

चुनावी राजनीती की अभिव्यक्ति

लोकतंत्र में चुनाव का बड़ा महत्व है । चुनाव और मतदान उसके संवैधानिक रूप ही हैं । लेकिन आज चुनाव में नैतिकता का गायब होना बड़ी चिन्ता की बात है । विघटनकारी राजनीति का प्रमुख हेतु हमारी चुनाव प्रणाली है, जिसे हमने अंग्रेज़ों से विरासत के रूप में पाया है । जनता को अपनी पसंद के प्रतिनिधि चुनने के उनके अधिकार एवं स्वतन्त्रता पर तरह-तरह के अंकुश लग गए हैं । आज के अधिकांश राजनीतिज्ञ केवल अपनी कुर्सी सलामत रखने के लिए तस्करों, व्यापारियों व अभिनेताओं को बढ़ावा देते हैं । धर्म को अपने-अपने ढंग से भुनाते हैं । ज़्यादातर राजनीतिक दल इसलिए कई गुटों का एक समूह बन गया है, जिसके भीतर कोई विचारधारा

या दृष्टिकोण की धूरी नहीं है - "वर्तमान भारत में कोई भी राजनीतिक दल ऐसा नहीं है जो सर्वांगीण रूप से एक दल कहलाने योग्य हो।"[1] जनता के बीच धर्म, नस्ल, वर्ग आदि के आधार पर भेद पैदा कर सत्ता हासिल करना उनका लक्ष्य है । आज चुनाव 'रॉड शो' बन गया है ।

असगर वजाहत की 'मुर्दाबाद' कहानी में इसका चित्रण है कि राजनीतिक पार्टी-बंदी और आर्थिक मज़बूरियाँ कैसे सीधे-सादे लोगों को सांप्रदायिक होने पर विवश करती हैं । आज चंद मतदाताओं को छोड़कर अधिकांश मत, जाति, धर्म, भाषा और प्रांत के नाम पर दिए जाते हैं - "देखा शहर के सेंट पेरसेंट मुसलमानों की वोट तुम्हारे हैं । मुसलमान साले तुम्हें ही वोट नहीं देंगे तो जाएँगे कहाँ?"[2] लोग, धर्म, प्रांत आदि के आधार पर न केवल वोट देते हैं , वे चुनाव प्रचार में नेता के साथ काम भी करते हैं । नुरु मियाँ के इलेक्शन में शहर के मुसलमान लौंडे जीतोड़ मेहनत करते हैं । कई जिलों में साला एक तो मुसलमान एम.पी. है । वह भी हार गया तो शहर क्या, चार-छः जिले के मुसलमान की नाक कट जाएगी । किसी भी पार्टी से खड़ा है - "है तो मुसलमान? और फिर मुसलमानों की गांड में यूं ही डण्डा किए रहते हैं लोग । नुरू, मियाँ हार गए तो जनसंधियों की चढ़ बजेगी और लखनऊ से दिल्ली तक जिले के मुसलमानों की सुनवाई करनेवाला कोई न होगा और फिर हैदर हथियार को तो वैसे भी कुछ काम नहीं है । मुख्तार तो

1. राजकिशोर - हिन्दुत्व की राजनीति, पृ. 78
2. असगर वजाहत - उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 33

नुरु मियाँ को इलेक्शन को इस्लाम ज़िन्दाबाद समझकर काम करता है।"[1] सांप्रदायिक दल और समूह एक ओर सांप्रदायिक आवेश भड़काना चाहते हैं तो दूसरी ओर धर्मनिरपेक्ष अवसरवादी सांप्रदायिक हमले के दौरान अपने कवच में छुप जाते हैं ।

वोट के लिए सत्ता और संपत्ति का दुरुपयोग होता है । "क्या बताओ? तुम क्या जानो इल्केशन किस चिड़िया का नाम है ? आराम से केकड़ा में घूम रहे हो । मुफ़्त में चाय-सिगरेट मिल रही है ।तुम तो चाहता होगा कि साला साल भर इलेक्शन रहा करे।"[2] मूर्ख जनता पैसे या शराब के मोह में इन नेताओं के पीछे पड़ रही हैं । वे शराब के नशे व जोश में नंगे होकर नाचती हैं । नेता गुण चुनाव में पैसा बहाते हैं लेकिन वह अपना पैसा नहीं है वह काले धन का पैसा होता है ।"घर के पैसे से कोई इलक्शन नहीं लड़ता है।"[3]

चुनाव को सांप्रदायिकता, कालाधन जैसे नकारात्मक ज़हरीले तत्वों से मुक्त करना है । उसके लिए सजग नागरिक एवं सही राजनीतिक की अनिवार्यता हैं । आज नेहरू जैसे निर्भय नेता नही है । 'नेहरू ने 1954 में ही घोषित कर दिया था "मैं भारत में हर चुनाव हारने के लिए तैयार हूँ मगर सांप्रदायिकता और जातिवाद को कोई कोना नहीं मिलने दूँगा।"[4] आज

1. असगर वजाहत - उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 30
2. वही - पृ. 31
3. वही - पृ. 37
4. विपिन चन्द्र - सांप्रदायिकता एक अध्ययन, पृ. 31

भारत में धर्म, जाति और चुनाव को किसी भी सूरत में अलग नहीं किया जा सकता । यही कारण है कि चुनाव लड़ती वाम राजनीति भी धर्म और जातिवादी आधार का ही उपयोग करती है । आत्माराम के शब्दों में "इस बात पर ज़रा गौर कीजिए कि आज की राजनीति में क्या कोई राजनीतिक पार्टी (वाम पार्टियाँ सहित) धर्म की अनिवार्यता को नकार सकती है ? कोई भी पार्टी चुनाव जीत कर सत्ता पर कब्जा कर सकती है? (नहीं) लेकिन साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस तरह की घोषणा करके आज तक कोई पार्टी चुनाव में उतरी नहीं है।"[1] आज चुनाव जीतने के लिए सभी राजनीतिक दल धर्म का इस्तेमाल कर रहे हैं । सभी नेता एवं दल तथा जनता भी चुनाव के वक्त सांप्रदायिक राजनीति के मार्ग से ही आगे बढ़ रही है ।

दो तीन, दशक पहले तक चोर, डाकू चुनाव लड़नेवाले उम्मीदवारों की मदद करते थे । सीधे राजनीति में आने की वे सोच भी नहीं सकते थे। लेकिन आज पूरा परिदृश्य बदल गया है । अपराधियों और माफियाओं के आगे राजनीति एवं प्रशासन नतमस्तक है । भारत के कुछ राज्यों में इन्हीं माफिया-सरगनों का वर्चस्व है । पूरा पुलिस प्रशासन उनके इशारों पर चलता है । राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों और व्यापारियों का गठजोड़ देश को रसातल की ओर ले जा रहा है । इनके सामने एक ही लक्ष्य है - सत्ता के माध्यम से कैसे धन-संपत्ति को हडपा जाए । उसके लिए जनता वोटर है । हिन्दू वोटर,

---

1. पहल - पत्रिका अंक -73, पृ. 31

हरिजन वोटर, सुन्नी वोटर आदि । "और फिर इन दंगों से फायदा किसको? फायदा? अजी हाजी अब्दुल करीम को फायदा है जो चुंगी का इलेक्शन लड़ेगा और उसे मुसलमान वोट मिलेगे । पंडित जोगेश्वर को है जिन्हें हिन्दुओं के वोट मिलेंगे - अब तो हम क्या हैं ? तुम वोटर हो - हिन्दू वोटर, हरिजन वोटर, सुन्नी वोटर, शिआ वोटर- यही सब होता रहेगा इस देश में? हाँ क्यों नहीं ? जहाँ लोग जाहिल है, जहाँ किराए के हत्यारे मिल जाते हैं। जहाँ पोलीटीशियन अपनी गद्दियों के लिए दंगे कराते हैं वहाँ और क्या हो सकता है।"[1] चुनाव हिंसा की राजनीति को भी जन्म देते हैं । इस प्रकार के चुनाव की राजनीति राष्ट्रीय एकता के लिए बाधा है । हरीन्द्र देव के अनुसार - "अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के अधिकारों की बात पंचायत नगर पालिका, विधानसभा या लोकसभा के चुनाव जीतने मे काम आती हो तो राष्ट्रीय एकता किस बल का नाम है ।"[2] धर्मनिर्पेक्ष देश में धर्म व्यक्तिगत मामला होता है । राज के निर्णयों में धर्म का हिसाब लगाया जाने लगे तो धर्म और राजकाज दोनों की क्षति होगी । उनकी 'मुर्दाबाद' कहानी में भी राजनीतिक गुटबन्दी और आर्थिक मज़बूरियाँ सीधे-सादे लोगों को कैसे सांप्रदायिक होने पर विवश करती है, इसका यथार्थ चित्रण हुआ है ।

उनकी 'ज़ख्म' कहानी भी इस दृष्टि से काबिले गौर है । इस कहानी में उन्हेंने हिन्दू - मुसलमान के सांप्रदायिक दंगों में राजनेता और प्रशासनिक

---

1. असगर वजाहत - मैं हिन्दू हूँ, पृ. 40
2. हरीन्द्र देव - धर्मयुग (1988) पृ. 39

अधिकारियों की भूमिका का व्यंग्यात्मक शैली में चित्रण किया है । ऐसा लगता है कि बदलते हुए मौसमों की फेहिरस्त में सांप्रदायिक दंगों को शामिल किया गया है । अगर मोसमों के आने-जाने के बारे में स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है, वैसे अनुमान सांप्रदायिक दंगों के मामले में नहीं । इसके बावजूद पूरा शहर यह मानने लगा कि सांप्रदायिक दंगे मौसमों की तरह निश्चित रूप से आता है । सांप्रदायिक शक्तियों की गिरफ्त में भारत की राजनीति के आने का ही दुष्परिणाम है ये सांप्रदायिक दंगे ।

प्रस्तुत कहानी में सांप्रदायिक दंगों के मूल कारणों को परखने की सार्थक कोशिश हुई है । सांप्रदायिकता के बीज बड़े-बड़े लोगों की तरफ से राजनीतिक हथियार के रूप में रोपे जाते हैं, जिसके शिकार गरीब और असहाय जन होते है । धर्म के ठेकेदार अपने मतलब के वास्ते सांप्रदायिक दंगे भड़काते है । धर्म को वे औज़ार के रूप में इस्तेमाल करते हैं । वोट की राजनीति हर कहीं अपना पाँव जमा चुके हैं । इस वोट बैंक की राजनीति से नुकसान देश का होता है और राजनीतिक शक्तियाँ इससे फायदा उठाती हैं । ये शक्तियाँ अपना राजनीतिक औकात मज़बूत करना चाहती हैं । भारत की त्रासदी भी यही है । यह बात तो जगजाहिर है कि नेतागण अपना वजूद बनाए रखने के लिए मजहब के नाम पर वोट माँगते हैं, तथा नेतागिरी करते हैं । कहानीकार के लफ़्ज़ों में - "देखो ज़रा सिर्फ तसव्वुर करो कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं, मुसलमानों के बीच कोई झगड़ा नहीं है । कोई

बाबरी-मस्जिद नहीं है । कोई राम जन्मभूमि नहीं है । सब प्यार से रहते हैं, तो भाई ऐसी हालत में मुस्लिम लीग या आर.एस.एस के नेताओं के पास कौन जाएगा ? उनका तो वजूद ही खत्म हो जाएगा ।"[1]

मुख्तार कहानी का मुख्य पात्र है । वह आम आदमी का प्रतिनिधि है । वह कनाट प्लेस की सिलाई की दूकान में काम करता है । वह सामाजिक समस्याओं में रुचि रखता है । एक जमाने मे वह मुहम्मद अली जिन्ना का भक्त था और श्रद्धावश उन्हें 'कायदे आजम' कहता था । द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त को बिलकुल सही मानता था ।

कहानी में दिल्ली में हुए सांप्रदायिक दंगों के बाद होते सांप्रदायिकता विरोधी कार्यक्रमों की भी लेखक ने खिल्ली उठायी है । लेखक इशारा करते है कि सम्मेलन के आयोजकों तथा समर्थकों के बीच हमेशा सम्मेलन आयोजन में देरी को लेकर तर्क होते है । कहानीकार का व्यंग्य है कि प्रजातान्त्रिक तरीके से काम करने में समय लगता है व गैर प्रजातान्त्रिक तरीके से किये जानेवाले काम फट से हो जाते हैं - जैसे दंगा । फिलहाल ऐसे आयोजन प्रहसन मात्र रह गए हैं । मुख्तार लेखक का मित्र है । उसका अपने इस्लामी मुल्क के प्रति एक जुनून सवार है । लेखक उससे पूछता है "ये बताओ कि क्या वहाँ - गरीबों -अमीरों में वैसा ही फर्क नहीं है जैसा यहाँ है, क्या वहाँ रिश्वत नहीं चलती, क्या भाई-भतीजावाद नहीं है; क्या वहाँ

---

1. असगर वजाहत - सब कहाँ कुछ..., पृ. 11

पंजाबी-सिन्धी और मोहाजिर 'फीलिंग' नहीं है ? क्या पुलिस, लोगों को फँसाकर, पैसा नहीं वसूलती।"[1] फिरकापरस्ती से उन लोगों का भी फायदा है जो उस देश की सरकार चला रहे हैं । सर्वदा वे जनता में सांप्रदायिक हलचल पैदा कर उनकी ज़बान बन्द कर देती है ताकि जनता अपने हक के लिए उनसे मत लड़ें। फिर ऐसे दंगों से फायदा उन लोगों को भी हैं जिनका कारोबार उसकी वजह से तरक्की करता है । कहानीकार के मत में - "अगर तुम्हारे दो पड़ोसी आपस में लड़ रहे हैं, एक दूसरे के पक्के दुश्मन हैं तो तुम्हें उन दोंनों से कोई खतरा नहीं हो सकता ।... उसी तरह हिन्दू और मुसलमान आपस में ही लड़ते रहे तो सरकार से क्या लड़ेंगे?"[2] बात साफ है कि इन दंगों और सांप्रदायिक सकीर्णता से आम जनता का कोई फायदा नहीं होता। कहानीकार इस तथ्य से वाकिफ है कि देश की समुचित प्रगति में इन दंगे-फसादों से भारी हानी पहुँचती है ।

कहानी में वजाहत जी ने अफवाहों के ज़रिए सांप्रदायिक दंगे भड़काने में मीडिया की भूमिका को भी दर्शाया है । पत्रकार अखबार की बिक्री बढ़ाने के लिए सांप्रदायिक खबरें छापते हैं । कहानी में मुख्तार का दिया हुआ एक पत्र जब कहानीकार पढ़ता है तो भौंचक्का रह जाता है "इन पर्चों में मुसलमानों के साथ होनेवाली ज़्यादतियों को इतने भयावह और कारुणिक ढंग से पेश किया गया था कि साधारण पाठक पर उनका क्या

1. असगर वजाहत -सब कहाँ कुछ.., पृ. 10
2. वही - पृ. 12

असर होता होगा, यह सोचकर डर गया - मिसाल के तौर पर इस तरह के शीर्षक थे - मुसलमानों के खून से होली खेली गयीं या 'भारत के सभी मुसलमानों को हिन्दू बनाया जायेगा या 'तीन हज़ार मस्जिदें, मन्दिर बना ली गयी हैं । उत्तेजित करनेवाले शीर्षकों के नीचे खबरें लिखने का जो ढंग था वह भी बड़ा भावुक और लोगों को मरने-मारने या सिर फोड लेने पर मज़बूर करनेवाला था ।"[1] अखबारों की बिक्री बढ़ाने के लिए सनसनीखेज खबरे छापी जाती हैं - "दंगे सांप्रदायिक पार्टियाँ भी नहीं रोक सकतीं, क्योंकि वे तो दंगों पर ही जीवित हैं । दंगों को सिर्फ लोग ही रोक सकते हैं । कहानी में ज़िक्र है "जहाँ तक मैं समझता हूँ ये अखबार विकते इसलिए हैं कि इनमें दंगों की भयानक दर्दनाक और बढ़ा-चढ़ाकर पेश की गई तस्वीरें होती है । अगर दंगा न होंगे तो ये अखबार कितने बिकेंगे।"[2] यह केवल सांप्रदायिक पार्टियों के अखबार की बातें नहीं, बल्कि उदार एवं धर्मनिरपेक्ष अखबार भी सांप्रदायिक ज़हर फैलाने में तुले हुए हैं ।

दिल्ली में दंगा जब भडका मुख्तार तेज़ रफ्तार से घर की ओर बढ़ रहा था -"अचानक भागता हुआ आदमी हाथ में कनस्तर लिए गली में आया और मुख्तार को देखकर एक पतली गली में घुस गया... पीपल के पेड़ के बाद खतरा न होगा, क्योंकि यहाँ से मुसलमानों की आबादी शुरू होती है। यों सोचकर मुख्तार ने दौड़ना शुरु किया । पीपल के पेड़ के पास पहुँचकर

1. असगर वजाहत - सब कहाँ, कुछ... पृ. 13-14
2. वही - पृ. 14

मुड़ा और उसी वक्त हवा में उड़ती कोई चीज़ उसके सिर से टकराई और उसे लगा कि सिर आग हो गया है । दहकता हुआ अंगारा । उसने दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया और भागता रहा । उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि एसिड का बल्ब उसके सिर पर मारा गया है । सिर की आग लगातार बढ़ती जा रही थी और वह भागता जा रहा था।"[1] मुख्तार की यह त्रासदी रोज़ी-रोटी के लिए काम करते आम आदमी की त्रासदी ही है । लेकिन ये इतनी कमज़ोर और नावाकिफ हैं कि वे तित्तलियों की तरह इस सांप्रदायिक जुनून की शिकार बनती हैं ।

दंगे होने के काफी समय बाद सांप्रदायिक सद्‌भावना स्थापित करने के बहाने सम्मेलन व जाँच समितियाँ खड़ा करने की निरर्थक सरकारी जोयनाओं पर भी कहानीकार ने व्यंग्य किया है । उनके अनुसार कागज़ी योजनाएँ, विचारधारा में बदलाव लाने के लिए कारगर नहीं हैं । दंगों को रोकने की कोई कारगर नीति लागू करने में सरकार कामयाब नहीं है । कहानीकार ने दर्ज किया है - "दंगे, पुलिस पी.एस.सी प्रशासन नहीं रोक सकते । दंगे सांप्रदायिक पार्टीयाँ भी नहीं रोक सकतीं क्योंकि वे दंगों पर ही जीवित है ।"[2] कहानीकार ने कायर अवसरवादी लेखक ने अध्यापक बुद्धिजीवी वर्ग पर भी व्यंग्य कसा है ।

---

1. असगर वजाहत - सब कहाँ कुछ..., पृ. 16
2. वही - पृ. 14

दंगों के स्वरूप की अभिव्यक्ति

सन् 1980-81 भारत में सांप्रदायिक दंगों का वर्ष रहा था । इसके पश्चात् सन् 1984 में दिल्ली-कानपुर के दंगे ने विभाजन की दुर्घटना को ताज़ा कर दिया । विभाजन की पृष्ठभूमि पर पुनः कहानियों की रचना होने लगी । सांप्रदायिक दंगे हमेशा राजनीतिज्ञों द्वारा अपनी रोटियाँ 'सेंकने' के लिए कराए और भटकाए जा रहे हैं। भीष्म साहनी के अनुसार "सांप्रदायिक दंगों के परिप्रेक्ष्य में हमारे समाज में अब एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया है । पहलेवाली बात नहीं रही कि एक जगह पर दंगा हो और कुछ दिनों बाद ठंडा पड़ जाए । अब तो एक ही वक्त में दस-दस जगहों पर दंगे भड़क उठते हैं और तनाव बराबर बना रहता है । सांप्रदायिक आधार पर कुछेक स्थानों- पर मार-काट कई कई वर्षों से चल रही है । अनेक शहरों और कस्बों में कर्फ्यू बने रहते हैं । पहले दंगे अक्सर बडे शहरों में हुआ करते थे पर आब गाँवों और कस्बों में भी यह ज़हर फैल रहा है वहाँ भी मार काट होने लगी है । अब तो लोग अपने बचाव के लिए अपने-अपने घर छोड़कर आश्रय की खोज में भागने-भटकने लगे हैं कभी शहर छोड़कर कस्बों-शहरों की ओर। पहले ऐसा नहीं था । अब तो आँखों में ऐसा खून उतर आया है कि स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं बख्शा जाता, उन्हें बेरहमी से भून डाला जाता है । पहले लूट-पाट और मार-काट में गुण्डे और समाज-विरोधी तत्व आगे-आगे होते थे, अब तो भद्रलोक भी हिंसात्मक भावनाओं से उन्मत्त हो रहे

हैं।"[1] स्थिति यह है कि आज प्रशासन कमज़ोर पड़ता जा रहा है । राजनीतिक स्थिरता भंग होती जा रही है । हर दिन पार्टियाँ बन-टूट रही हैं, किसी का किसी पर विश्वास नहीं । जनसाधारण का विश्वास नेताओं और उनकी पार्टियों पर से उठता जा रहा है । ऐसे अवसर पर पार्टियों और उनके नेताओं का ध्यान आपसी टकराव में लगा हुआ है । जनसाधारण भी ऐसा मेहसूस करने लगे हैं कि उनके चारों ओर अराजकता फैल रही है । इस स्थिति के पीछे सत्तामोही राजनीतिज्ञ हैं जिन्हें पार्टियों को धर्मान्ध बना दिया है । किसी भी प्रकार कुर्सी हड़पना उनका मकसद है । सांप्रदायिक दंगा भड़काकर उससे लाभ उठाने के लिए संगठित प्रयास हो रहे हैं ।

राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता और स्वार्थता के कारण सांप्रदायिकता की विष-बेल फैलने लगती है । भारतीय समाज में सांप्रदायिकता और तज्जनित दंगों के पीछे असंतुलित तथा शोषण पर आधारित आर्थिक संबन्धों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है । राजनीतिक और धर्म के ठेकेदार सांप्रदायिक दंगे को भड़काकर पीछे हट जाते हैं । इसमें भाग लेनेवाले विशाल जनसमुदाय को कुछ पता ही नहीं चलता है कि एक निहित स्वार्थ गुट द्वारा उसका चालाकी से इस्तेमाल किया जा रहा है । बेचारी असहाय और गरीब जनता मौत के घाट उतारी जाती है । इसप्रकार राजनीतिक हथकण्डों और सांप्रदायवादी ताकतों के कारण फैल जाती धार्मिक असहिष्णुता और सांप्रदायिक संकीर्णता

---

1. भीष्म साहनी - मेरे साक्षात्कार, पृ. 147

का ज़हर समाज के भेदभाव को अधिक तीव्र और तीखा करता है ।

"क्या कहना है जटायु ?" कहानी में पंकज बिष्ट ने सांप्रदायिक दंगे का भीषण चित्र प्रस्तुत किया है । कहानी का आरंभ दंगों के माहौल से होता है । विभाजन के समय फैली सांप्रदायिकता के शोले मिटने के बजाय और तीव्र होते जा रहे हैं । इसकी गहरी पहचान कहानी संप्रेषित करती है ।

कहानी में इसका चित्रण है कि अपने मामा के घर आए एक लडका दंगे के कारण वही फंस जाता है । वह अपना घर वापस जाना चाहता है । उसका एक पडोसी मामा के घर के सामने आता है और लड़का उनसे अपने घर तक छोड़ने की बिनती करता है । पडोसी स्कूटर ले आता है और लड़के को एक ऐसी जगह ले जाता है जहाँ दंगाई लोग एक लड़की का बलात्कार करके उस पर हमला कर रहा था । पड़ोसी जबरदस्ती लड़के को भी इसमें शामिल करना चाहता है, लेकिन लड़का राज़ी नहीं होता । वह ज़ोर से रोने लगता है तभी कोई एक कैमरा लाता है और लड़के-लड़की का फोटो उतारना चाहता है । लड़की पर इतनी ज़्यादती करने के बाद पड़ोसी लड़की से कहता है कि पाँच मिनट के अन्दर अगर तू यहाँ से दौड़ सकती है तो दौड़ो । लड़की दौड़ने लगती है और बाकी लोग भी उसका पीछा करते हैं । इसी मौके का फायदा उठाकर लड़का स्कूटर लेकर भागता है । लेकिन उसकी इनसानियत उसे लड़की को भी साथ लेके जाने में मज़बूर कर देता है । जाते-जाते वह एक भीड़ के सामने जा पहुँचता है । भीड़ से लड़का

कहता है कि वह उसकी बहन है और बलात्कारियों से बचाकर ला रहा है । लड़के की इन सारी बातों को टालकर लड़की भीड़ से अपना नाम नज़रीन बताती है । वह अपनी अम्मी-अब्बू की बात करते करते नीचे ज़मीन पर गिर जाती है । लड़का अवाक रह जाता है ।

इस कहानी में सांप्रदायिकता के इस पहलू को दिखाया गया है कि कतिपय यह सोचते हैं कि अपने धर्म की हिमायत के लिए दूसरे का सत्यानाश अनिवार्य है । कहानी के आरंभ में ही दंगों से आतंकित माहौल का चित्रण है - "एक तरफ आतंक और असहायता में चीखती-चिल्लाती आवाज़ें थीं, तो दूसरी ओर घृणा, क्रोध और बदले की भावना से भभकते लोग अपने - अपने ईश्वरों का आह्वान करते, एक दूसरे की हत्यायें कर रहे थे।"[1]

मामा के घर आते पड़ोसी मामा से कहता है कि जो गंध आ रही है, वह आदमियों की जलने की गंध है । इस अमानवीयता पर कराहते हुए मामा अफसोस जताता है तो पड़ोसी कहता है - "आपको पता है इन्होंने हमारे साथ क्या किया था? ट्रेन की ट्रेन लाशों से लदकर आई थीं । तुम भूल सकते हो, हम कैसे भूल जाएँ।"[2] पड़ोसी के इस कथन से यह एहसास गहरा हो जाता है कि विभाजन के दौरान हुई त्रासदी से लोग अब भी संत्रस्त हैं। विभाजन के समय पाकिस्तान से हिन्दुओं को और भारत से मुसलमानों को

1. पंकज विष्ट - टुण्ड्रा प्रदेश तथा अन्य कहानियाँ - पृ. 98

अपना सब कुछ त्याग कर भाग जाना पड़ा था । उस समय की हत्याओं की आग अब भी लोगों के मन में बदले की आग के तौर पर भभक रही है । पड़ोसी के मन में यही प्रतिशोध एवं नफरत की आग है । पड़ोसी एक हज़ार साल पहले तोड़े गए मन्दिर की बातें करता है तो मामा और उनकी पत्नि यह मानने के लिए तैयार नहीं होते हैं । मामा की पत्नि कहती है- "हमें नहीं बनाने अपने बच्चे को धर्म के नाम पर हत्यारे । किसी भले काम में भी आएगी ये मर्दानगी या सिर्फ दंगे में ही लगी रहेगी ।"[1] उनके इस कथन से ज़ाहिर होता है कि अधिकांश लोग दंगे फसाद को चाहते नहीं हैं। पर पड़ोसी ऐसे छंद लोगों का प्रतिनिधि है जो नफरत की आग को जलाकर दंगों का समर्थन करते हुए लोगों में वैमनस्य पैदा करता है ।

पड़ोसी दंगों में जलनेवाले दुर्गन्ध को विजय की गंध कहता है । जब लड़का पूछता है -

"कैसी अजीब दुर्गन्ध है?"

"विजय की ।" पड़ोसी का उत्तर है ।

यह विजय की गंध है जो हज़ार वर्ष बाद उठ पा रही है । अश्वमेध यज्ञ की पूर्णाहूति की है यह गंध।"[2] इसका समर्थन करते हुए पड़ोसी लड़के से कहता है "जब तुम अपने धर्म अपनी जाति अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम का

---

1. पंकज विष्ट - टुण्ड्रा प्रदेश तथा अन्य कहानियाँ - पृ. 101
2. वही - पृ. 104

सही अर्थ जान लोगे तब यही गंध चंदन और पुष्पों की गंध में दल जाएगी।"[1] इसप्रकार पड़ोसी अपने कारनामे को 'देश प्रेम' के तहत उचित ठहराता है।

सांप्रदायिक दंगों को उकसाने में उग्रवादियों का भी हाथ रहा है । ये लोग दंगे को भड़काने हथियार तथा विस्फोटक चीज़ों का प्रयोग करते हैं। मामा जी का कथन इसका स्पष्टीकरण करता है - "पाकिस्तान से हथियारों की रेगुलर सप्लाई है । ऐसे में हम क्या कर सकते हैं ?"[2]

पुलीस के अजीब वर्ताव पर भी कहानी में ज़िक्र है । जब दंगा शुरु होता है, पुलिस उसके दमन की कोशिश नहीं करती है, पुलिस तो सारे करामात के खत्म होने के बाद ही आती है । मामाजी और लड़का पुलिस पर भरोसा रखते हैं कि पुलिस आकर उन्हें बचाएगी । फिर भी मामाजी कहता है - "पुलिस बंबइया अपराध फिल्मों की तरह तभी पहुँचते हैं, जब सारा खेल खत्म हो चुका होता है।"[3] अधिकांश सांप्रदायिक वारदातों में पुलिस का व्यवहार निष्पक्ष अथवा तटस्थ नहीं रहता ।

बदले की आग में मानवीयता मिट जाती है । कितने ही निरीहों पर हमला होता है । बेकसूर लड़कियों का बलात्कार किया जाता है । लोग इतने गिरे हुए हैं कि दूसरों की त्रासदी में ही अपना आनन्द उठा लेता है । जिस पड़ोसी पर विश्वास करके लड़का साथ निकलता है, वही सबसे खतरनाक

1. पंकज विष्ट - डंड्रा प्रदेश तथा अन्य कहानियाँ - पृ.104
2. वही - पृ. 100
3. वही - पृ. 100

निकलता है ।

अब्दुल विस्मिल्लाह ने सांप्रदायिक और विभाजन की समस्या पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं। "दंगाई' इन समस्याओं से संबन्धित कहानी है। देश में स्थान-स्थान पर दंगे क्यों हो रहे हैं? जन-मानस में सांप्रदायिक भावनाओं का तेज़ी से प्रचार क्या हो रहा है ? सांप्रदायिक समस्याओं के मूलस्रोत क्या है ? इन तमाम प्रश्नों के उत्तर तलाश्ने का प्रयास इस कहानी में हुआ है ।

शहर में दंगे के बाद कर्फ्यू लग चुका था पर प्रतिदिन किसी न किसी घटना के कारण कर्फ्यू की अवधि बढ़ाई जा रही थी । ऐसी स्थिति में कथावाचक एक निश्चित योजना के कार्यान्वयन के लिए शहर से अपने गाँव की तरफ निकलता है । बस में कथावाचक की मुलाकात उसके गाँव के दो हिन्दुओं से होती है । उनकी बातचीत के द्वारा लेखक ने सांप्रदायिकता के स्रोतों को स्पष्ट करने की कोशिश की है। अपनी बातचीत में वे स्वीकार करते हैं कि ये दंगे सांप्रदायिक दंगे नहीं है - "इसलिए कि हिन्दू और मुसलमान आपस में धार्मिक लड़ाई कभी नहीं लड़ना चाहते । अगर ऐसा होता तो कुछ खास जगह पर ही दंगे न होते । प्रतिदिन इस धरती पर खून खराबा मचा रहता ।"[1] सांप्रदायिक भावनाओं को जगाने के लिए वे अंग्रेज़ों को खास रूप से ज़िम्मेदार मानते हैं । अंग्रेज़ों ने यहाँ के इतिहास की गलत व्याख्या कर उसे सांप्रदायिक आधार दिया । मध्यकाल के शासकों की

---

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 23

लड़ाइयों को हिन्दू और इस्लाम धर्म की लड़ाई के रूप में प्रस्तुत किया । औरंगज़ेब और शिवाजी के चरित्रों की व्याख्या पूर्व नियोजित ढर्रे पर की गयी । उनकी "डिवाईड़ एंड़ रूल' नीति को आज़ादी के बाद भारत सरकार ने भी आत्मसात किया । शासन चलाने और उसमें अड़िग रहने का यह कारगर ज़रिया है । इस नीति के परिणामस्वरूप देश में सांप्रदायिक भावनाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती जा रही हैं । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लेखक का कहना है - "मेरा विचार है कि अनेक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों के फलस्वरूप एक ऐसा वर्ग इस देश में आविर्भूत हुआ है, जिसकी जड़ें अन्ततः सांप्रदायिकता के गढ़े तक पहुँच गयी हैं और उसके फल-फूल से पल्लवित होनेवाली सन्तानें अवसर पाने पर अपना चमत्कार दिखाने लगती है।"[1] कुछ लोगों में यह आम धारणा बन चुकी है कि मुसलमानों में राष्ट्रीयता की भावना नहीं है । लेखक ने इन्हीं दोनों पात्रों के ज़रिए उक्त विचारधारा का खण्डन इन शब्दों में किया है - "अच्छा बताइए आपके भीतर राष्ट्रीयता की भावना है? मैं समझता हूँ कि राष्ट्रीयता की भावना तो किसी में नहीं है ।विदेश और विदेशी चीज़ों की प्रशंसा करते समय अपने देश की निन्दा हम ज़रूर करते हैं । फिर मुसलमानों को ही दोष क्यों देते हैं?"[2]

कथावाचक इनके माध्यम से गाँव में दंगा कराने के ज़रिए को भी

---

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 23
2. वही - पृ. 24

खोजना चाहता है । वह इशारा भी करता है कि सुना है गाँव में हमीद मियाँ ने ट्रक खरीद लिया है । पर उसे निराशा ही हाथ लगती है । वह चकित है कि इन्हें हमीद की आर्थिक मज़बूती ज़रा भी नहीं खटकती है । गाँव पहुँचकर कथावाचक अपनी कार्ययोजना को अंतिम रूप देने का प्रयास करता है । सबसे पहले वह अपने दोस्तों के बारे में जानकारी हासिल करता है । उसे यह जानकर खुशी होती है कि गाँव में रहते हुए भी उसके मित्र शराब पीने, जुआ खेलने, चोरी-करने, बहु-बेटियों को बेइज़्ज़त करने आदि आर्थिक एवं असामाजिक दुराचारों में माहिर हो चुके हैं । वह प्रसन्न है कि योजना कार्यान्वित करने के लिए वातावरण बना-बनाया है । कथावाचक डॉक्टर के दवाखाने में अपनी योजना को अंजाम देने का प्रयास करता है पर वहाँ भी उसे असफलता मिलती है । अंत में वह अपनी मित्रमण्डली के साथ रामलीला ग्राउण्ड पर पहुँचता है । पर यह क्या ? यहाँ भी हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ लीला देख रहे हैं । मौलाना जलालुद्दीन का पोता प्रकाश की व्यवस्था कर रहा है । मुनीर का लड़का बाबरी सेना में उछल-कूद कर रहा है । रहमान की अम्मा ने पान का ठेला लगा रखा है, जहाँ वे लोग भी पान खा रहे हैं जो कभी चूने तक को अछूत मानते थे।

गाँव की हालत देखकर कथावाचक को अपनी योजना भयंकर लगती है - "मुझे लगा कि सरलता के मंच पर मैं कुटिलता के अभिनय का दुस्साहस कर रहा हूँ । पर यहाँ वह पदार्थ नहीं है जो मेरे भीतर के पदार्थ से

मिलकर विस्फोट कर सकें । शहर का वह दूषण अभी तक यहाँ नहीं पहुँच सका है, जो विभिन्न प्रकार के षड्यंत्रों के बीच जन्म लेता है ।"[1] निश्चय ही शहर की तमाम बुराइयों के पहुँच जाने के बाद भी अभी गाँव में सांप्रदायिकता के संक्रामक विषाणु नहीं पहुँचे हैं । यहाँ के हिन्दू-मुसलमान आपस में घुले-मिले हुए हैं उनमें किसी भी तरह के द्वेष भाव नहीं है । कथावाचक समझ नहीं पाता कि सांप्रदायिकता का स्रोत कहाँ है ? काफी सोच-विचार के वाद इस नतीजे पर पहुँचता है - 'नासुर का यह स्रोत मेरे भीतर विद्यमान है । ज़हर की वह जड़ मेरे ही पेट में फैली हुई है।"[2]

कहानी में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि सांप्रदायिकता की समस्या ग्रामीण इलाकों में नहीं है । उसके स्रोत शहरों के पढ़े-लिखे लोगों के दिमाग से निसृत हैं । सांप्रदायिक समस्या या घटना नहीं, बल्कि मानसिकता है - "दंगा कोई घटना नहीं, यह एक मानसिकता है । सड़कों पर यह बाद में होता है, मस्तिष्कों में सदैव मचा रहता है।"[3] अवसर मिलते ही बाहर आ जाता है । इसी तरह की मानसिकता से लैस व्यक्ति अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काकर संप्रदायवाद की पृष्ठबूमि तैयार करते है और जनसामान्य को आपस में लड़वाते हैं । ग्रामीण इलाके के चित्रण द्वारा लेखक ने बदलती मान्यताओं को भी उभारने का प्रयास

1. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 28
2. वही - पृ. 28
3. वही - पृ. 29

किया है । पहले सांप्रदायिकता के बजाय गाँवों में सांप्रदायिक आधार पर छुआछूत की समस्या थी, पर अब वह भी समाप्त हो रही है । इस कहानी में सांप्रदायिक सद्भावना की बातों के साथ मन से दूषित विचारों को हटाकर स्वच्छ कार्यों में लगे रहने का सन्देश दिया गया है ।

भारतीय मानस उदार है । अतिथि को देवता मानता है । लेकिन जब उदारता पर सांप्रदायिकता कब्जा करती है तो कायापलट हो जाता है । आब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी 'अतिथि देवो भव' इस यथार्थ को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करती है । सलमान साहब को पडोसी मिश्रीलाल गुप्ता सचमुच देवता मानकर उनकी सेवा करता है ।हाथ का पंखा, चारपाई, गुड़, पानी, भोजन-हर प्रकार की सुविधाएँ देता है । किन्तु जब उसे पता चलता है वह मुसलमान है तो उसे आधा अधूरा भोजन करके ही उठना पड़ता है । पानी भी स्टील के स्थान पर काँच के गिलास में मिलता है । उदारता जब सांप्रदायिक भाव की गिरफ्त में आ जाता है तो कलुषित हो जाता है, इसलिए सलमान साहब को अपनी थाली माँजनी पड़ती है ।

सांप्रदायिक दंगों को भड़काने में पूँजीवादी ताकतों की अहं भूमिका रही है, इस सत्य का उद्घाटन नमिता सिंह की चर्चित कहानी 'राजा का चौक' में हुआ है। पूँजी जब राजनीति से जुड़कर स्वार्थ का खेल खेलती है, तो वह कितनी भयावह हो जाती है, इसका कहानी में खुलासा हुआ है । वृद्धावस्था में सन्तान प्राप्ति से प्रसन्न होकर राजा गांव के बाहर की ज़मीन

अपने कामगारों को पुरस्कार के तौर पर दे देता है । धीरे-धीरे वह स्थान छोटा मोटा गाँव बन जाता है । फज़्लू का बेटा छोटा बच्चू और कलुआ का बेटा बड़ा बच्चू इसी की मिट्टी में पले बड़े थे । गाँव में मौलवी साहब आते हैं उन्हें गांववाले सौहार्द का परिचय देते हुए स्थान देते हैं । उसने रहने का ठिकाना बनाया, फिर वह कमरा पक्का भी बनवा दिया । चौक के बच्चों को पढ़ाने का भी प्रयास किया । एक बार बच्चों का भरपूर शोर वे सह न सके, तो एक बच्चो को धक्का दे डाला । बालक शरीफ को चोट आयी और सबने मिलकर मौलवी कौ चौक से बाहर कर दिया । उसे खेदड़ने में भी चौक की एकता प्रमाणिक सिद्ध हुई । धीरे-धीरे चौक में रौनक बढ़ती है चाय की दूकानें लग जाती हैं । इस ज़मीन की उपयोगिता जानकर पूँजीपति आकृष्ट होते हैं । एक शहरी बाबू आकर कहता है कि यह जगह अब सरकार की है । उसने यह ज़मीन खरीद ली है । तब नेताजी अपनी नेतागिरी चमकाते हैं और और कुँवर जी की मदद की बात करते हैं । कुँवरजी बात टाल देता है । चौक के लोगों को तब भी नेताजी पर भरोसा है । ज़मीन, बाबू दुर्गासरन खरीदता है। लेकिन दो महीने बाद दुर्गासरन के आदमी ज़मीन की नाप-जोख करने गये, तो चौक के लोगों ने मार-पीट कर उन्हें भगा दिया। आखिर बाबू दुर्गासरण वातावरण अपने अनुकूल बना लेता है । पूँजी और राजनीति के गठबंधन से खेला गया स्वार्थ का खेल, कितनी भयावह है - कहानी का उत्तरार्ध इसे स्पष्ट करता है । कलुआ शहर जाकर दुर्गासरन के पास नौकरी पाने से पहले चौक पर एक धमाका करता है । किसी को ज्ञात

नहीं कि यह किसने किया । कलुआ स्वयं ही कहता है कि अब इस चौक में रहना भी दुश्वार है । कलुआ का बेटा बड़ा बच्चू एक दिन चौक के लोगों से मिलने आता है । वह वास्तव में दुर्गासरन का आदमी है । जाते हुए उसकी छोटे बचुआ से नोक-झोंक भी होती है । कुछ दिन बाद फिर दुर्गासरन के लोग आते हैं । तब होटल बनाने के काम का कोई विरोध नहीं करता, क्योंकि विरोध की अगुआई करनेवाला बड़ा बच्चू तो दुर्गासरन से अपना नाता तोड़ चुका था ।

होटल का उद्घाटन मन्त्री के द्वारा होनेवाला है । फज़्लू का बेटा छोटा बच्चू आ जाता है । दोनों मारे जाते हैं । दुर्गासरन इसे सांप्रदायिक रंग देने की कोशिश करता है "अच्छा ? मुसलमान था यह । पूरी तैयारी थी बदमाश की - चाकू भी, हथगोले भी । हे भगवान् । यह तो पूरा होटल उड़ा देता - वह पुलिस को इस 'सांप्रदायिक दंगे' की सूचना देता है । अन्त में वह सोचता है अच्छा हुआ बच्चूलाल ने रास्ता साफ कर दिया । अब आगे आसानी होगी।"[1] इस प्रकार से वह बचपन के दो मित्रों को आपस में मरवाकर अपना भविष्य को सँवार लेता है ।

नमिता सिंह सांप्रदायिक यथार्थ के बहुआयामी पहलुओं उजागर करने में सफल रही है । उन्होंने सांप्रदायिकता का ज़हर फैलाने वाले समाज विरोधी तत्वों के विरुद्ध स्वर बुलन्द करके सांप्रदायिक सद्भाव और

---

1. नमिता सिंह - कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 37

सेकुलर राजनीति को बल देने का श्रम किया है । व्यक्ति और व्यक्ति के बीच की गहरी होती खाई, फैलती धर्मान्धता तथा सांप्रदायिकता और उनसे उपजती असुरक्षा को भी सजगता के साथ उन्होंने उद्घाटित किया है । उनकी सांप्रदायिकता विरोधी कहानियाँ राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र के छद्म ठेकेदारों के वास्तविक चरित्र को उद्घाटित करती है । अलगाववादी और विघटनकारी दौर में वे समाज को नई दिशा प्रदान करने के साथ साथ आशा जगाने का प्रयास भी करती है । ऐसी ही एक कहानी है 'कर्फ्यू'। दंगाग्रस्त माहौल में मानव के बीच पनपती शंका द्वेष का त्रासद एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण इसमें हुआ है । दंगों के बाद भी शहर में कर्फ्यू रहता है । कहानी का प्रमुख पात्र शकूर रिक्शा चलाता है । 'बबली' नामक बच्चे को स्कूल छोड़ना उसका नियत काम है । बबली जब स्कूल जाने की ज़िद करती है तो माँ जाने नहीं देती । वह कहती है..." चुप कर... इतनी बुरी हालत हो रही है दंगे से । कहीं मार-मुर दिया तुझे तो बस...। चुप करती है कि नहीं।"[1] यह सुनकर शकूर दंग रह जाता है । क्योंकि वह पिछले पाँच-छः सालों से बच्चे को स्कूल से ले जाता रहा है । सांप्रदायिक आतंक के माहौल में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच परस्पर घृणा, अविश्वास फूटने लगता है । अपना पराया बन जाता है । इनसानियत को भय और शंका मिटा देते हैं । इसलिए बबलू की माँ शकूर को अचानक दुश्मन समझने लगती है ।

1. नमिता सिंह - कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 13

फिर उसे हाजी साहब के फैक्ट्री में नौकरी मिलती है । हाजी साहब उससे जी तोड़ मेहनत करवाता है । चार रुपये रोज़ देने को कहा था लेकिन सही वक्त पर पैसे न देता । दो-दो तीन तीन महीने का बकाया हमेशा चढ़ा रहता । जब उसने अपना वेतन माँगा तो साहब ने बहुत बेइज्ज़त महसूस किया "हाश्मी की औलाद, बहुत नखरे दिखाने लगा है । बोल काम करेगा कि नहीं तू...।"[1] शकूर को फिर एक धक्का लगी । उसका बाप एक बस से टकरा कर मर गया । घर का पूरा दायित्व उसके सिर पर आ गया । मुन्नी और बशीरा की परवरिश उसकी जिम्मेदारी बनी । उसने बशीरा को आहूजा साहब के यहाँ लगा दिया । तब अहूजा साहब ने काफी दिमाग दिखाए - "सालो तुम लोग टिकते -टिकाते तो हो नहीं । कभी कोई आकर कौम का वास्ता दिला जाए तो फिर भाग जाओगे ?" तब शकूर कहता है "नहीं साहब ! कौम अपनी जगह और काम अपनी जगह । जहाँ डूटी ठीक हो, पैसा वक्त पर जाए, वहीं जाएँगे हम तो... बाप मर गया है साब । इसलिए लगा रहा हूँ बशीरा को...।"[2] शकूर की इस कथन से स्पष्ट है कि पेट की भूख ही सबसे परे होती है । उसे अच्छी तरह मालूम है कि काम से अपनी जीविका नहीं चला सकता । सही समय पर वेतन मिलना सबसे प्रमुख है ।

शकूर जिस इलाके में रहता है वहाँ न तो कर्फ्यू है, न दंगे का असर। लोग-बाग चलते फिरते रहते हैं, दूकानें भी खुली रहती है, लेकिन

---

1. नमिता सिहं - कर्फ्यू तथा कहानियाँ, पृ. 17
2. वही - पृ. 17

लगता है सड़कों का शोर न जाने कहाँ गायब हो गया है । चारों तरफ अजीब सूखा-सूखा सा नज़र आता है । लोग भी चुप-चुप से दिखाई देता है । बातचीत और ठहाके फुसफुसाहटों में बदल गए हैं ।"[1]

शकूर को यह बात समझ में नहीं आती कि दंगे को हर कोई इतना जी पर क्यों ले रहा है । शकूर के मन में दंगे का कोई असर नहीं होता । कहानी में इसका उल्लेख है । "उसे समझ नहीं आया कि बबली की मम्मी ने बबली को रिक्शे में घूमने-टहलने नहीं भेजा तो इसमें कौन-सी बात हो गई। पैसे अगर माँगता तो ज़रूर मिल जाते । बशीरा भी तो आजकल घर पर रहता है । डरता है कारखाने में जाने से । वहाँ ज़्यादातार लोग हिन्दू हैं। ... बबली की माँ डरती है कि रिक्शेवाला मुसलमान है । अब इसमें बुरा मानने की क्या बात है । सब कोई डरे हुए हैं । इस बात को क्यों वह इतना जी पर ले रहा है।"[2] लेकिन इलाके का दादा अब्दुल्ला, शकूर के मन में सांप्रदायिक विष-बीज बोने की कोशिश करता है वह कहता है ' 'तू तो गद्दार है शकूर । इतने मुसलमान भाई मर गए और तू कहा रहा है कि हमें क्या मतलब?..." अबे कुछ नहीं तो एक बच्चा ही गायब कर दो । निरे सारे हिन्दुओं के बच्चे ले जाता है । कसम खुदा की । एक ही मेरे हवाले कर दे। हज़ार पाँच सौ दिलवा दूँगा । तरकीब मैं बताऊँगा ।"[3] यह सुनकर शकूर ने उसको तमाचा मारा । बदले में अब्दुल्ला ने चाकू निकलकर उसकी हत्या

1. नमिता सिहं - कर्फ्यू तथा कहानियाँ, पृ. 19
2. वही - पृ. 21
3. वही - पृ. 32

कर दी । कुछ ही दूर पर पुलिया बैठे थे । अब्दुल्ला के खिलाफ गवाही देने के लिए कोई तैयार नहीं था । उसने सभी गाँववालों को डरा-धमकाकर भगाया । पुलिस के पूछने पर चायवाले ने जवाब दिया कि शायद हिन्दू ने ही इसे मारा होगा । इसप्रकार अफवाह फैल गयी कि शकूर रिक्शेवाले को किसी हिन्दू ने चाकू मार दिया । शकूर बुदबुदा रहे थे कि "यह नहीं... यह नहीं.... लोग समझे कि वह तकलीफ की वजह से नहीं... नहीं कर सिर हिला रहा है।"[1]

दंगों के पीछे तथा दंगों के पश्चात् अवसरवादी राजनीति कैसे खुलकर खेलती है - इस सत्य का उद्‌घाटन पुन्नी सिंह की कहानी 'शोक' में विस्तार से किया गया है । यह कहानी इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के बाद लिखी गई है । सांप्रदायिक दंगों की आड़ में अपने ही मुनाफे के लिए कार्यरत राजनीतिक पार्टियों पर गहराई से व्यंग्य कसा गया है । साथ ही दानवता के इस नंगे नाच के मूल कारणों का भी पर्दाफाश हुआ है । कांग्रेसी नेता के घर इन्दिरा गाँधी की हत्या पर आयोजित शोक सभा के ज़रिए पार्टी और सत्ता के वर्ग चरित्र को उन्मीलित भी किया गया है । शोक की दरी बिहारीजी के मकान के बाहरी बरामदें में बिछाई गयी थी । एक कोने में मेज़ पर रेडियो रखा गया था और दूसरे में टी.वी. । घर की औरतों को वहाँ बैठने की मनाही थी । बिहारीजी के पिता ताँगा चलाते थे और बिहारीजी तीस साल की उम्र तक स्वयं उसी विरासत को सँभाले थे । किन्तु आज पार्टी के बाहर और

1. नमिता सिहं - कर्फ्यू तथा कहानियाँ, पृ. 32

भीतर उनका सम्मान कायम है ।

शोक सभा में आनेवाले लोग जब उन्हें शहर में मचते हाहाकार और सिखों के मकान-दूकानें जलाए जाने की खबर देते हैं तो वे बड़े निस्पृह भाव से कहते हैं "ये सब भगवान की लीला है । जिसको लुटना है सो लुटेगा, बचना है सो बचेगा।"[1] पार्टी के कतिपय जब बताते हैं अपने ही आदमी लूट, और आगजनी में शामिल हैं, तो वे उन्हें चुप रहने की सलाह देते हैं । गोयल जब सिखों को उत्तेजनापूर्ण ढंग से 'गद्दार' कहते हैं तो बिहारीजी को लगता है कि शोक में हिंसा की बातें नहीं होनी चाहिए । वे लूट-पाट आदि के विरुद्ध अहिसा और भाईचारे का महत्व बतलाते हैं, तभी उनका पुत्र सुरेश पीठ पर सोफा लादे घर के भीतर घुसता है । दूसरी बार वह मशीन लाता है । तीसरी बार सुरेश कोई अन्य भारी वस्तु लाता है, तब बिहारी जी को यह शोक सभा व्यर्थ का झमेला लगता है ।

सत्तासीन व सत्ताकांक्षी तबके के लिए कारगर राजनीतिक हथियार है सांप्रदायिकता । शोकसभा सिर्फ एक दिखावा है । दंगे के संत्रस्त माहौल में सुरेश के माल लूटकर आने का चित्र खींचकर कहानीकार ने राजनीतिज्ञों की कपटता की पोल खोल दी है । बिहारी जी के यहाँ लाए गए लूट के माल में फ्रिज भी है । जब उसे पता चलता है कि फ्रिज अपने ही मित्र वकील साहब का है तो थोड़ी परेशानी होती है । पर फिर सोचता है कि यह तो

1. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर, पृ. 119

ऊपरी कमरे में रख सकता है । वहाँ इसे कौन देखेगा ? पुत्र फ्रिज पर लिखा जुनेजा का नाम सफेदा से मिटाने का सुझाव भी देता है । फिर बिहारीजी जुनेजाजी की मृतात्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करता हैं । दंगे के स्वतंत्र माहौल में सुरेश के माल लूटकर आने का चित्र खींचकर कहानीकार राजनीतिज्ञों की कपटता की पोल खोल दी है ।

आम आदमी की त्रासदी की अभिव्यक्ति

सांप्रदायिक दंगों के लूट-पाट और मार-काट में आम आदमी का ही सबसे अधिक नुक्सान होता है । ऐसे मौके पर वे ही अपनी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित होते हैं । इस यथार्थ को कहानीकार असगर वजाहत, राजेन्द्र जोशी, सुधा अरोड़ा और अखिलेश ने हूबहू रेखांकित करने की जद्दोजहद की है । असगर वजाहत ने कहानी ‘गुरु-चेला संवाद’ में आम आदमी की त्रासदी की ओर व्यंग्यात्मक शैली में संकेत किया है । सांप्रदायिक दंगे से पांडित, मौलवी, सेठ साहुकार आदि का कुछ भी नहीं बिगड़ता है । उसका शिकार आम आदमी ही होता है -

“चेला : गुरुजी सांप्रदायिक दंगे में कौन लोग मरते है ?

गुरु : बडे-बडे पण्डित, मौलवी, बड़े-बड़े सेठ साहूकार और बड़े अधिकारी मरते है ।

चेला : और कौन लोग कभी नहीं मरते ?

गुरुः मामूली लोग, कारीगर दस्कार, रिक्शावाले, इल्लीवाले, नौकरी-

पेश आदि नहीं मरते ।"[1]

आम आदमी की त्रासदी यह हे कि दंगा हो, कर्फ्यू हो या और कोई दुर्घटना हो अपनी रोज़ी रोटी के लिए उसे घर से निकलना पडता है । 'सारी तालीमात' में ऐसा चित्रण है कि पतली तंग गली के कोने पर तीन-चार आदमी मिलकर राशन की तलाश में निकले किसी झल्लीवाले या रिक्शेवाले का चाकू से वार करते हैं ।"[2] असगर वजाहत की कहानी 'ज़ख्म' का मुख्तार कनाट प्लेस की एक दूकान में काम करता है । अचानक दंगा भड़कने लगता है । आतंक भरे माहौल से किसी प्रकार अपने आपको बचाने की आकाँक्षा में मुख्तार तेज़ी से कस्साबपुरा की ओर जाता है । पर "अचानक भागता हुआ कोई आदमी हाथ में कनस्तर लिए गली में आया और मुख्तार को देखकर एक पतली गली में घुस गया ।...मुख्तार ने दौड़ना शुरु कर दिया।.. उसी वक्त हवा में उड़ती कोई चीज़ उसके सिर से टकराई और उसे लगा कि सिर आग हो गया है । दहकता हुआ अंगारा । अपने दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया और भागता रहा । उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि एसिड का बल्ब उसके सिर पर मारा गया है।"[3] मुख्तार की यह त्रासदी रोज़ी-रोटी के लिए काम करते तमाम अवाम की त्रासदी है । दूसरा कबीर (राजेन्द्र जोशी) का कबीर भी ऐसी हालत से गुज़रता है । कबीर एक बैंक में नौकरी करता है । दंगे के बाद कर्फ्यू के दिन वह दफ्तर जाता है । लेकिन

1. असगर वजाहत - मैं हिन्दु हूँ, पृ. 163
2. असगर वजाहत - उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 41
3. असगर वजाहत - मैं हिन्दु हूँ, पृ. 163

वहाँ के आतंक भरे माहौल से घबराकर घर लौटने के लिए विवश हो जाता है । लौटते वक्त रास्ते में एक आदमी के साथ टकराहट होती है । भीड़ जम गई । उस टकराहट को सांप्रदायिक रूप में बदल दिया गया । भीड़ कबीर को बुरी तरह पीटती है। अखिलेश की कहानी 'अंधेरा' में आवाम के भागमभाग का कारुणिक तस्वीर उभर आई है - "कार और दुपहिएवाले भी भाग रहे थे। एक साइकिल चालक एक बच्चो को आगे बिठाए था । पीछे कैरियर पर एक बच्चे को लेकर उसकी पत्नि बैठी हुई थी - साइकिल दौड रही थी - परिवार भाग रहा था... । एक आदमी अपने एक बच्चे को गोद में लिए दूसरे बच्चे को घसीटता आगे बढ़ रहा था । रेहाना ने देखा एक स्त्री भागती हुई चली आ रही थी और भागते हुए वह पेशाब कर रही थी...।"[1] दंगे के दौरान घोषित कर्फ्यू में भी निम्नवर्ग और मध्यवर्ग ही सबसे अधिक परेशान होते हैं। इस सच को अखिलेश ने यों व्यक्त किया है - "तैयारियाँ' से मेरा मतलब है कि दंगा होगा तो यहाँ कर्फ्यू ज़रूर लगेगा । इसलिए घर में कम से कम आटे के दो कनस्तर भरे होने चाहिए और चार पाँच किलो आलू भी । चटनी के लिए टमाटर, हरि मिर्च, धनिया की पत्ती इकट्ठा हो जाए, इसके लिए तरद्दुद करूँगा । कर्फ्यू का क्या ठिकाना... जाने कितने दिन चले...।"[2]

दंगों में आम आदमी की परेशानियों पर सुधा अरोडा ने 'काला शुक्रवार' लिखा है - "राजनीति ये लोग करते हैं, मरते हम सब हैं । इतने पावरफुल बम्ब ब्लास्ट हिन्दुस्तान की किसी भी राजनीति पार्टी के बस की

1. अखिलेश - अँधेरा, पृ. 162
2. वही - पृ. 155-156

बात नहीं । इसमें विदेशी हाथ है । आम आदमी पर दुतरफा मार है । विदेशी उस पर बम बरसा रहे हैं और उसके अपने उस पर लाठियाँ।"[1] मीराज़ के समान कई परिवार हादसे के शिकार बन जाते हैं । दंगों की दहशत ने मीराज के बेटे की ज़बान छीन ली थी । पर वह तो ठीक होता जा रहा था । इसी बीच 12 मार्च के विस्फोटों के कुछ दिन बाद उसकी मृत्यु हो गई । इस सन्दर्भ में रमणिका गुप्ता का बयान ध्यान देने योग्य है - "आज की ज़रूरत है धर्म से बचना । धर्म की बर्बरता से बचना । किसी भी देश का इतिहास उठा लीजिए धर्म जब भी सत्ता के कंधों पर सवार होकर आगे बढ़ा है तो इसने लोगों को बांटा है, काटा है, मारा है, औरतों, बच्चों और बूढ़ों पर जुल्म ढ़ाए हैं। इसलिए आज लाजिमी है कि हम धर्म के नाम इस कुत्सित औज़ार से मानवता को बचाने की मुहिम चलाएँ ।"[2]

यह स्पष्ट जाहिर है - सांप्रदायिक दंगों की शिकार अक्सर आम जनता ही होती है । उनकी भारत में उनकी संख्या बहुत ज़्यादा है । लेकिन ये लोग अक्सर समाज विरोधी तत्वों के कठपुतले बनते हैं । वे आवाम को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करते हैं । उनके द्वारा प्रायोजित दंगे फसाद में अवाम ही ढेर सारे मुसीबतों से गुज़रते हैं और उनका ही सत्यानाश होता है । कहानीकारों ने इस सत्य को सफलतापूर्वक कहानी में रेखांकित किया है ।

❖ ❖ ❖

---

1. सुधा अरोडा - काल शुक्रवार, पृ. 21
2. रमणिका गुप्ता -सांप्रदायिकता के बदलने चेहरे, पृ. 76

पाँचवाँ अध्याय

समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर - 'सिख विरोधी दंगे', 'अयोध्या और कश्मीर मसले' के विशेष सन्दर्भ में'

सिख विरोधी दंगे के सन्दर्भ में रचित कहानी

पंजाब की विघटनवादी समस्या की जड़ें बहुत गहरी रही हैं । यह भी दरअसल साम्राज्यवादी शासकों की विरासत है । पंजाब समस्या को बनाए रखने में बुद्धिजीवी, धार्मिक नेता, राजनीतिज्ञ सभी कमोबेश ज़िम्मेदार रहे हैं । हिन्दी कहानी में इस समूची विभीषिका को बारीकी से परखने और असलियत को रेखांकित करने की कोशिश हुई हैं ।

झुटपुटा-तानाशाही शासन के दौर में आम आदमी का जीवन यातनाग्रस्त है। ज़िन्दगी और मौत के दरम्यान कहीं अटकी हुई रोटी के लिए वह निरंतर संघर्षरत रहता है । भीष्म साहनी की यह कहानी दंगा, आगजनी और हिंसा के अंधी तूफान में रोटी के लिए तरसते अवाँ के साथ उन चेहरों से हमारा रू-ब-रू कराते हैं जो इनसानियत का भी परिचायक हैं । जो जीवन मूल्यों को समझते हैं और एक दूसरे का मान सम्मान भी करते हैं ।

साँप्रदायिकता दंगे के दौरान लगाए जाते कर्फ्यू की मुशकिले भी आम जनता को भुगतना पड़ती हैं । कहानी का प्रारंभ दूध के बूथ से होता हैं जिसके सामने लंबी लाइन लगी है । दो दिन बाद दूध मिलने की उम्मीद बंधी थी । पूरा माहौल सन्नाटा से त्रस्त था । दंगे के माहौल के बाद के खूनी माहौल का वर्णन कहानीकार यों करते हैं- “ऐन चौराहे के बीचोबीच एक जली हुई मोटर का काला सा कंकाल पड़ा था । जलानेवाले उसे आग लगाते

समय दायें बाजू उलटा कर गए थे, जिससे वह और भी ज़्यादा कुरूप और भयावह नज़र आ रहा था । सड़क के पार दवाइयों की दूकान के भी अस्थिपंजर नज़र आ रहे थे ।"[1] कहानी का मुख्य पात्र है प्रोफेसर कन्हैयालाल। उसे महसूस होता है कि दिन को लगायी आग और रात को लगायी आग में बड़ा अन्तर होता है । रात की आग में तो धुआँ नज़र नहीं आता, केवल धधकती आग की लौ नज़र आती है और आसमान लाल होने लगता है । दिन के वक्त धुआँ ज़्यादा नज़र आता है और आग के शोले धुएं के बादलों में खोये से रहते है ।"[2] कथावाचक के मन में रात के दंगों का खौफनाक रूप प्रकट होता है,दंगाइयों में खूनी वहशीपन सवार हो गया है । दिन में उस धार्मिक उन्माद के बाद की नज़ारा दिखता है । भय और आतंक से पीड़ित लोग सिर्फ यही टिप्पणी करते रहे कि जो कुछ भी हुआ, बहुत बुरा हुआ । इंदिरा गाँधी की हत्या से पनप उठे सिख विरोधी दंगे में दंगाई चुन-चुनकर सिखों को मारते थे । कहानी में इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है - 'मोतीनगर में ड्राइक्लीनर की एक दूकान किसी सिख सरदार की है । उसे जलाने गये तो किसी ने पुकार कर कहा, 'ओ कम्बख्तो दूकान सिख की है, पर उसमें कपड़े तो ज़्यादा हिन्दुओं के हैं'। इस पर उसे छोड़ दिया।"[3]

यह क्रूरता के बीच मानवीयता की पहचान की भी कहानी है ।

---

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 17
2. वही, पृ-. 17
3. वही - पृ. 17

कन्हैयालाल को ऐसा लगता है कि यह कोई दंगा नहीं है, "दंगे में तो लोग दुश्मन को पहचानते है, एक दूसरे को ललकारते हैं, एक दूसरे का पीछा करते हैं, पर यहाँ तो सड़क खाली थी और दूकान को जो चाहे तोड़ जाये, जो चाहे जला जाये । दंगे ऐसे तो नहीं होते । लुटेरों में एक भी चेहरा पहचाना नहीं था, एक भी आदमी अपने मुहल्ले का नहीं था ।क्या हम इसे दंगा कह सकते हैं या नहीं।"[1] इंदिरा गाँधी की हत्या के पीछे आतंकवादी गुटों का हाथ था । इसलिए कन्हैयालाल कहता है कि दंगे में एक भी आदमी जाना-पहचाना नहीं था ।

कर्फ्यू के कारण कोई भी दूध का ट्रक चलाने के लिए तैयार नहीं होता । इसीलिए कहानी का पात्र चौधरी मद्रासी के कान के पास अपना मुँह ले जाकर बोलता है - "कोई हिन्दू यहाँ ट्रक चलाना जानता हो तो जाकर ले आये।"[2] लेकिन कोई भी जाने को तैयार नहीं होता । एक लड़की ने तीन डोलचियाँ उठाये दूध के लाइन में खड़ी है पूछने पर उसने कहा कि दो डोलचियाँ पास वाले सिख सरदारों की है । कहानी के अंत में अपने जान की परवाह किये बिना दूध देने के लिए आये सरदार का चित्रण करके भीष्म जी यही दिलासा देते हैं कि हिंसा और दानवता के इस कांड में इनसानियत का झुटपुटा भी दिखायी देता है । झुटपुटा सौहार्द, सद्भावना और सदाशयता

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ-. 21
2. वही - पृ. 22
3. वही - पृ. 29

का सन्देश अपने आप इसमें संजोया है ।

अफवाहें - हृदयेश की कहानी 'अफवाहें' 1984 में हुए दंगों के आधार पर लिखी गयी है । इसमें दंगे के सभी आयामों का गहन चित्रण हुआ है। मूहल्ले में खबर फैली कि देश की प्रधानमंत्री को गोली मार दी गयी। यह खबर हवा की तरह फैल गयी जैसे कि उसे बताना हर किसी की अपनी ज़िम्मेदारी है। गली में रहनेवाला सोहन सिंह यह खबर सुनकर अपने आप से कहने लगा। "यकीन नहीं होता कि प्रधानमंत्री को गोली मार दी गयी है । अगर ऐसा हुआ तो बहुत बुरा हुआ है, बहुत ही बुरा । वे मुल्क की महान नेता है।"[1] इस हादसे से वह मन ही मन दुःखी है । इन्दिरा जी जैसे दिलेर और दूरंदेश लीडर के प्रति उनके मन में सम्मान है । इस खबर के फैलते ही सब अपना-अपना मंतव्य प्रकट करने लगते हैं । इन्दिरा गाँधी की हत्या उनके दो सुरक्षा कर्मियों ने की थी । इसकेलिए मुहल्ले के हिन्दू लोग पूरे सिख समुदाय को दोषी ठहराते हैं। कण्डेक्टर गजेन्द्र प्रताप का कथन है "स्वर्ण मन्दिर में जब से फौजी कार्रवाई हुई है सिख उनकी जान के तलाशी हो गये थे । मुझे लगता है यह सिखों का काम है।"[2] लेकिन सरदार सोहन सिंह के लिए हिन्दू और मुस्लिम दोनों एक हैं। उनके मन में कोई खोट नहीं है ।

गली के हिन्दू लोग जैसे यह खबर सुनकर उत्तेजित हो गये । गजेन्द्र

---

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ.29
2. वही - पृ. 74

प्रताप की राय में -"इतने बड़े काण्ड के बाद हिन्दू भला कैसे चुप बैठते? हिन्दू कोई कायर कौम नहीं है । राणा प्रताप, शिवजी हमीं में से हुए हैं ।"[1] सांप्रदायिकता की गाँठ व्यक्ति के दिमाग में ही होती है । लोगों को वहशी बनाने के लिए सांप्रदायिक कुत्सित शक्तियाँ अतीत तथा स्मृतियों का भरपूर प्रयोग करती हैं । इतिहास गढ़े जाते हैं, मजहबी घटनाओं की गलत व्याख्या दी जाती है । इन सब के प्रभाव में आम जनता आसानी से आती है । कहानी के पात्र सुभाष चन्द्र का कथन है "पाकिस्तान से भागकर आने पर हमने इनको अपनाया, मगर ये साँप निकले। सांपों का सिर अगर अब भी न कुचला गया तो औरों को भी डस सकते है । सुबह उस गली में ताज़ा खबर आयी कि रामनगर कॉलोनी के एक हिन्दू घर में एक सरदार को बचाने की नीयत से छिपा लिया गया था । रात में उस सरदार ने घरवालों पर कृपाण से हमला कर दिया । घर वाला मर गया । इन खबरों की सत्यता को परखा नहीं जा सकता था । इसलिए वे सब सत्य मानी जा रही थीं । जनता को मुश्किल समय में सहायता करने का दायित्व है 'पुलिस' पर । लेकिन वो भी अपना रोब जमाने में तुली हुई हैं । जानकी सहाय अपने नाती के लिए दवा लाने के लिए जाता है तो पुलिस उन्हें टोकता है । कहानी में इसका ज़िक्र है- .....पुलिस हुकूमत के लिए है और हुकूमत सख्ती से चलती है । पुलिस लोगों को डराये और पुलिस से लोग डरें, तभी वह पुलिस है।"[2] कहानी के

1. सं सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 74
2. वही - पृ. 30

पात्र राजकिशोर के माध्यम से कहानीकार ने तत्कालीन राजनीती का घृणित रूप एवं देश की बद्हालत पर अपनी चिन्ता भी यों ज़ाहिर की है - "देश की प्रधानमंत्री की हत्या हुई, यह अपने में एक बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है, पर हत्या को लेकर जो हिंसा का नंगा तांडव होने लगा है, वह और भी दुर्भाग्यपूर्ण है । जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि को लेकर देश में आये दिन दंगे होते रहते हैं, जिनमें सैकड़ों निर्दोष लोग मारे जाते हैं । राजनीति देश के हित में बड़े उद्देश्यों को लक्ष्य बनाकर देश में रहनेवाले तमाम जनों को समता और प्रेम के सूत्र से जोड़ने के लिए है, न कि नफरत की दीवारें उठाकर उनको छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने के लिए । राजनीति बहुत घृणित हो गयी है । वह गुण्डों और बौनों रही है । वह गुण्डों और बौनों की फसल उगा रही है । उसने व्यवस्था की कुर्सियों पर ऐसे अंधे-बहरे बिठा दिये हैं, जो सिर्फ अपनों को ही देख पाते हैं और सिर्फ अपनों की ही बातें सुन पाते हैं।"[1]

कहानी का एक पात्र है सत्वंत सिंह । वह बढ़ईगिरी करता था । बहुत ही सीधा-सादा । सिर्फ उसका नाम संयोग से 'सत्वंत सिंह' हो गया। गली के हिन्दू लोग उसके साथ बुरी तरह से पेश आए । वे कहते रहे "भाई नहीं, तू हरामी दूश्मन है । तेरी कौम ने मुल्क के साथ गद्दारी की । मुल्क की रहनुमा को मरवा दिया । तू मादर... आस्तीन का साँप..."[2] शरीफ मोहम्मद नामक गुण्डे के हाथ से सत्वंत सिंह की मौत होती है । शरीफ

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 31
2. वही, पृ-. 42

मोहम्मद के इस वहशी कारनामे से बिरजू गुरु को जलन होता है क्योंकि 'एक मुसलटे ने एक सरदार को मार दिया और हम हिन्दू कुछ न कर पाये। हिन्दूओं के लिए यह डूब मरने की बात है।"[1]

स्वार्थी राजनीतिज्ञ अपनी रोटियाँ सेंकने के लिए गुण्डों का इस्तेमाल करते हैं और वे गुण्डे आदमी नहीं जानवर बन जाते हैं । उन्हें होश नहीं रहती। विवेक खोकर वे किसी भी तरह नामी बनना चाहते हैं । इसलिए बिरजू गुरु को ऐसा लगता है कि उसे भी किसी को मारकर महान बनना है। सांप्रदायिकता के पीछे छिपी सभी स्वार्थी तत्वों को पहचानकर उन्हें उन्मीलित करने का प्रयास इस कहानी में हुआ है ।

क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा- सांप्रदायिक उन्माद पर लिखी स्वयंप्रकाश की यह कहानी विशेष उल्लेखनीय है । मध्यवर्ग की खोखली सामाजिकता तथा उनकी कायरता को बडी प्रभावपूर्ण शैली में उकेरा गया है । दंगों से बचने के लिए सत्तर साल का बूढ़ा सरदार रेल के डिब्बे में चढ़ जाता है । इतने में कुछ लड़के डिब्बे की खिड़की में ताकझांकी की और आखिर रेलवे पुलिस के समझाने पर शोर मचाते हुए चले गये । जाने से पहले एक लड़के ने आकर डिब्बे में बैठे सरदार जी को गालियाँ दी और खूनी कहा । डिब्बे में उपजे तनाव धीरे धीरे बढ़ता गया । कहानी में सरदारजी की पीड़ा और दर्द यों वर्णित है - "उनका सारा बदन सिर से

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर, पृ. 44

पाँव तक चादर से ढंका हुआ था, सिर्फ आँखें खुली थीं ...जिनमें दहशत भरी हुई थी । जैसे किसी सुरंग में से झांकती किसी भीत पशु की दो आँखे।"[1] शोर मचाती उन्मत्त भीड़ डिब्बे में घुसकर हर किसी से पूछता है कि वहाँ कोई सरदार तो नहीं है ? हर स्टेशन पर यही बात होती है ।

सारा दिन सरदार जी को इसी वहशियत से गुज़रना पड़ा । सारा दिन उन्होंने कुछ दवा की गोलियों के सिवा कुछ नहीं खाया था । डिब्बे में बैठे अन्य यात्री भी उन्माद के विषैले धुएं में असुरक्षित महसूस करते हैं । वे ये सोचकर परेशान है कि सरदारों को लूटनेवाले उनके सामान भी उठाकर भाग सकते हैं । डिब्बे में बैठे हिन्दू सरदार से ऊपर लेटने तथा चादर ओढकर सोने की सलाह दी जाती हैं । यात्री अपनी साहसिकता दिखाते हुए कहते हैं कि जब तक हम हैं, तुम्हें कुछ नहीं होगा । दंगाई आते हैं और बाहर से ही यह सुनकर लौट जाते हैं कि यहाँ दूसरी जाति का कोई व्यक्ति नहीं । पर एक दफा एक बेवकूफ औरत ने खुद खिड़की से सिर बाहर कर किसी को बता दिया कि एक सरदार है डिब्बे में । भीड़ बेतहाशा घुसकर बूढ़े सिख पर वार करती है । यात्री केवल दर्शक रहते हैं । बहुत सारे बहशी उस निहत्थे पर एक साथ टूट पड़े थे । मध्यवर्गीय समाज का वहशीपन कहानी में यों जाहिर किया गया है - "बाहर सरदार जी के सामान की होली जल रही थी और कई सारे आदमी एक नंगे सरदार को आग की तरफ धकेलने की

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ.168

कोशिश कर रहे थे । अंधेरे में सारे मुसाफिर खिड़कियों से चिपके बाहर देखने की कोशिश कर रहे थे और किसी को कुछ साफ दिखाई नहीं दे रहा था । लहुलुहान सिख को यात्री मदद का आश्वासन देते हैं । पर उन्होंने करारी आवाज़ में बड़ी मुश्किल से कहा - "अब जैसे पहुँचेंगे, पहुँच जायेगे। बिलासपुर ही तो जाना है । सुबह तो आ ही जाऐगा ।"[1]

स्याह घर- मंजुल भगत की यह कहानी सांप्रदायिक दंगों में परिवार की बेरहमी मौत से पीड़ित एक आदमी की त्रासद कथा है । उसका घर खोखा बन गया है । कभी उस घर में बेटा बबलू की हँसी और पत्नि की आवाज़ गूँजती थी जो गज़ल सुनते-सुनते खाना पकाती थी । बड़ी शौकीन- मिजाज की थी । उसका दोस्त प्रकाश को यकीन ही नहीं होता कि यह घर था ! वह पूछता है कि यह म्युनिसपैलिटी का बनाया हुआ कूडा-घर तो नहीं ? दंगे में सबकुछ मटियामेट हो गए । वह अपने दोस्त से - दंगे के बारे में कहता है - "एक ओर भीड होती है, दीवार की तरह सख्त और ठोस। तने हुए इरादों को, लाठियों पर ठाने हुए । हथियारबंद भीड़ । माचिस और मिट्टी के तेल के पीपे उठाये हुए । प्रकाश, इस भीड़ का कोई चेहरा नहीं होता । कोई कौम भी नहीं होती । सोच खत्म हो चुका होता है । फकत इरादा होता है, वहशी खूनी इरादा । बाज़ुओं में तहस-नहस करती एक अंधी तूफानी हरकत होती है । लहू रिसते बदन, फूटे कपाल और चूर-चूर होते काँच से

---

1. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 123

चकसां बेखबर । टीक की नक्काशी पर नाचती ज्वाला लिबासों परदों को चाटती हुई, कभी ज़िन्दा मांस को भुनती हुई । ये सब सोचे हुए नज़ारे हैं उनके लिए । तुम प्रकाश, उस भीड़ को देखते तो पूछते ये कौन हैं ? कहाँ से आयें है ये ? इनके न कोई आगे होता है, न पीछे । बस यही है । इनका भूत और भविष्य अभी घट रहे तूफानी पलों में सिमटा है, जिन पलों में गूंजते-बोलते घर परछाइयाँ बन जाते हैं, सजे बने घर जलकर खोखे रह जाते हैं और उन्हें सजाने-बनाने वाले चूहों की मानिंद इधर-उधर दौड़ने लगते हैं।"[1] भीड़ का आदमी एकाएक इतना नृशंसा हो उठता है कि उनके सामने इनसान का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । अपने अन्दर की सारी अच्छाइयों को त्यागकर सिर्फ वह भीड़ का हिस्सा बन जाता है । भीड़ का आदमी आदमी नहीं रहता । वह जानवर से ही बदत्तर हो जाता है जिसका विवेक नष्ट हो चुका होता है । जब वह भीड़ का हिस्सा बन जाता है तो तबाही ही एकमात्र लक्ष्य रहता है । इनसानों के सपने, आस्था उनके पैरों तले रौंद दिये जाते हैं । उसे न खुदा का डर होता है, न कानून का । वह मनुष्यता की होली जलाकर घरों को राख का ढ़ेर बनाकर आगे बढ़ता है । इस दंगे फसाद में बेटा बबलू को भीड़ खा गयी और उसकी माँ को बबलू का गम। उसके पिता को साथ रहनेवाले प्यारेलाल ने पिछले दरवाज़े से बाहर निकाला था । अपने बच पाने के दर्द को बबलू के पिता ने यों व्यक्त किया है- "मैं

1. सं. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 94

बच गया प्रकाश और इससे भयानक कोई दूसरी बात नहीं हुई । सड़क पर कुचली पड़ी बबलू की लाश और उसकी माँ का हौल खाया, बेजान पड़ा शरीर उठाने के लिए बच गया ।"[1]

बबलू के पिता उस घर को छोड़कर जाना नहीं चाहता है यद्यपि वह एक खोखा बन चुका है । 'स्याह' एक प्रतीक है । बबलू के पिता को स्याह-सफेद, बदरंग-सी याद आती है । उनको लगता है जैसे बबलू कभी हँसा ही न हो । उसके गले में से मानो फकत डरी हुई चीखें ही निकला करती हों । वह अपने बच्चे और पत्नि की यादों से बाहर निकालना ही नहीं चाहता । वह स्याह घर तो उसकी पत्नि का मकबरा बन गया है । पत्नि का नाम 'मीरा' जानकर दोस्त प्रकाश दंग रह जाता है । इस पर बबलू की पिता की प्रतिक्रिया है - 'क्यों इतना चोंक गये ? इसलिए कि मेरी बीवी का नाम मीरा था । कि इसलिए कि मैं मीरा नाम की लड़की को इतना चाहता था।"[2] तब प्रकाश अपना बेकसूर होने का दावा करते हुए कहता है "नहीं, हमने नहीं, उन्होंने उन बहशी लोगों ने मार डाला । हमने तो तुम्हें बचाया है।"[3] कहानीकार उन चेहरों और तथ्यों की पहचान कराते हैं जो आदमी को जानवर में तब्दील करते हैं ।

अगली सुबह - मृदुला गर्ग की यह कहानी भी 'इंदिरा गाँन्धी की हत्या के

---

1. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 95
2. वही, पृ-. 96
3. वही - पृ. 106

बाद भड़क उठे सिख-विरोधी दंगे के परिप्रेक्ष्य में लिखी गई है । कहानी का प्रारंभ इस खबर से होती है कि "इन्दिरा गाँधी को सोलह गोलियों से छलनी करके मार दिया गाया।"[1] तब अशोक ने कहा कि इसका तो यह मतलब नहीं कि पूरे कौम ने मार डाला । खबर सुनकर सत्तो आण्टी (अशोक की माँ) सरबजीत को बाहर जाने नहीं देती । उसके हाथ पकड़कर जबरदस्ती उसे स्टोर में ले गई । जब अशोक की माँ उसे 1947 की याद दिलाती है और कहती है कि तब उसकी उमर दस बरस की थी । माँ ने विभाजन का दर्द झेला है इस उन्माद के रग-रग से वह वाकिफ है । इसलिए वह कहती है- "भड़काने वाले थोड़े हों तो भी बहुत हैं । .. भीड़ का आदमी आदमी नहीं रहता..."[2] अशोक बंसल बाबू की चुनौती को स्वीकार कर बाहर निकलकर देखना चाहते हैं । पर सरबजीत के दोस्त, अशोक, अजय की माँ उसे घर में बन्द कर देता है । वह मन ही मन सोचता है "ठीक कह रहा था अशोक, सैंत्तीस साल पहले जो हुआ, उसकी वजह दूसरी थी, तब देश का बंटवारा हुआ था । वह तो अंग्रेज़ कर गए हमारा बँटवारा, नहीं तो हिन्दुस्तान तो घने पेड़ जैसा था, चाहे जो बेसरा कर ले । ... घना पेड़ तो बरगद का भी होता है जिसके नीचे कुछ उगता नहीं, उग सकता नहीं..."[3]

सरबजीत को बन्द कमरे में घुटन महसूस होती है । वह सोचता है

---

1. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 106
2. वही - पृ. 124
3. वही - पृ. 108

"यह क्या उसका कसूर है कि इन्दिरा गाँधी को सिख रक्षकों ने मार दिया । क्यों मारा, करमज़लों ने ! क्यों की गद्दारी ? जिसकी जान बचने की कसम ली, जिसका हिफाज़त करने की रोटी खाई उसे अपने हाथों मार दिया ! एक निहत्था औरत जान को ! एक बार नहीं सोलह बार गोली चलाकर ! यह तो खालसा की बहादुरी नहीं । हम तो जानवर तक पर दुबारा चोट नहीं करते। ...हमारी काम गुस्सेबाज भले ही, दगाबाज़ नहीं होती । फिर मैं क्यों दुक्का बैठा हूँ यहाँ भगोड़े की तरह ! न हों, औजार पास, दो हाथ, दो पैर तो है ।"[1] सरबजीत का यह आक्रोश वास्तव में लेखिका का ही आक्रोश है । यह सोच सांप्रदायिकता के दंगों के शिकार आम आदमी की ही सोच है, जिन्हें दंगों का परिणाम भुगतना पड़ रहा है ।

कहानी की सत्तो के ज़रिए कहानीकार ने सहज रूप में आदम जात में निहित मानवीयता की झलक भी दिखाई है। रास्ते अपने बेटे अशोक के मित्र सरबजीत की जान बचाने के लिए ही स्टोर में बंद कर देता है । उसे लगता है किसी बेटी के सामने उसका बाप हलाल न हो । किसी माँ के सामने उसका बेटा न खत्म हो जाय । इसलिए वह सरबजीत की रक्षा करना चाहती है ।

शहर में दोनों ओर से हिंसा भड़क उठती है, दोनों पक्ष एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं । अगले दिन एक नवंबर की सुबह जो रात से भी ज़्यादा स्याह सिद्ध होती है । अजय के पुलिस स्टेशन जाकर उनसे

---

1. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 112

सरबजीत के लिए मदद मांगने का यह परिणाम होता है कि सरबजीत को घर से निकालना पड़ता है । सरबजीत के केश कटवाकर और अशोक के कपडे पहनाकर सत्तो आण्टी उसे अजय के साथ सुरक्षित स्थान के लिए रवाना कर देती है । सोचती है -"कैसी भीड़ है यह? ये जवान छोकरे जिहाद पर निकले हैं या जश्न पर । किसी के चेहरे पर दुःख का ताप नहीं, रंजिश नहीं, मस्त हाथियों से वहशीपन के सिवाय कुछ नहीं । एक हत्या तब भी हुई थी, 1948 में । तब भी भीड़ जुटी थी, मातम मनाया था । लोगों के घरों में चूल्हें तक नहीं जले थे । उस रात और अगली सुबह । और एक अब है कि घर जल रहे हैं । यह मातम है या त्योहार?"[1] छज्जे पर से वह देखती है कि साइकिल पर जाते हुए सरबजीत और अजय को रोककर सरबजीत को "केशकटा सरदार कहकर लोग उछल पड़े हैं । उस समय वह चिल्लाकर कहती है "शरम करो, राक्षसों शरम करो। ....यही धरम है तुम्हारे । इसी बूते पर हिन्दू कहते हो अपने को ? उसकी जगह तुम्हारा बेटा हो तो ? तुम्हारा मनकू को ज़िन्दा जलाया कोई, तुम्हारे हरीश को पटक-पटक कर मारे ! रहम खाओ मेरे भाइयों रहम खाओ । तुम भी बेटे बेटी वाले हो । तुम्हारे भी बूढ़े माँ-बाप हैं । आओ मेरे साथ, बचाओ सामनेवाले सरदार जी को।"[2]

सांप्रदायिक दंगों में भले ही नफरत, हिंसा, घृणा और द्वेष की आग भड़क उठी हो पर इसके बीच भी आपसी प्यार रहम एवं सद्भाव भी देखने को मिलते हैं । यह कहानी इसका साक्ष्य है ।

1. सुरेन्द्र तिवारी - काला नवंबर (कहानी संग्रह) पृ. 116
2. वही, पृ-. 117

अयोध्या मसले' पर लिखी गई कहानी

हिन्दी पट्टी ही नहीं कमोबेश पूरे राष्ट्र को मंदिर-मस्जिद विवाद ने सांप्रदायिकता के आगोश में ले लिया था । छः दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद यानी विवादित ढाँचे को ढहाये जाने से पूर्व ही-खास तरह की पहचान की राजनीति शुरु हो गई थी । अयोध्या प्रसंग पिछले डेढ सौ साल की उन सभी चीज़ों को ज़्यादा अच्छी तरह से जानने का मौका देता है जिन्हें हम अस्मिता, जातीयता, राष्ट्र, संस्कृति, स्वाधीनता, नवजागरण और ऐसे कितने ही नामों से जानते या विभूषित करते आए हैं । इन इमारतों के तहखानों में बहुत से कंकाल जमे हैं, अनेक अपराधों के निशान मौजूद हैं और बहुत से दानव सोये पड़े हैं । विवादित ढाँचे को गिराये जाने से पूर्व जो राजनीति शुरु हुई उसमें बहुसंख्यक हिन्दू का तुष्टीकरण शुरु हुआ । उन्हें 'भारतीय' से इतर 'हिन्दू पहचान देने की कवायद शुरु हुई एवं इसकेलिए खास तरह की राष्ट्रवाद की मुहीम चलाई गई । राष्ट्रवाद की इस अवधारणा के बीछे धार्मिक राष्ट्रवाद की मुहिम थी । इसे 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के नाम से प्रचारित-प्रसारित किया गया । सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की यह रूप समावेशी नहीं है । यह देश के सभी धर्मों, रीति-रिवाज़ों एवं परंपराओं को साथ लेकर नहीं चलता । विभेदकारी शक्तियाँ नफरत की आग में सत्ता एवं स्वार्थ की रोटी सेंकती हैं । इतिहास गवाह है कि ऐसे प्रयास सत्ता जनित होते हैं - वे सत्ता प्राप्ति का प्रयास करते हैं या पहले से बैठे रहने से पकड़ को और

मज़बूत करना चाहते हैं । समकालीन कहानी में सांप्रदायिकता की इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की झलक की अभिव्यक्ति हुई है ।

परिंदे का इंतज़ार सा कुछ - नीलाक्षी सिंह की इस कहानी में नसरीन और उसकी माँ के ज़रिए अल्पसंख्यकों की त्रासद स्थिति का रेखांकन किया गया है । कहानी में 1990 सितंबर की अडवाणी की रथयात्रा का संकेत है । इस रथयात्रा के दौरान अल्पसंख्यक लोग असुरक्षा महसूस कर रहे थे - "लोग बाग अपनी नस्ल का खून पहचानते थे और वे दूसरे गुटों से खींच-खींचकर अपनी अपनी नस्ल वालों को अपने पास जमा कर लेना चाहते थे । ताकि इकट्ठे रहकर वे अपने खून को बचा सकें।.. बस लोग दिल को पकड़कर उसी घड़ी का इंतज़ार कर रहे थे । क्योंकि उसके बाद या तो उनके खून का बहना तय था, या उनके खून के प्यासों के खून का ।"[1] "13 सितंबर 1990 को गुजरात भाजपा के महामंत्री नरेन्द्र मोदी ने एक प्रेस कान्फ्रेंस में सोमनाथ से अयोध्या तक अडवाणी की रथयात्रा की घोषणा की । मोदी ने केन्द्र और उत्तरप्रदेश सरकारों को कड़ी चेतावनी देते हुए कहा कि भाजपा अयोध्या में जालियाँवालाबाग जैसे हत्याकाण्ड के लिए भी तैयार है ।... 25 सितंबर 1990 को जब अडवाणी ने सोमनाथ से अपनी रथयात्रा शुरू की तो गुजरात के मुसलमान बहुत असुरक्षित महसूस कर रहे थे सोमनाथ से लगे शहर वेरावाल के मुसलमानों ने तो अपने बच्चों, बूढ़ों और औरतों को नज़दीक

---

1. नीलाक्षी सिंह - परिंदे का इंतज़ार सा कुछ, पृ. 164

के सुरक्षित समझे जानेवाले ऐसे गाँवों में भेज दिया था जहाँ मुसलमान आबादी ज़्यादा थी।"[1] वर्तमान भारत के अल्पसंख्यकों की ज़िन्दगी के इस यथार्थ को लेखिका ने कहानी में उन्मीलित किया है । नसरीन धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की छाया में अपने मानवाधिकारों के बल पर, एक इंसान की हैसियत से जी रही थी । कारसेवक बाबर की उस मस्जिद को तोड़ डालने के लिए मोर्चाबंदी कर चुके थे । लोगों में सनसनी फैल गयी थी। लोग एक साथ उत्तेजित भी हुए और घबरा भी गये-"वे फैसले नहीं कर पा रहे थे कि उन्हें दूसरों की जान के पीछे पड़ना है या कि अपनी जान बचानी है ।"[2] ऐसी स्थिति में नसलीन के मन में अपने ही घर में रहने की ईहा थी। लेकिन उसकी माँ ने कहा कारसेवकों को सरकार रोके या, वे मस्जिद को तोड डालें -दोनों हालातों में याहँ हमारा रहना सही नहीं... यहाँ आसपास सारे हिन्दू ही तो बचे हैं । हमारे लोग तो सब अब यहाँ से छिटककर दूर बस गये हैं।"[3] ऐसी माहौल में आम जनता में 'हम' और 'पर' जैसी चिंता का घुसना स्वाभाविक है । इसप्रकार का भेद पैदा कर एक-दूसरे के बीच दीवार खड़ा करना सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों का मकसद है । इसकेलिए वे माहौल में सांप्रदायिक ज़हर फैलाकर जनता में भय, आतंक, शंका आदि उत्पन्न करते हैं । इसप्रकार मानव और मानव के बीच दीवार पैदा करने से आपसी संवाद भी मिट जाता है। इस कहानी में आवम की असली मानसिकता भी जाहिर हुई है ।

1. नीलाक्षी सिंह - परिंदे का इंतज़ार सा कुछ, पृ. 165
2. सं. अभयकुमार दुबे- राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड, पृ. 147
3. नीलाक्षी सिंह - परिंदे का इंतज़ार सा कुछ, पृ. 167

कहानी में इसका चित्रण है कि नसरीन अतुल शिरीश, मनी, अनन्या, ज्योति और हर्ष-मिलकर एक ग्रूप बनाते है । उस ग्रूप का नाम है 'नासमझ' । नामों के पहले अक्षर को मिलाकर किया गया यह नामकरण काफी समझदारी के साथ किया गया काम है । वे मूवी जाने का मन बना रहे थे कि आग की तरह दंगा फैल जाता है । अयोध्या में कारसेवक चारों ओर दहरात फैला रहे थे । नासमझ ग्रूप के सभी किसी न किसी धर्म या जाति-बिरादरी होने के कारण आंतरिक तौर पर एक साथ नहीं थे । मनी को पहली बार अपने हिन्दू होने का पता चला, तो नसरीन अल्पसंख्यक गुट की। नसरीन कहती है - "कभी मेरा जेंडर मुझे पीछे खींच रहा था तो कभी मेरा मजहब।"नसरीन औरों की तुलना में कुछ दृढ़ दिखाई देती है । वह शिरीश से कहती है कि - "मैं न एक लड़की की तरह जीना चाहती हूँ, न मुसलमान की तरह । मुझे इंसान की तरह जीना है ।"[1] नसरीन अल्पसंख्यक होने के कारण किसी की दया पर नहीं, बल्कि बराबर की दोस्ती पर आधारित रिश्ते के साथ जीना चाहती है । इस कहानी पर नामवरसिंह का बयान इस संदर्भ में गौरतलब है - "सांप्रदायिकता को आधार बनाकर लिखी गई इधर की कहानियों में यह बहुत अच्छी कहानी है । वास्तव में यह एक प्रेम कहानी है, विश्वविद्यालय में पढ़ाई करनेवाले कुछ लड़के-लड़कियों के आपस में मिलने जुलने और दिलचस्प बाते करने की कहानी है, क्योंकि पढ़ने-लिखनेवाले ये दोस्त सांप्रदायिकता ही नहीं, देश और समाज की किसी बड़ी समस्या पर

1. नीलाक्षी सिंह - परिंदे का इंतज़ार सा कुछ, पृ. 167

ठहरकर या गंभीरतापूर्वक सोचते-बतियाते नहीं दिखते । इसलिए इस कहानी में कोई एक भी पात्र ऐसा नहीं है जिसके बारे में हम कह सकें कि यह सांप्रदायिक शक्तियों के खिलाफ लड़ रहा है ।"[1] शिक्षा प्रणाली की एक कमज़ोरी यह भी है कि आज के छात्र-छात्रायें समाज की समस्याओं के प्रति अवगत नहीं है, चाहे वह सांप्रदायिकता की हो या अन्य किसी की समस्याओं से बेखवर छात्र-छात्रायें उसका साक्षात्कार कैसे करेंगे, यह भी एक समस्या ही है । उन्हें ऐसी गंभीर समस्याओं के विरुद्ध आवाज़ उठाने की हिम्मत भी नहीं है । वे जाने अनजाने सांप्रदायिकता जैसे निर्मम और अमानवीय वृत्तियों का हिस्सा बन जाते है। वह मस्जिद हमने नहीं बनायी थी न इस लोगों का कोई हाथ उस मस्जिद को तोड़ने में था । फिर भी हम दोनों खेमे के लोग कतराकर गुनहगारों की तरह खड़े थे । एक दीवर थी, जो हमेशा से थी । जिसे बीच-बीच के ये वाक्यों और पुख्ता बना रहे थे । वही दीवार हमें एक-दूसरे से नज़रें नहीं मिलाने दे रही थी । इमारत ही गिरानी थी तो गिरने के लिए यह दीवार ही क्या बूरी थी। मस्जिद तोडी गयी है फिर भी एक दीवार शेष खडी है, प्रतीक के रूप में मानव और मानव के बीच के भेद जाहिर करती दीवार ।

युटोपिया -वंदना राग की कहानी 'यूटोपिया' भी अयोध्या की घटना की पृष्ठबूमि में लिखी गयी है । कहानी एक मासूम बच्ची नज्जों की मासूमियत के चित्रण के साथ शुरु होती है । वह माँ की परछाई सी । पर बड़े होने पर

1. नामवर सिंह -परिंदे के इंतज़ॉर सब कुछ भूमिका

नज्जो 'पराये' धर्म के प्रति असहज होने लगी। "अम्मी परदे लगाओ मोटे खिड़कियों पर । बहुत धूप गर्मी और धूल होती है । खास तौर से खाली प्लाट की ओर खुलती खिड़कियाँ ढ़कनी ज़रूरी है!!!"[1] खाली प्लाट नज्जो के लिए अपने बचपन के दोस्त 'अच्चुतानंद गोसाई' की याद दिलाती थी । वह तब फ्राक उठाकर नाचनेवाली लड़की भी नहीं थी वह अपने सभी कपड़ों को सलीके से दबा, मुँह पर, सर पर दुप्पट्टा बाँध चलती थी । उसे रोज़ा, नमाज़ से लगाव हो गया था । नज्जो के मन कह उठा नफरत-बनाम अच्चुतानंद गोसाई । नज्जो के लिए अपने बचपन का दोस्त 'पर' हो गया।

बाबरी-मस्जिद के गिराने के बाद हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के लिए 'पर' हो गया था । "इस जानकारी के साथ कि नफरत जैसे शिष्टाचार से बावस्ता होना उसे उसके अपने लोगों के बीच कितना महफूज़ और अपना बनाता है।"[2] राममोहन जैसे नेता बेसहारा अच्चुतानंद जैसे युवाओं को अपनी मकसद की पूर्ति के लिए किसी 'वालेण्डेन डे' के नाम पर या किसी मंदिर, मस्जिद के नाम पर हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं । इस यथार्थ को मधु पूर्णिमा किश्वर ने यों व्यक्त किया है- "समाज की बेहतरी और विभिन्न समुदायों के बीच आपसी संबन्धों के लिए सबसे बड़ा खतरा उन लोगों की तरफ से है जो हम पर शासन कर रहे हैं । उन्हें अपने लालच और कुकृत्यों के भायनक परिणामों की रत्ती भर भी चिंता नहीं है ।"[3] युटोपिया

1. वंदना राव - यूटोपिया पहल 87, पृ. 202
2. वही - पृ. 202
3. वही - पृ. 203

में राम मोहन की पार्टी के विषय में सबसे सही विवरण 'अग्रवाल एण्ड़ संस' के सेठ का है । पूँजीपति और कट्टरपंथियों के गठजोड को कहानी में रेखांकित किया है । राममोहन ने अच्चुतानंद को दिन-ब-दिन अधिक से अधिक 'हिन्दू' बनाने की कोशिश की है । इतिहास की गलत तरीके से व्याख्या करके याने इतिहास में सांप्रदायिक जहर का मिश्रण करके अच्चुतानंद जैसे युवाओं को मुसलमान के विरुद्ध उत्तेजित किया गया । धर्म के उन्माद से लैस भरे देशों में हर क्षेत्र में अमानवीय-अनैतिक कार्य ही हो रहे हैं । ऐसे समाज में धर्मनिरपेक्षता की बात करना बेकार है क्योंकि धर्म ही सबके केन्द्र में है । ऐसे धर्मोन्मादी समय में प्रेम, अहिंसा और मित्रता की जगह घृणा व शत्रुता बल पकडती है । नज्जों और अच्चुतानंद किसी को नहीं पता कि बाबर कौन था, इन्हें अयोध्या की सरहदों और उसके होने के बारे में भी बहुत कम ही पता था । लेकिन अच्चुतानंद को अपने इतिहास का बदला लेना था। "उत्तेजना से उसका पूरा शरीर फड़कने लगा, उसने अपना मोर्चा संभाला, उसके कानों में वही आवाज़ों की रेल पेल मच गई । घड़ी की टिकटिक, समय का बदलना, नये दिन का आगाज़, नई दुनिया की ईजाद... के स्वर के स्वर मिला सारी की सारी पृथ्वी थरथराई और अल सुबह शौर्य दिवस का सूरज इस्तकबाल में इठलाता चला आया।"[1] अच्चुतानंद एक 'पूरी कौम' पर किए गए अत्याचारों का बदला नज्जो से ले रहा था । धर्मोन्मादी मनुष्य

1. अखिलेश - अंधेरा, पृ. 164

के आगे मानवीय संबन्धों के लिए कोई स्थान नहीं है उसके ऊपर केवल हिन्दू या मुसलमान है ।

अंधेरा - अखिलेश की 'अंधेरा' प्रेम और दुःख की कहानी है । यह वह दौर है जब फासीवादी ताकतों ने नए सिरे से भारतीय राजनीति में धमाकेदार प्रवेश किया था । राम लीला की रथ यात्रा निकाल कर बाबरी मस्जिद की नींव रखी गयी थीं । सांप्रदायिक विद्वेष का ज़हर खोलनेवाली का संगठित रूप सामने आया था । आदमी और आदमी के बीच मजहब की दीवारें खड़ी कर दी गई थीं । कहानी के पात्र है प्रेमरंजन और रेहाना । प्रेमरंजन रेहाना के लिए कुछ भी कर सकता है । यहाँ तक कि दाढ़ी मुड़ा सकता है। दंगे के बावजूद वह रेहाना को खोजने बुद्धापार्क जाता है । कहानीकार उस समय की सच्चाई को सामने रखते हैं । हिन्दू दंगाइयों के बीच फँसी रेहाना अपने को हिन्दू साबित करने के लिए दंगाई साधु के हिन्दू धर्म से संबन्धित सवालों का जवाब देना पडता है । साधु संतुष्ट होकर कहता है - "यह है असली हिन्दुत्व का संस्कार । ज्योति जी को देखिए, शलवार-कुर्ता पहनी हैं । पैंट, जीन्स, स्कर्ट, टॉप्स जैसी सेक्सी और पश्चिमी सभ्यता की पोशाकें पहननेवाली छिनारों को सीखना चाहिए इनसे । यदि वे नहीं सीखेंगी तो हम उनको सिखायेंगे ।"[1]

वर्तमान समाज में सब कुछ धर्म के आधार पर देखे समझे जा रहे

---

1. अखिलेश - अंधेरा, पृ. 165

हैं । धार्मिक चिह्नों के आधार पर व्यक्ति के धर्म को पहचानने की रीति भी ज़ोरों पर चल रही है । रेहाना मुसलमान होते हुए भी उस धर्म के किसी भी चिह्न को अपने ऊपर ढ़ोती नहीं है । दरअसल दंगे से आतंकित होकर मुसलमान और सिख हिन्दू धर्म का अनुकरण कर रहे हैं । रेहाना से सवाल-जवाब के दौरान साधु अश्लील ढंग से उसका गाल, कमर छूता रहता है । रेहाना के ज़वाबों से उसका प्रेमी-प्रेमरंजन भी सोचता है कि रेहाना ने यह सब इसलिए सीखा होगा कि विवाह के बाद ससुराल वालों को खुश रख सकें । लेकिन यथार्थ कुछ और था । रेहाना ने उसके अनुमान को गलत सिद्ध किया -"तुमसे मिलने के पहले ही मैं हिन्दू धर्म के बारे में थोड़ा-थोड़ा जानने लगी थी.... अब बेहतर जानकारी हो गई है...। मैं ही नहीं कई मुसलमान हिन्दुओं के बारे में जान रहे हैं । मुंबई के दंगों में मुसलमानों के कत्ल के बाद वहाँ के कई मुसलमान दंगे में अपने मुसलमान होने की आईडेन्टिटी छिपाने के लिए तुम्हारे मजहब की बातें सीखने लगे थे ।... पर गुजरात के दंगों के बाद मुल्क भर के मुसलमान बेचैन हुए....। तुम्हें हैरानी होगी लेकिन सच है - रामायण, महाभारत की कथाओं की किताबें मेरे अब्बू ने मुझे पढ़ने के लिए दीं । कहा था उस वक्त उन्होंने - 'बेटी पढ़ लो, बुरे वक्त में काम आ सकती हैं ...। और देखा तुमने प्रेमरंजन, वह पढ़ना.. बुरे वक्त में काम आया....। रेहाना सिसकने लगी।"[1] यह भारत की राष्ट्रीय संस्कृति की नयी हकीकत है। मनुष्य अपने को विकसित करने के लिए दूसरे मजहब की बातें जानता था,

1. अखिलेश - अंधेरा, पृ. 175

पर आज वह दूसरे मजहब के हमलों से बचने का एक मार्ग में बदल गया है ।

सांप्रदायिक आधार पर हिन्दू राष्ट्र बनाने का विचार खुद हिन्दुत्व के लिए खतरनाक होगा । हिन्दुत्व की महानता तो इसकी सार्वभौमिकता उदारता और उस दार्शनिक विविधता में है जो नास्तिकों तक को स्वीकार कर लेती है । रजनी कोठारी के मत में “हिन्दू पहचान हिन्दू संस्कृति को विकृत करने की कोशिश है, क्योंकि पूरी हिन्दू सोच, दर्शन और आध्यात्मिक प्रवृत्ति में बहुरंगी आंतरिक ढाँचे का केन्द्रीय स्थान है । उसका सार तत्व है मेरे जीवन का उद्देश्य और ब्रह्म के साथ मेरा संबन्ध मेरा निजी मामला है, लेकिन मेरी कुछ ज़िम्मेदारियाँ कर्तव्य और अधिकार हैं । जिसप्रकार मैं इनका आदर करता हूँ, उसी प्रकार दूसरों की ज़िम्मेदारियाँ, कर्तव्यों और अधिकारों का भी आदर करना होगा ।सिर्फ मुझे और मेरी जाति को ही नहीं, बल्कि दूसरी जातियों दूसरे समूहों, दूसरी पहचाने, दूसरी परंपराओं को भी सम्मान से जीने का हक है ।”[1] आज इस विशाल संवेदनशील और उदार सोच का स्थान एक पूरी तरह गैर-हिन्दू और अंध राष्ट्रवादी प्रक्रिया ले रही है । इस कहानी में अखिलेश गहन संवेदनशीलता के साथ उन्मादकारी तत्वों द्वारा प्रसारित दहशत एवं अल्पसंख्यक समुदाय की असुरक्षी की भावना को भी सामने लाते हैं । कहानी के अंत में प्रेमरंजन के रुदन और उसके आँसुओं

---

1. रजनी कोठारी - राजनीती की किताब, पृ. 263

में कई सवाल शामिल हैं जिनकी कसौटी पर इस संस्कृति के सेकुलर आख्यान को कसा जाना चाहिए । साथ ही इसमें धर्मनिरपेक्षता के सरकारी छद्‌म को भी उजागर किया गया है ।

कुंजरो वा - पंकज विष्ट यह कहानी.... कुँजरो वाँ" राम मन्दिर के निर्माण की पृष्ठभूमि में लिखी गई है । कहानी का प्रमुख पात्र है 'अख्तर'। वह एक बकरी पालता था । उस बकरी का नाम है 'मुन्ना' जिसे अख्तर अपना बेटा मानता है । तीन दिन से अख्तर की बकरी गायब है और वह रात दिन बकरी की तलाश में भटकता रहता है । कहानी का एक और पात्र है 'गुमान सिंह' जिसे मालूम है कि अख्तर की बकरी ज़िन्दा नहीं है । अख्तर की हालत से वह बेचैन हो उठता है । क्योंकि अख्तर के बकरे को मारने में उसकी भी भागीदारी थी । वह अपने मित्रों शिवदत्त, लालाजी, रामबहादुर आदि से मिलकर अख्तर को पाँच सौ रुपए देने का फैसला करता है । पैसा देने के बाद वे लोग अख्तर से बताते हैं कि उनकी बकरी अब ज़िन्दा नहीं है । तब अख्तर यह कहकर वह पैसा वापस कर देता है कि उसका इस्तेमाल किसी अच्छे कार्य के लिए करना । वह राम मन्दिर बनाने के लिए पैसा देता है, लेकिन खून से सने पैसे मन्दिर के लिए अपवित्र माने जाते हैं ।

बाबरी मस्जिद और राम मन्दिर को लेकर जो विवाद आज भी चल रहा है, उससे भारत का कोई क्षेत्र मुक्त नहीं है । उस पहाड़ी गाँव में भी इस वैमनस्य की हवा चलती है । राम मन्दिर के नाम से लोगों को, स्कूली

बच्चों को इसप्रकार भड़काए जाते हैं कि वे सभी बातों को पूरी तरह स्वीकारते हैं । लेकिन वे यह नहीं समझ पाते है कि कुछ लोगों के स्वार्थ के लिए ही उसका इस्तेमाल किया जा रहा है । गुमान सिंह कहता है कि "जो कुछ था चाहे वह जिस भी परिस्थिति में हुआ हो, क्या उन लोगों की जानकारी में नहीं हुआ था । लड़कों ने जब 'मुन्ना को मारा, तब क्या उनके दिमाग सिर्फ 'सिकार' खाना रहा था ? 'जय सियाराम और 'हर-हर महादेव' के नारे नहीं लगाए गए थे? क्या वे सब लड़के उस दल के नहीं थे, जिसे वे इतने दिन से संगठित और प्रेरित करने में लगे हुए थे ? क्या जब वे मुन्ना को मार रहे थे, मात्र बकरे को मार रहे थे? कौन लाया था ये कैसेट? किसके कहने पर ये बज रहे थे । किसने उकसाया था उन स्कूली लड़कों को रात-दिन मन्दिर-मन्दिर करके ?"[1]

विभाजन के दौरान हुए सांप्रदायिक दंगे के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में काफी बदलाव आया था । हिलमिलाकर रहनेवालों के बीच आपसी नफरत शक और डर बढ़ गए थे । कहानी के सुलेमान को पहले से ही इसका आभास होने लगा था । राम मन्दिर के निर्माण को लेकर लाउडस्पीकर से आनेवाली बातों को लेकर वह परेशान था । इसका ज़िक्र वह अख्तर से करता है कि - 'मियां ये पहाड़ी अब वे पहाड़ी नहीं रह गए हैं । इस जंगल में कुछ हो गया तो घरवालों को कई बरस तो पता भी नहीं

1. पंकज विष्ट - चर्चित कहानियाँ - कुंजरों वॉ, पृ. 128

चलेगा।"[1] वह आगे कहता है कि "ज़माना बदल गया है.,.. किसी का भरोसा नहीं रहा है । मैं नहीं कहता लोग अच्छे नहीं थे । जब थे, तब थे । ये सुबह-शाम की मीटिंगें यं डंडे, ये त्रिशूल, ये खुखरियाँ अचानक क्यों निकल आई हैं? कुछ बता सकते हो ? आखिर किसके लिए हैं यो ? यहाँ है कौन तुम्हारे और मेरे सिवा?"[2] सुलेमान की इस कथन से पता चलता है कि उस पहाड़ी गाँव में सुलेमान और अख्तर के सिवा और कोई मुसलमान नहीं रहता है । वह अख्तर से कहता है कि, "पिछले डेढ़-दो महीनों से सुबह से लेकर शाम तक ये लाउडस्पीकर से क्या बजता रहता है? अरे भाई, बनाओं अपना राम-मंदिर जाहाँ बनाना है । चौबीस घंटे ज़हर क्यों उगलते हो ?"[3] सुलेमान की इस बात से स्पष्ट मालूम होता है कि लोगों को आपस में लड़ाने के लिए ही लाउडस्पीकर के द्वारा यों उकसाया जा रहा है ।

पाकिस्तान बन जाने के बाद हिन्दुओं का बड़ा वर्ग मुसलमानों से इसलिए नफरत करते थे कि वे पाकिस्तान क्यों नहीं जाते कहानी के शिवदत्त में भी यह नफरत मौजूद है । उसे यह बात बेतुकी लगती थी कि अख्तर उस बकरी को अपना बेटा मानता है । जब गुमान सिंह कहता है कि "अख्तर कह रहा था, सब कुछ मानने पर ही तो है । पत्थर भी तो तभी भगवान कहलाता है, जब हम उसे मानते हैं।"[4] गुमान सिंह की इस बात से शिवदत्त

1. पंकज विष्ट - चर्चित कहानियाँ - कुंजरों वॉ, पृ. 120
2. वही - पृ. 120
3. वही - पृ. 120
4. वही - पृ. 127

बिगड़ जाता है - वह कहता रहता है - "हरामी की औलाद, साला धोड़िया, हमें धरम करम की बातें सिखलाता है, साले को नदी में फिंकवा दो। लड़कों को इशारा-भर करने की देर है । ये साले है ही आस्तीन के सांप। इनके साथ होना ही ऐसा चाहिए । हमारे साले नेता ही खस्सी है, पाकिस्तान भी दे दिया, फिर भी हमारी छाती पर इन्हें बैठाया हुआ है । जाएं साले वहाँ पाकिस्तान वहाँ जाकर समझाएँ अपनी माता बेनज़ीर भुट्टो को धरम-करम।"[1]

कहानी में सुलेमा और अख्तर दो ही मुसलमान हैं जिन्हें राम मन्दिर के निर्माण से कोई नफरत नहीं है । गुमान सिंह भी सोचता है कि आखिर किसके लिए है यह सारा हंगामा? लेकिन वैमनस्य का ज़हर एक दूसरे को नफ़रत के नज़रिए से देखने केलिए मज़बूर कर देता है । अख्तर के पैसों में रक्त का आरोप करते हुए बनवारी चीख उठता है कि खून लगे नोट से मन्दिर को अपवित्र बनाना चाहता है । जबकि वह नोट उन लोगों द्वारा ही अख्तर को दिया गया था ।

धर्म जब सिर्फ संगठन में तब्दील हो जाता है तो वह सांप्रदायिक रूप हासिल कर लेता है । कहानी में भी हिन्दू धर्मावलंबी अपने धर्म की रक्षा के लिए संगठन बनाता है, और वे इसका समर्थन भी करते हैं । एक मारवाड़ी कहता है - "क्या संगठन की बात करना बुरी बात है ? और क्या अपने धर्म की रक्षा करना और अपने अधिकारों के लिए लड़ना बुरी बात

1. पंकज विष्ट - चर्चित कहानियाँ - कुंजरों वॉ, पृ. 127

है।"[1] लेकिन यह संगठन धर्म-धर्म को एक दूसरे से अलग कराता है । लोगों में भेद उत्पन्न करता है और यों मानवीय मूल्यों का ह्रास हो जाता है । सांप्रदायिकता की एक खासियत यह है कि उसको हमेशा एक शत्रु की ज़रूरत होती है और इस मामले में शत्रु दूसरा धर्मावलंबी होता है ।

जय श्रीराम - पुष्पा सक्सेना की 'जय-श्रीराम' कहानी भी अयोध्या-बाबरी मस्जिद ध्वंस के पृष्ठभूमि में लिखी गई है । कहानी का प्रारंभ एक रेलयात्रा से होता है । शुरुआत से अन्त तक रेलगाड़ी के यात्रियों को किन-किन मुश्किलों का सामना करना पड़ा है, इसका वर्णन है । कहानी का पात्र रोहित अपने पत्नी, दो बच्चों के साथ और उनके सहेलियाँ मेधा और प्रज्ञा सहित यात्रा कर रहा है । डिब्बे में सब कहीं शान्ती थी जब तक जमशेदपुर से आए ट्रेन से उतरकर उनकी ट्रेन में जय श्री राम' के उद्घोष के साथ लोग घुस आए थे । भगवा वस्त्रों में युवकों का एक जत्था रोहित के कम्पार्टमेण्ट की ओर झपटा था । सबके हाथ में एक-एक झण्डा और माथे पर रामनामी पट्टी बंधी थी । वे लोग बिना टिकट के गाड़ी में घुसे थे । जब एक सज्जन ने कहा कि उनका उस डिब्बे में रिज़र्वेशन है तो युवकों का जवाब इस प्रकार था "अरे हमार रिजर्वेशन भगवान राम कराए हैं, जल्दी करो नहीं तो मामला गंभीर बन जाई । समझ रहे हो न ?"[2] सज्जन के साथ की लड़कियों की ओर युवकों ने इशारा किया था । धर्म के नाम पर कोई भी कुकृत्य करके

1. पंकज विष्ट - चर्चित कहानियाँ - कुंजरों वॉ, पृ. 131
2. सं. सुधा सिंह - साझा संस्कृति; भारतीय फासीवाद का स्त्री प्रत्युत्तर, पृ. 153

लोग अपने आप को भगवान का सेवक बताते हैं । घोषणा करते हैं कि भगवान ने इसके लिए हमें छूट दी है । सच्चा धर्म मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाता है और कहानी में लेखिका ने इन युवकों के विचार से इस तथ्य पर प्रकाश डालने की कोशिश की है कि इसी धर्म का पल्ला पकड़कर दंगाई हैवानियत व वहशीपन का नंगा नाच करते हैं । युवकों ने डंडे के ज़ोर पर थोड़ी ही देर में डिब्बा खाली कर दिया । दो व्यक्तियों ने अपने स्थान से हटना अस्वीकार किया और टिकट के लिए पूछा तो व्यक्ति के वाक्य पूरा होने के पहले एक युवक ने उनके हाथ से टिकट छीन लिया । ऊपर से उसने कहा "...अरे हम सीने पे गोली खाए जा रहे हैं न, एही कारण ई भलमानूस अपना टिकटवा तोहका दे दिये है... अरे ला हम देखें इनकर सीटवा....जय सिरी राम....।"[1] युवक ने दोनों टिकट फाड़कर हवा में उछाल दिए । कहानी में इसका खुलासा किया है कि अयोध्या में कारसेवा के लिए जाते युवक खुलेआम गुण्डादर्दी कर रहे हैं, भगवान का नाम लेकर । जो उनके खिलाफ आवाज़ उठाने की कोशिश करता है, बडी बेरहमी से उसे दबाया जाता है । बात-बात पे 'जय-श्रीराम का नारा लगाकर अपने को दिलासा दे रहे हैं कि ये सब धर्म की रक्षा के लिए किए जा रहे हैं । वे लोग प्लेटफार्म पर लूट-मार का दृश्य देखकर मज़ा लेते हैं । स्त्रियों पर अश्लील टिप्पणी करके ज़ोर से हँसते है "अरे काहे की सरम, हम यार तो सब मिल-बांट कर खाने वाले हैं । क्यों ठीक कहा न भगन भाई । सोलहो आने ठीक, तोहार जोरू, हमार

1. सं. सुधा सिंह - साझा संस्कृति; भारतीय फासीवाद का स्त्री प्रत्युत्तर, पृ. 154

जोरू.. कहा कैसन रही ?"[1] हालात का जायज़ा लेकर कहानी का नैरेटर मैं ने सोचा कि उनसे मित्रतापूर्ण व्यवहार करना ही बुद्धिमानी है । इस तरह का व्यवहार समय की माँग है । यह खुशामदी व्यवहार युवकों की उत्तेजना को थोड़ा कम करने के लिए था । अगर ये उद्दण्ड लड़के कुछ करने पर उतारू हो जाते तो अकेले रोहित कुछ नहीं कर सकता ।

शिक्षित युवकों की बेरोज़गारी भी इस तरह की आक्रमाकता और दादागिरी के लिए ज़िम्मेदार है । कहानी में इसका सही ज़िक्र है - "अगर इनकी शिक्षा नियमित रूप से चलती तो इन्हें इन कार्यों के लिए क्या अवकाश मिलता ? ... शिक्षा के बाद की बेरोज़गारी भी तो इन्हें निरुत्साहित करती है । ... इसका मतलब यह नहीं है कि ये गुण्डागर्दी पर उतर आए । इन्हें गुमराह करनेवाले भी तो हममें से ही हैं । इन्हें तो राजनीतिज्ञ अपना मोहरा बना लेते हैं, दण्ड यह भुगते है ।"[2] ऊँचे ओहदों पर बैठे राजनीतिज्ञों पर यहाँ करारा व्यंग्य कसा गया है । बेकार युवकों का फायदा उठाकर वे अपना सत्ता महफूज़ रखते हैं और इन बेचारों को मौत के कुएँ में धकेलते हैं ।

भय और आतंक के माहौल में यात्री किसी अनहोनी की प्रतीक्षा कर रहे थे । मानसिक दुश्चिन्तता से उबरने की राहत सबने महसूस की ।

---

1. सं. सुधा सिंह - साझा संस्कृति; भारतीय फासीवाद का स्त्री प्रत्युत्तर, पृ. 155
2. वही - पृ.156

उनके आक्रोश के विरुद्ध यात्री अपना प्रतिवाद भी दर्ज नहीं कर सकता । संत्रस्त माहौल में कुछ न कर पाने की आदमी की विवशता को कहानीकार ने 'रोहित' के ज़रिए व्यक्त किया है । माँ के समान महिला के साथ साथ अभद्र व्यवहार देखने पर भी अपने डिब्बे से बाहर निकालने की हिम्मत रोहित में नहीं होती ।

टिकट चेकर से रोहित के पूछने पर वह बताता हैं कि "जिनके साथ अभी आप यात्रा कर रहे थे, उनसे नीति व्यवस्था की बात क्या की जा सकती है ? क्या कर सके आप? कहानीकार की सोच कहानी के अंत में दर्ज है "इक्कीसवीं सदी को अग्रसर हमारा देश और देस की भावी पीढ़ी जनतंत्र का अर्थ क्या यही है?"[1] जनतंत्र अब तंत्र बनकर रह गया है । राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बनकर अशिक्षित बेरोज़गार युवक गुण्डागर्दी में शामिल होते हैं और देश के भविष्य को भी चुनौती देते हैं ।

उसके गले का राम -हरि भटनागर की कहानी भी मन्दिर-मस्जिद की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है । कहानी के प्रारंभ में एक मुसलमान का चित्रण है । कहानी का मैं उसे बर्दाशत नहीं कर पा रहा था । सिर्फ इसलिए कि वह मुसलमान है । 'मैं' यह सोचकर परेशान हो रहा था कि वह ज़रूर रग्धू को नुकसान पहुँचायेगा । दंगे के माहौल में हर किसी के मन में बेचैनी और शंका होती हैं । दूसरे धर्म के होने मात्र से लोग घृणा करने लगते है । कहानी का

---

1. सं. सुधा सिंह - साझा संस्कृति; भारतीय फासीवाद का स्त्री प्रत्युत्तर, पृ. 158

'मैं' यह सोच रहा था- "यह रग्घू के बहाने गड़बड़ करने आया है । मेरे दिमाग ने अपना काम करना शुरु किया । ज़रूर चोरी छिपे यह घपला करेगा और दफा हो जाएगा ।"[1] कहानी का 'मैं' उसे भगाना चाहता है ।

वह मुसलमानल मज़दूर है । जालिमों ने उसके बीवी-बच्चों को दंगे में मार डाला । किसी तरह वह जान बचाकर आया है । 'मैं' का दिमाग इस नुकते पर फँसा था कि लोगों ने इसपर जुल्म किया है तो यह भी मौका पाते ही बदला लेगा । आतंकित माहौल में कुछ लोगों के मन में तो यह विश्वास गहराई से पैठ जाता है कि दूसरी धर्मवाला मौका मिलते ही उनपर वार करेगा यों असुरक्षाबोध और अजनबीपन पनपने लगते हैं ।

इसलिए जब रग्धू उसे अपने पास ठहराना चाहता है तो 'मैं' कहता है "वैसे भी देख-रहे हो, मन्दिर-मस्जिद की आग भड़की हुई है । कब क्या हो जाएगा, कुछ समझ में नहीं आता । पहले भी इस लफड़े में दंगे हो चुके हैं, इसलिए कह रहा हूँ ।"[2] लेकिन कहानी में रग्घू और पत्नी का चित्रण करते हुए कहानीकार इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि अब भी दुनिया में ऐसे लोग ज़िन्दा हैं जिन्होंने धर्म का अर्थ पूरी तरफ से समझ रखा है । खोखली धार्मिक कार्यों से वे नहीं डरते । न ही वे किसी के बातों में नहीं आते कहानी के रग्धू और उसकी पत्नि ऐसे लोग हैं । वे उस मज़दूर

1. हरी भटनागर - नाम मैं क्या रखा है, पृ. 54
2. वही - पृ. 55

मुसलमान के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं । उसे खिशा चलाना सिखाते हैं। वे उसे अपना भाई मानते हैं ।

लेकिन कहानी का 'मैं' उसे भगाने की कोशिश करता है । उस से कहता है "दंगे में गरीब-झुग्गी वाले ही तबाह होते हैं ... मुझे कुछ नहीं होगा। हमारे पास मूहल्ले की फौज है ...."[1] यह बात सही है कि गरीब ही दंगों का शिकार होता है । अमीर सुरक्षित रहते हैं और उनका पूरा मुहल्ला साथ देता है । कहानी के अन्त में जब वह मुसलमान मज़दूर हाथ जोड़कर 'मैं' से कहता है 'राम-राम' बाबूजी तो उसे लगता है वो राम-राम गले में फाँसी के फंदे की तरह कस गया है ।

कश्मीर मसले पर लिखी गई कहानी

कश्मीर मसले से संबन्धित कहानियों में विस्थापन की पीड़ा एवं नॉस्टेलजिया प्रमुख रूप से दर्ज हैं । सांप्रदायिकता के मूल में जो सत्ता प्राप्ति की प्रक्रिया कार्य कर रही है उसे भी यथावत् उद्घाटित किया गया है । जब धार्मिक पहचान एक हथियार के रूप में स्थापित हो जाती है, तब मतलबी हवा देनेवाले इसे बनाए रखना चाहते हैं । सचमुच घाटी में हिन्दू और मुस्लिम दोनों महफूज़ नहीं हैं ।

चन्द्रकान्ता, कश्मीर की समस्याओं पर बहुत सारी कहानियाँ लिखी हैं । विघटित मूल्यों और बदलते रिश्तों से रू-ब-रू करानेवाली उनकी

1. हरी भटनागर - नाम मैं क्या रखा है, पृ. 56

कहानियाँ परिवेशजनित स्थितियों को ही नहीं दिखाती, अपितु मानवीय त्रासद स्थिति से भी हमें परिचित कराती है । उन के मन में बेहतर भविष्य का सपना पल रहा है । यद्यपि उनकी कहानियाँ राजनीतिक मूल्यहीनता एवं आतंकवाद की गहरी पड़ताल करती है । कथा अपना-अपना समय-समाज का होता है, फिर भी श्रेष्ठ कथा समकालीन समय और समाज को उल्लंघित करती है और सर्वकालीन प्रासंगीकता की हकदार बनती है । चन्द्रकान्ता ने ऐसी अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं ।

नवशीन मुबारक - यह विस्थापन की समस्या पर लिखी गई महत्वपूर्ण कहानी है । इस का मुख्य पात्र है 'पण्डित जगधर।' किसी समय आधा गाँव उनकी जागीर हुआ करती थी । आज वे अपने घर में इकलौता कमरे में नज़रबन्द हैं । उनकी और पत्नी तुलसी की उम्र अब ढलान पर हैं । उन्होंने उम्रभर पढ़ने पढ़ाने का काम किया । उनकी आँखों पर मोटे लेंस के शीशे चढ़े हैं । हालात का जायज़ा लेकर वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि सीखचों की यह उम्र कैद सज़ा उन्हें भुगतने ही है । पूरी वादी पर जिन्ना का साया पड़ा है । हमेशा बाहर गलियों का दनदनाहट ही सुन सकता है ।अगर बड़े सबेरे कोई घर से निकल जाय तो मौत ज़रूर। आतंकवादियां ने कश्मीर का जो हश्र किया, उसकी मिसाल है पण्डित'। उन्होंने बेघर होने की यह उम्र कैद जिल्लतों से बचने की खातिर और कुछ समदजू के आश्वासनों और मनुहारों से मज़बूर होकर हुई है । आतंकवादी दहशत में भी अस्सी का समदजू

उम्मीद का दामन नहीं छोड़ता ।

लोगों के घरों के दरवाज़ों - दीवारों पर धमकियों के रुक्के चिपके मिले । मास्टर को भी किसी ने नहीं छोडा । "आये दिन वादी में कर्फ्यू, और कांड, गोलियाँ और मारामारी चलती रहती है । आम-आदमी हैरान परेशान हैं। कभी-कभी सरकार का कर्फ्यू कभी जंगजुओं का । चार लोग सडक पर मिलें या घर में शंका की नज़रें उठती हैं देर सबेर घर से निकले तो मौत । कब राशन-पानी लाए, कब सौदा सुलुफ ? अभी झोला लेकर घर से बाहर निकलो तो बाहर गोलियों की दनदनाहट सुनो । अभी दूकानें खुलेगी, तो अभी लाउडस्पीकर लगी जीपों से दूकानें बंद करने का ऐलान हो जाएगा । कब क्या करे आदमी समझ में नहीं आता ।"[1] लेखिका ने इन शब्दों के ज़रिए कश्मीर के आतंकवादी माहौल का खुलासा किया है । धरती के स्वर्ग कश्मीर का लहुलुहान चेहरे का चित्र खींचा गया है । कहानी का पात्र समादजू पण्डित जगधर भट्ट के गोदाम का कामगार है । पण्डित जगधर भट्ट के पिता ने समदजू को काश्त करने केलिए अपनी कुछ आधी ज़मीन दी थी, जिस पर बढ़िया 'नूनब्योल' चावल उगता था और बदले में कभी फसल का हिसाब नहीं माँगा । ज़मीन मिली तो बच्चों की तरह उसे पोसा और चार पैसे कमाये । उसका बेटा कय्युम इंजिनीयर हो गया और शब्बू मेडिकल स्टोर का मालिक । इस खैफनाक माहौल में भी समदजू के मन में उम्मीद के

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 101

किरण बाकी हैं - "बस दौरे खिजाँ है चौतरफ, जी रहे हैं इस उम्मीद में कि गुजर जाएगा देर-सबेर । जगधर भट्ट के विचार में लेखिका का ही विचार प्रकट है - "जैसे कि समदजू गलत नहीं है । अलग-अलग दीन-धर्म के नाम पर जो भी हो रहा हो, दहशतज़दा सभी हैं.. गुज़र जाएगा यह वक्त भी ।" गरीबी, दंगा, आतंक से सन्त्रस्त माहौल से जगधर भट्ट जब घर-द्वार छोड़कर जाने की तैयारी करता है तो समदजू उसे जाने नहीं देता, वह कहता है "मास्टर ! मेरे रहते तुम पुरखों की ज़मीन छोड़कर बेघर नहीं हो सकते । जब तक हम सलामत, तब तक तुम भी...। अपने जान की बाज़ी लगाकर इंसानियत की धर्म निभानेवाला समदजू का चित्रण करके लेखिका इस तथ्य से हमें वाकिफ कराती है कि मानवीय मूल्य प्रेम, दया, करुणा आदि अब भी ज़िन्दा हैं । ऐसे माहौल में साल की पहली बर्फ पड़ने पर भी किसी ने किसी को नवशीन की मुबारक बात नहीं की । कल से गाँव में कर्फ्यू लगा हुआ था । गोलीबारी हुईं । कितने आतंकवादी थे और कितने निर्दोषजन किसी को कुछ पता न था । कोई किसी का एतबार नहीं कर सकता था । जब से बेटियों की शादियाँ हो गयीं भट्ट साहब कुछ निश्चिंत से हो गये । क्योंकि उधर हवा इतनी खराब हो गई कि जवान बेटियों को घर में रखना खतरे से खाली नहीं था ।

समदजू ने भी इस आतंकवादी माहौल में कम कठिनाइयाँ नहीं

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 104

झेली है । उसकी बड़ी बहू नूरा स्कूल में पढ़ाती है । बच्चों को लेकर शहर गई थी कि बदमाशों ने गाड़ी रोककर उसे बाहर खींच लिया । चार दिन बाद नूरा घर लौटी तो बदन से लहू तक निचुड गया था । कय्यूम गुस्से में मुट्टियाँ कसता रहा । समदजू ज़हर पीकर नीलकंठ बन गए । कौन किससे फरियाद करे ? कोई नियम-कानून कोई सरकार है वादी में?"[1] आतंकवादी मौके का फायदा उठाकर सभी के साथ अत्याचार करते हैं । अपने परिवार पर आए मूसीबतों के बारे में समदजू किसी से फरियाद भी नहीं कर सकता। उस का बेटा कय्युम रोज़ जगधर भट्ट का घर आता था और पण्डित के घर में शराब, बगैरह देने में मदद करता रहा । कय्युम के बेटे नसीर से पण्डित के बेटे अजय की दोस्ती है । किसी ने अजय पर गोली चलायी । समदजू और कच्चूम ने उसे घर पहुँचा दिया । यह सुनकर महाराज जड़वत खड़ा सुनता रहा । "देखता रहा समदजू को । अस्सी पार का यह बूढ़ा जो गर्म बिस्तरा छोड़ बर्फबारी में खुद उसके दरवाज़े पर तस्ल्ली देने चला आया है, कहीं सड़क पर ही गिर पड़ता तो ?"[2] कहानी में समदजू और पण्डित जगधर भट्ट अपना ईमान निभाते हैं ।

सांप्रदायिक उन्मादियों के गोलीबारी से पण्डित के बेटे अजय को बचानेवाला समदजू और उस वक्त उनके सेहत के बारे में ख्याल करनेवाला पण्डित मानवीयता के सही पहचान कराते हैं । कहानी के अन्त में समदजू

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 105
2. वही - पृ. 108

का कथन "कोई बला थी जो टल गई । अल्लाह की मेहर है तेरे बेटे पर । लंबी उम्र पाएगा । मैंने कहा था तुझे मास्टर, ग्यारह बचे हुए घरों में एक घर तेरा ज़रूर होगा । तेरे बाग में एक दिन बहार ज़रूर आएगी।"[1] कहानी में आतंकवादियों की ज़्यादतियों का बारीकी से चित्रण किया गया है । अन्त में रामदजू पण्डित को नवशीन मुबारक देता है । यह सुनकर सुड़कती नाक और बहती आँखें पोंछते महाराज भट्ट हँसने की कोशिश करता है ।

शरणागत दीनार्थ - आतंक, हत्या अविश्वास और दरिदंगी से भरपूर कहानी है शरजागत दीनार्थ ।

श्रीनगर से कोई चालीस के मील की दूरी पर बसा है मटन गाँव । इस गाँव में ब्राह्मण समाज के पितरों का कार्य करता है लस पंडित । छोटी-बड़ी पूजा, हवन, मुण्डन जनेऊ ब्याह-शादी इत्यादी विधिपूर्वक वह संपन्न कराता है । उसका बड़ा बेटा गाशा एम.एस. सी करने के बाद स्थानीय स्कूल में साइंस पढ़ाता है । उसकी सुघड़-सलोनी बेटी जया को लोग कीचड़ कमल कहते थे । बेटा पिता के धन्धे को 'दरिद्रों का पेशा' समझकर मन ही मन उस से नफरत करता है ।

उस गाँ में भी 'मिलेटन' शब्द के साथ छुटपुट हत्याएँ, बलात्कार, आगजनी की वारदातें हुई । पाकिस्तान चाहिए कि नारे गूँजने लगे । गाशा ने अपने पिता को चेताया कि अब यहाँ रहना नहीं चाहिए । लेकिन

लसपण्डित ने माना नहीं । ज़माना ही पलट, गया था । गुल्ली डंडा और बट-वल्लों से खेलते युवा लोहे के घातक खिलौनों से खेलना सीख गए थे । बच्चे लासपण्डित को 'मिलटेंट आए मिलिटेंट' कहकर चिल्लाने लगे । उन्होंने पहले बंद मुट्ठी दिखाकर बच्चों को धमकाया । बाद में तो जवान भी उनमें शामिल हो गए और एक दिन लसपण्डित के कंधे पर धरी झकाझक सफेद चद्दर में कालिख पुत गई । जब लसपण्डित ने कहा कि यह सब बुरे कर्मों का फल है ते पुत्र का कथन द्रष्टव्य है - "पाप-पुण्य और कर्मों की बात मत करो बाबा।"... कर्मफल कर्मफल ! बस, अब यही पाठ रह गया रटने को । ये लाखों जो भुगत रहे हैं नरक, सभी ने बुरे कर्म किए थे ? और वे हमारे भाग्यविधाता जो ऊँची कुर्सियों पर बैठे अपनी गद्दियाँ बचाने के लिए कोई पाप करने से बाज नहीं आते, उनके कर्मफल कहाँ गए? हमारी दुर्दशा के ज़िम्मेदार हैं वे...?"[1] कहानीकार उन राजनीतिक अवसखादियों पर व्यंग्य करते हैं जिन्होंने अपने गद्दियों को बचाये रखने के लिए किसी भी दुष्कर्म करने से नहीं चुकते ।

सन् 1985 में भी श्रीनगर तथा घाटी के अन्य क्षेत्रों में दीर्घकाल से चली आ रही स्थिति वैसी ही बनी रही थी । अर्ध सौनिक दलों पर हमला बढ़ता रहा । घाटी में कई बम विस्फोट भी हुए । कई पुलों को उडाने और संचार व्यवस्था को भंग करने के प्रयास भी किए गए । परंतु सौभाग्य तथा

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 110

सतर्कता के कारण ये प्रयास सफल नहीं हो पाए । सन् 1986-87 के दौराम उग्रवादियों ने एक प्रकार का इश्तहार युद्ध शुरु कर दिया - इस उद्देश्य से कि समस्त मुसलमान जनता को राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों और स्थानीय प्रशासन से अलग किया जाए । इस विषय में दिल्ली की चिंता की दो कारणों से परवाह नहीं की गई । प्रथम यह कि अधिकतर राजनीतिज्ञ तथा सरकारी अफसर उग्रवादियों के प्रति सहानुभूति रखते थे और दूसरा यह कि स्थिति पहले से ही राज्य सरकार के हाथ से बाहर थी और वे किसी भी प्रकार आतंकवादी गतिविधियों को रोक पाने में समर्थ नहीं थी ।

गाशा हालातों की वजह से कड़वा हो जाता है । पूरी पीढ़ी गुस्से में है । बेकार, बेज़मीन, बेरोज़गार और अपने देश के परदेशी होने का विवश आक्रोश । एक बड़ी साज़िश के शिकार के मुहरे । राह चलते छोकरे आँखों में आँखें डाल तरन्नुम में गाने लगे - "असी गछि आसुन पाकिस्तान, बटव रासे तय बटन्येव साव। (हमें पाकिस्तान चाहिए, पण्डितों के बिना, पंडिताइनों के साथ।"[1]

जैसे सूचित किया गाशा ने अपने पिता को चेताया कि अब यहाँ रहना नहीं चाहिए । लेकिन लसपण्डित ने नहीं सुना । 'हथियारों से लैस चार लोगों ने उसके घर का दरवाज़ा तोड़ दिया और सबको मार-पीट कर कबूतरी -सी जया को उठाकर ले गये । आर्त पुकारें रात के सन्नाटे को

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 110

चीरती रही । फिर गाशा ने सबको ट्रक में डाला और कैम्प में ले आया । सभी मुसलमानों को जेहाद के लिए उकसाया जाता था और हिन्दुओं पर अत्याचार करवाये जाते थे । श्रीनगर में माईग्रेट कैंप, माइग्रेट शॉप और स्कूल खुल गये । सरकार राशन बांटती गयी और लोग चार साल से खाते रहे ।

गशा विस्थापित बच्चों के स्कूल में साइन्स पढ़ाने लगा । वह सरकारी रिलीफ के लिए दफतरों की आवाजाही करता है और सुनता है "माइग्रेट शब्द, जो अब गाली की तरह इस्तेमाल होने लगता है । वह अपने बजूद के बारे में भूलता जा रहा है।"[1] अब लसपण्डित के साथी दिन गिनते रहते हैं । नवंबर 1989 में आए थे हम..." ...ढीबानाथ हैज़िरी वाला एक ही राग अलापता है, "सामान से ठसाठस भरी दूकान, दिल्ली-पंजाब का लेटेस्ट माल ! - चाबी वली मूहम्मद को सौंप आया । ईमान बचा है उसमें अभी । सोचा था दो-चार महीनों में हालात ठीक हो जाएँगे ...! हृदय रोग की मरीज़ लीला का विलाप खत्म ही नहीं होता, मेरा यह मेरा वह...।"[21]

सन् 1989 के उत्तरार्द्ध में श्रीनगर में आतंकवाद पूरे जोर से आरंभ हो गया । अगस्त में हिंसा-डराने धमकाने, विद्रोह तथा आतंकवाद की घटनाएँ बार-बार होती रही । 14 अगस्त को पाकिस्तान का स्वतन्त्रता

---

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 112
2. वही - पृ. 113

दिवस मनाया गया, पर 15 अगस्त को भारत का नहीं । दूकानें बंद रही, सार्वजनिक वाहनों को सड़क पर नहीं चलने दिया गया । बम-विस्फोट भी हुए जिनमें लगभग 60 व्यक्ति हताहत हुए । यहाँ तक कि रात को घरों में बिजली नहीं जलाने दी गई, जिसके कारण पूरा श्रीनगर अँधेरे में डूबा रहा। इसी दिन से एक नया रेडियों स्टेशन "वाँयस आफ इस्लामिक रिपब्लिक' कभी-कभी प्रसारण करके लोगों को सरकार को सत्ता से हटाकर एक नई इस्लामी व्यवस्था को स्थापित करने के लिए उकसाया गया । 14 सितंबर को भारतीय जनता पार्टी के उपाध्यक्ष टिक्का लाल टपलू की गोली मारकर हत्या कर दी गई । अक्तूबर से दिसंबर 1989 तक इस प्रकार की घटनाएँ होती रहीं ।

'हरकत-उल-अंसार' संगठन से सभी डरते थे । दया-मदद के बहाने लोग सरायों में चले आते । दाता-यातक दोनों लार टपकाते । बबली की ओर उनकी नज़र बार-बार जाती । राशन की लंबी-लंबी कतारों में उसे ही भेजने का आग्रह होता । तब लसपण्डित को लगता "ये सरकारी सेवक, किस आतंकवादी से कम हैं, एक आतंक में जया गई । दूसरा आतंक बबली की ओर लपक रहा है । ओ सुदर्शन चक्रधारी ! तेरा चक्र कहाँ गया? इतना निहत्था तू क्यों हो गया । निहत्था लसपंडित, निहत्था भगवान, निहत्थे देशरक्षक, कोई किसी की पुकार नहीं सुनता।"[1]

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 115

एक रात जया अपने बच्चे को लेकर चली आती है । लस पण्डित ने तो उसका तर्पण भी किया था । पता चला कि वह आस्पताल से भाग आयी । पण्डित उसे आश्रय -देने जा रहा था कि संशयग्रस्त भीड़ ने कहा कि ऐसी विपत्ति में पाप की गठरी को सीने से नहीं लगाना चाहिए । कहानी का प्रसंग देखिए "यह तुम कहते हो लसपंडित? उम्र भर धर्म की भाषा बोलो और आज विपत्ति में इस पाप की गठरी को सीने से लगाओंगे ? नहीं, हमें अपनी बहू-बेटियों की आबरू बचानी है ।"[1] जवाब में लसपण्डित के कथन में लेखिका का वक्तव्य प्रकट हैं "आबरू की बात मत करो । मेरा यह दस्तार जिस दिन उन्होंने जूतों से मसल दिया उसी दिन मेरी आबरू चली गई। तुम्हारी भी आबरू कहाँ बच गई ? यह जो घंटों कतार में खड़े भीख के टुकड़े लेते हो और कुत्ते की तरह दुत्कारे जाने पर भी डटे रहते हो सो, कोई आबरू बच गई है तुम्हारे पास? धर्म की बात मत करो । शरण में आई दुखियारी बेटी को दुत्कारकर तुम कोई धर्म नहीं निभा रहे । लसपण्डित आबरू खोकर भी धर्म का अर्थ जानता है । धर्म निभाने का मतलब इंसानियत निभाना है । लेकिन भीड़ सुनने के लिए तैयार नहीं थी । जया चुपचाप सराय की सीढ़ियाँ उतर जाती है । लस पण्डित के भीतर शोर की तरह प्रार्थनाओं के स्वर उठे - शरणागत दीनार्थ । कहानी के अंत तक आते-आते हत्याकाण्ड और वहशीपन के उन्मादी माहौल में नारी की असहाय अवस्था एवं विवशता का मार्मिक चित्रण हुआ है । जया को भाई गाशा ने

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 117

भी गले नहीं लगाया । जया के कथन में यह बात स्पष्ट है जब उससे गशा कहता है कि बच्ची को साथ ले आया, यह तो बहुत गलत किया । तब जया को लगा कि संशयवालों ने नहीं उसके अपनी माँ भाई ने उसे एक बार फिर बेइज़्ज़त की है । उसके कलेजे में जैसे भोंथरा चाकू चुभा । दूसरे दिन लोगों ने देखा लसपण्डित अपनी जगह से गायब है । जिसने जो सोचा, जो कहा, पर सच तो यह है कि लस पण्डित के यों चले जाने पर सभी ने खुद को एक बार फिर ज़लील होता हुआ महसूस किया ।

पायथन - इस कहानी के माध्यम से कहानीकार इसी तथ्य का खुलासा करती हैं कि गाँव के आतंक और शहर के आतंक में कोई अन्तर नहीं है । यदि शहर में कोई भागकर आ भी जाए तो भी उसे आतंक से छुटकारा मिलता नहीं । कहानी में इस तथ्य का भी तह से रेखांकित किया गया है कि सब कुछ बदल जाय लेकिन भूख का मॉरल नहीं बदलता । कहानी का पायथान सेक्स का प्रतीक है । इस का मुख्य पात्र है प्रेमनाथ। प्रेमनाथ महाराज को सपने में पायथन इसलिए दिखाई देता है कि उनकी पत्नी का देहान्त जल्दी हो गया था । बिट्टी को इसलिए दिखाई देता है कि उसने अभी-अभी जवानी में कदम रखा है ? प्रेमनाथ महाराज ने अपना मुल्क छोड़कर शहर की ओर भागा था। दहशतगर्दी ने वो अफरा-तफरी मचाई कि बहु-बेटियों की हिफाज़त करना मुहाल हो गया । दिन दहाड़े बाटियों को उठाकर ले गये । आतंक के माहौल में स्त्री कभी भी मेहफूज़ नहीं है । चार

साल पहले वह जम्मू के शरणार्थी शिविर में आया था । शिविर में पड़े-पड़े ऊँघने और मक्खियाँ मारते रहने से वह ऊब गया । अनिश्चित वर्तमान और अनिश्चित भविष्य में भिखमंगे की ज़िन्दगी जीकर वह उकता गया । कौल उसकी साहब ने उसकी इस अवस्था पर तरस खाकर उसे दिल्ली बुलाया और वह चला गया । हरिराम चपरासी की मदद से उसे दया बहन के पास साउथ एक्स के बगल में ही एक कमरा मिल गया । बड़े शहरों में तो हर मोड़ पर भूखे गिद्ध शिकार की ताक में घात लगाए बैठे रहते हैं । हरीराम जानता है कि गरीब के घर 'श्रीदेवी' जैसे लवंगलता का जन्म लेना, पिता के लिए क्या-क्या दिक्कतें पेश करता है । दया बहन के अगल-बगल में सब सामान्य जनों का ही जमावड़ा था । शहर में पैसा ही सब कुछ है । हरिराम कहता है - "वह पैसेवालों की दुनिया है भइया । पैसा इधर सबसे बड़ा सच है, बाकी सब झूठ । पैसे की इज़्जत है यहाँ।"[1] प्रेमनाथ को शहर में सिर्फ कमरा ही नहीं, अपितु उसे कश्मीरी भोजन बनाने के लिए धड़ाधड ऑर्डर भी मिलने लगे । एक बार जो उसके हाथ का बनाया हुआ खाना खाता वह तारीफ के पुल बाँध देता । जैसे-जैसे पैसा जमा होते गए वैसे वह बिट्टी के लिए शरीफ और कमाऊ लड़का खोजता रहा । बेटी शहर में रहना सीख गयी थी। बरसों में पिसने, दबने की उसकी आदत पड़ गयी थी । बंगल में रहनेवाला राजू उसके सौन्दर्य का लाभ उठाकर पैसा कमाना चाहता था । उसने समझाया "बड़े आदमी का सपना पैसा, छोटे आदमी का सपना पैसा । वही

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 121

सबसे बड़ा मॉरल है आज।"[1] मॉडर्न बनने की बात पूछने पर उसने राजू से कहा कि क्या वह उसके साथ शादी करने के लिए राज़ी है ? 'मैरेज इज द एण्ड ऑफ लाइफ बेबी" कहकर उसने बात उड़ा दी । राजू उसे एक बार करोलबाग के 'डिस्कों रेस्तराँ' में ले गया । परन्तु वहाँ की प्राईवेसी देखकर बिट्टी भगकर आयी । बिट्टी जब पीली पड़ती जा रही तो प्रेमनाथ उसे डॉक्टर को दिखाता है । जब डॉक्टर उसे टेस्ट कराने के लिए कहता है तो बिट्टी टेस्ट नहीं कराती । उसे डर लगता है । प्रेमनाथ ने कमरा बदल दिया। हरिराम के बगल में कमरा होने से रोशनदान से वह उसका विशेष ख्याल रखने लगा । बार-बार उसके लिए फल लाता रहा । बिट्टी फल को खाती नहीं थी । उस दिन से उसके भी सपने में पायथान आने लगा था । भूख फिर राजू की हो या हरिराम की उसका मॉरल नहीं बदलता ।

प्रेमनाथ अपनी बच्ची को दंगाइयों से बचाने के लिए शहर में लाता है । लेकिन शहर में भी वह उसे दूसरों के वहशी नज़रों से बचा नहीं पाता।

काली बर्फ - चन्द्रकान्ता की कहानी 'काली बर्फ' कश्मीर के परिप्रेक्ष्य में आतंकवाद के कटु यथार्थ को उजागर करती है । कहानी में आतंक, हत्या और नृशंसता का अंकन है । कहानीकार अपने जन्मदेश की स्थिति से बेचैन है । कश्मीर वह भूभाग है जहाँ इस्लाम की सहिष्णुता सूफी परंपरा के ज़रिए सदियों से फलती-फूलती रहती थी, उस पर देश के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 128

लिए ज़िम्मेदार द्विराष्ट्र सिद्धान्त की छाया तक नहीं पड़ी थी । तीस के दशक की शुरुआत में कश्मीर में बनी मुस्लिम सभा को शेख अब्दुल्ला ने 1939 में ही पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय सभा में बदल दिया था । कमलकांत त्रिपाठी के मत में "विभाजन के समय के भीषण रक्तपात के दौरान इस राज्य (कश्मीर) में एक जान नहीं गई थी.. ऐसे कश्मीर का पहले धर्म से जुड़े अलगाववाद और फिर कट्टर, जिहादी, इस्लाम की प्रयोगशाला बनकर पूरे उपमहाद्वीप के धार्मिक सामंजस्य और सौहार्द को नष्ट करने का साधन बन जाना इतिहास की एक विचित्र विडंबना है ।"[1]

फिलहाल कश्मीर में आतंकवादियों की क्रूरताओं के कारण हिन्दू-मुसलमान के बीच की खाई गहरी हो गयी है । धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर धार्मिक जटिलता और वैचारिक द्वन्द्व बरकरार है । 'काली बर्फ इसी परिप्रेक्ष्य में लिखी गई है । कहानी की मुख्य पात्रा है 'परमी'। कहानी की शुरुआत काली बर्फ के वर्णन से होती है ।कश्मीर वासियों का विश्वास है कि अगर आकाश से काली बर्फ गिरे तो इंसानियत को बचाए रखती सभी उम्मीदें अपनी अर्थवता खो देगी । कहानी में कश्मीरवासियों के विश्वास के समान इंसानियत को बचाए रखनेवाले सारे मूल्यों की अर्थवत्ता खो देने का चित्रण है । परमी आत्मविश्वास और हिम्मत से लैस लड़की है माँ ने उसकी इच्छा और ज़िद के अनुसार उसे पाला था । गांव से शहर आकर वे बस गयीं ।

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 129

परमी डॉक्टर बनना चाहती थी, पर पिता की मृत्यु के कारण नरसिंग सीखी डाक्टर की पढ़ाई खर्च करने की कूवत उनमें न थी । वह नर्स बन गई - और डॉक्टर के साथ रहकर छोटे-मोटे ऑपरेशन करना भी सीख गई । सब ठीक चल रहा था । नरेन्द्र से परमी की शादी होनेवाली थी । पर इसी बीच हालत बदल गया । वादी के आसमान पर काले बादल काफी दिनों से इकट्ठा हो रहे थे, अचानक कहर बनकर बरस पड़े । आतंक की तूफान में दोस्त-दुश्मनों के चेहरे यकसां हो गए । "चारों ओर आंधी उठी कि सदियों का विश्वास चरमरा कर ढह गए । माँ बहन, बेटी सब महज एक लावारिस औरत रह गई, एक भोग्या ! दीन धर्म की आड़ में इंसानियत का खून हो गया ।"[1] माँ ने परमी से इलाका छोड़कर चलने की बात की ।

लेकिन परमी ने माँ को आश्वासन दिया कि "कहीं नहीं जाएंगे हम, तू डरा मत कर । सभी हमारे अपने हैं यहाँ । शमा, अजहर के रहते, हम बेघर कैसे हो सकते हैं? फिर हमने किसी का कुछ बिगाड़ा तो नहीं है..."[2] परमी का विश्वास यह था कि रात को पेशेंट घर आए या बीमार के घर जाना पड़े तो...। वह किसी को निराश नहीं करना चाहती थी । इसलिए दहशत के दिनों में भी वह अकेली नहीं रही । परन्तु नरेन्द्र के घर एक पर्चो चिपकी मिली थी कि "जान प्यारी है तो यहाँ से चले जाओ और अपनी महबूबा को हमारे लिए छोड़ दो...।"[3] परमी का काम तो जख्मों पर मरहम लगाना था।

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 126
2. वही - पृ. 130
3. वही - पृ. 131

परमी को बेघर होकर जीना मंजूर नहीं था । एक-एक कर घर छोड़कर चले जाते नाते-रिश्तेदारों को वह छाती पीट-पीट कर विदा लेती है ।

कश्मीर में फिर बर्फ काली हो गयी । अज़हर ने जब दोनों माँ-बेटी को अपने जीप में बिठाकर सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाना चाहा । पर अचानक हमलावरों ने जीप का टायर पंचर कर दिया । शमा और परमी को दो अलग-अलग दिशाओं में घसीटी गई । परमी ने बाघ देखे । एक साथ कई बाध । जब तक वह लड़ती रही कि पंजों, दांतों और लातों के हथियार भौथरे न हो गए । परमी सोचती है कि शायद अजहर और शमा को उन्होंने छोड़ दिया होगा । क्योंकि वे दीन केलिए जिहाद कर रहे थे । "लेकिन परमी नहीं जानती थी कि कुछ दूर पर मनौती वाले पत्थर की ओट में शमा भी उसी की तरह लहुलुहान पड़ी है ।उसने भी आखिरी चीख से पहले यह उम्मीद की है कि उन्होंने परमी को छोड़ दिया होगा । वह जो उनके ज़ख्मों का इलाज करती थी ।... लेकिन सभी सोच गलत हो गए थे । क्योंकि काली बर्फ ने सभी उम्मीदों व विश्वासों को स्याह लबादे से ढक दिया था।"[1] इसलिए वे अपने देश को छोड़कर जाना नहीं चाहते । माँ के बार-बार कहने पर भी परमी जाना नहीं चाहता । उन्हें खुद पर विश्वास था । उनका धर्म था दोस्त, दुश्मन दोनों को राहत देना । लेकिन बाघ का मुखौटा पहने हथियारों से लैस उन दरिंदों के सामने परमी की चीख विफल हो गयी । लेखिका ने मध्यकाल

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 131

का प्रसंग लेकर धर्म के नाम पर होनेवाला फसादों की नृशंसता की खिल्ली उठाई है -"हारी पर्वत की पहाडी पर चक्रेश्वर का मंदिर दूर से दिखाई दे रहा था । मंदिर के शिखर पर फहराता ध्वज और नीचे दामन में मस्जिद की ऊँची उठी नक्काशीदार इमारत । अकबर बादशाह के सर्वधर्म समभाव का अद्‌भुत नमूना । मंदिर-मस्जिद एक साथ । क्या सोचकर बनाया होगा ? जब धर्म के नाम पर सिर फुटौब्वलें होगी तो सभी अपने-अपने अल्लाह-ईश्वर के एक जगह याद कर अपनी भूलों का प्रायश्चित करेंगे ? अकबर बादशाह, आकर देख लो ! हालात के मोड ने तुझे गलत साबित कर दिया।"[1]

जलकुण्ड का रंग और नुसरत की आँखें - चन्द्रकान्ता की यह कहानी तेरह वर्षों के लंबे अन्तराल के बाद अपने घर पहुँची लेखिका के हाल-चाल का पूरा ब्यौरा प्रस्तुत कर देती है । उन्हें दोस्त मल्लिका का फोन आता है, श्रीनगर चलने के लिए । श्रीनगर के बारामूला में मेन्टल हॉस्पिटल की औरतों से मिलना है और अगर लेखिका चाहती है तो अपना घर 'कर्णनगर' में भी जाएँगे ।

कश्मीर में आतंकवाद थमा नहीं था । वह ताज़ा ज़ख्म बना है जिसमें से खून रिस रहा है । जम्मू और कश्मीर में फारूक अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त कर गुल मुहम्मद शाह की सरकार की स्थापना हुई थी।

1. चन्द्रकान्ता - काली बर्फ, पृ. 131

इसके फलस्वरूप राज्य की जनता की नज़रों में राजनैतिक दलों और लोकतांत्रिक प्रक्रिय की विश्वसनीयता खत्म हो गयी थी और जनता आतंकवादियों की ओर सुरक्षा के लिए ताक रही थी । कहानी में इस संकट का जिक्र यों प्रस्तुत है -"पिछले चौदह वर्षों ने उम्मीदों के दीये ऐसे थरथरा दिये है, कि लाख ओट करने पर भी, बुझने से बचाने की जुगात व्यर्थ लगाने लगी हैं ।"[1] श्रीनगर आने के बाद लेखिका जिस नॉस्टालजिया से गुज़रती है वह इन वाक्यों में स्पष्ट है - "अब मैं श्रीनगर में थी । ज़ख्म की तरहअपने अन्दर छिपाये विछोह को सहलाती कि रोना नहीं । कैसे विदेह-सा लगा था अपना होना ! खुद को खुद ही बहलाती रही, एक मौका तो मिला अपनी हवाओं में साँस लेने का । न रहे वे धूपीले आंगन, वे दूबिया धरती पर हमारे पैरों के निशान । एक बार अपनी ज़मीन, पर अपनी यादों को जीने का सुख-दुःख तो मिला ।"[2]

लेखिका महसूस करती है कि हर वक्त वहाँ खतरा मण्डरा रहा है। दिन के उजाले में भी लगता रहा, कोई घात लगाये बैठा है अभी ट्रिगर दबेगा, एक लाश गिरेगी, खून से लथपथ । किसी की मौत समाचार पत्र में महज एक खबर बनकर रह गयी । वतन से उखडकर जाने की पीड़ा और वापस आने पर चेहरे की रौनक ड्राइवर हमीदुल्लाह के कथन में भी स्पष्ट है "अपनी आबोहवा का असर चेहरे पर भी पड़ता है । उधर मैदानों की हवा चेहरे का

1. चन्द्रकान्ता - अब्बू ने कहा था, पृ. 95
2. वही - पृ. 95

नूर ही छीन लेती है ।"[1] विस्थापित हो जाने पर अपनेपन का एहसास खो जाता है । लेकिन क्या करें जान बचाने और ज़िन्दा रहने के लिए अपना वादी छोड़कर जाने की मज़बूरी है ।

लेखिका और उनकी दोस्त जलकुण्ड के बीच बने मन्दिर में शिव-शक्ति के दर्शन करने जाती हैं । उन्होंने देखा कि कुण्ड के पानी का रंग गहरा गुलाबी है । जैसे गुलाब में रक्त की धोवन मिली हो जैसे ! कबाईली आक्रमण के दिनों, सुना है कुण्ड का रंग काला हो गया था । अगर इसका रंग गुलाबी हो तो यह खुशहाली का सूचक माना जाता है ।लेकिन तब उसमें लाल रंग घुल गया था । रक्त का रंग ! होटल लौटते रास्ते-भर खुद को वे आश्वस्त करते रहे कि जलकुण्ड का रंग गुलाबी है । लेखिका में असीम आस्था का प्रकाश निर्भर है । वे अपने अन्दर उम्मीद की किरण बाँधती हैं - "वे खुद को आश्वस्त करते रहे कि जलकुण्ड का रंग गुलाबी ही था । आतंकवादी माहौल में दोस्त भी दुश्मन बन जाते हैं । निरपराध लोगों की हत्या की जाती हैं । मेन्टल हॉस्पिटल में हादसे की शिकार स्त्रियों के ज़ख्म पर मरहम लगानेवाली नुसरत ने भाई को आतंकवादी समझकर मारा था । नुसरत का कथन है 'मेरा भाई आतंकवादी नहीं था, खुदा गवाह है ! गलत लोगों के शिकंजे में फँस गया । भोला था न ! अपने दोस्त ने ही दुश्मन मान उसको हंलाक कर दिया।"[2] अलग अलग गुटों के आपसी दुश्मनी से वह

1. चन्द्रकान्ता - अब्बू ने कहा था, पृ. 97
2. वही - पृ. 102

मारा गया । दंगों ने कईयों की जान लीं, कइयों का सपना तोड़ा । नुसरत का भाई इंजिनीयरिग कॉलेज में पढ़ता था, बहुत कम उम्र में ही गोली मारकर उसके सपनों को तहस-नहहस कर दिया गया । विदा लेते नुसरत ने भविष्यवाणी की "इंशाअल्लाह आप फिर आएँगी। लेखिका को पता नहीं कि वे दुबारा यहाँ एक मेहमान की तरह आएँगी या इस मिट्टी में जन्मी बेटी की तरह अपने घर-आँगन में? इसका उत्तर समय ही दे सकता है।"[1]

शायद संवाद - इसमें भी कश्मीर के पृष्ठभूमि में हिन्दू-मुस्लिम समस्या को उजागरित किया गया है । कहानी का मुख्य पात्र है नीलकण्ठ सांप्रदायिक उन्माद के माहौल में कोई किसी पर भरोसा नहीं करता । उसका बेटा विशू घर से निकला ही था कि गोली लगी और खून से लथपथ हो मर गया । बेटे के खोने के बावजूद वह अपना जन्म स्थान छोडना नहीं चाहता - "अब अन्त समय दगा दे जाऊँगा अपने पुरखों को? मेरा जन्म यहीं, मरण यहीं, देवता यहीं, मसान यहीं । तुम लोग जाओ ।"[2] विशू की माँ भी अपना बेटा खोने का दुःख झेल नहीं पा रही है । इसलिए वह प्रतीक्षा करती रहती है कि वह आता होगा- "आता होगा विशू । उसे भात गरम करके कौन देगा? तुम लोग तो उसे सूखे अकडे कशड़ें खिलाओगे । आलसी जो हो । बच्चे के प्रति एक माँ की तड़प ही यहाँ व्यंजित है ।"[3]

---

1. चन्द्रकान्ता - अब्बू ने कहा था, पृ. 102
2. वही - पृ. 104
3. वही - पृ. 105

अन्त में अपने बेटे रघुनाथ और तीन बेटियों की सोच में वह जाने को तैयार हो जाती है । नीलकण्ठ तो अपना सब कुछ असीस दोस्त रहमतउल्लाह के भरोसे छोड़कर जाता है । रहमतउल्ला उसे आश्वासन भी देता है "जल्दी लौट आओगे ! अल्लाताला सबका निगेहबान । इधर की फिक्र मत करना । मैं हूँ न ?"[1] बारह साल बाद जब नीलकण्ठ घर लौटता है तो उसे घर की जगह, मलबे का ढेर मिला । उसने सुना कि पीछे से लोगों के घर जला दिये गये हैं, पर नीलकण्ट को रहमतउल्ला पर भरोसा था । उसने जाते वक्त रहमतउल्लाह घर का ख्याल रखने के लिए कहा था । बी.एस एफ के जवानों ने उसे ढुला-ढुलाकर पूछा कि कौन हो और कहाँ से आये हो । नीलकण्ठ ने जवाब दिया कि वह "बारह साल बाद घर लौटा है । सोचा, इधर नयी सरकार बनी है । हालात अब ठीक हो जाएँगे । सरकार बदलने पर भी कोई गुणात्मक परिवर्तन नज़र नहीं आया । कश्मीर के लोग आज़ाद होना चाहते हैं - निस्संदेह कश्मीर के लोगों की यह इच्छा है और वे उसके लिए योग्य भी हैं।"[2] बशर्ते भारत पाकिस्तान और संयुक्त राष्ट्र रंघ यह गारंटी दें कि भारत और पाकिस्तान कश्मीर की आज़ादी को नष्ट करने की कोशिश नहीं करेंगे । जब तक यह संभव नहीं होगा, तब तक कश्मीर में स्थिति शान्त नहीं होगी ।

नीलकण्ठ को 'धीरज' नामक एक लड़का मिलता है जिससे परायी

1. चन्द्रकान्ता - अब्बू ने कहा था, पृ. 108
2. वही - पृ. 109

धरती पर उसे कुछ अपनेपन का एहसास मिलता है । दहशत के माहौल में मानवीयता की लौ को बचाये रखनेवाले 'धीरज' का चित्रण करते हुए लेखिका यह एहसास दिलाती हैं कि मानवीय स्नेह, सद्भाव मिट ! नहीं; अब भी मौजूद है । सन्त योगिनी के वाक्यों में लेखिका का विचार ही प्रकट है -"शिव सर्वत्र व्याप्त है, हिन्दू-मुसलमान में भेद मत करो । नूरुद्दीन वाली ने भी दुहराया था "एक ही पिता की सन्तान हैं हम सब सो भेद-भाव कैसा ? लेकिन अब ? एक जेहादी है दूसरा काफिर !"[1] अब लोगों को उनके धर्म के आधार पर देखा-परखा जाता है । रहमतउल्लाह के घर तलाश्कर जब नीलकण्ठ निकलता है तो वह कहता है कि उसे मिलिटनस से रोज़ धमकियाँ मिलती हैं कि लड़के को उसी ने पट्टी पढ़ा कर जेहाद के खिलाफ कर दिया। उनकी नज़रों में मसूद और उसके पिता दोनों काफिर हो गये है । युवाओं को जेहाद के नाम पर उकसाकर पाकिस्तानी घुसपैठिए अपने इशारों पर बचाते है । कहानी में रहमतउल्लाह के बयान से यह स्पष्ट है- "दोनों लडकों को पाकिस्तानी घुसपैठिए जेहाद के नाम पर फुसला - बहका कर ले गये । हमारी किसी ने न सुनी भाया । कुरान पाक की कसम ! हमारी ज़रा भी मशा न थी कि लड़के सरहद पार, मारकाट की ट्रेनिंग के लिए चले जाएँ। बड़े की तो मानता हूँ, अक्ल मारी गयी थी, पर छोटा तो-रो-रो कर फरियाद करता रहा मुझे छोड़ दो । लेकिन वे नहीं माने। ले गये जैसे जिबह के लिए बकरा ले जाते हैं ।"[2] छह महीने के बाद आतंकवादी बच्चे को घर के

1. चन्द्रकान्ता - अब्बू ने कहा था, पृ. 110
2. वही - पृ. 111

दरवाज़े पर पटककर चले गये । बच्चा पहचान में ही नहीं आया । वह बुखार से तप रहा था । कहानी में सरकार की निरंकुशता पर करारा व्यंग्य किया गया है - "डायलॉग की बात तो सरकार करने लगी है । जेल में बन्द कैदियों को छोड़ा भी जा रहा है । देखो आगे क्या होता है । उधर प्रधानमंत्री जिद पर अड़े हैं, पहले पाकिस्तान लडाई बन्द करे, घुसपैठिए भेजना बन्द कर दे तभी बातचीत हो पाएंगी।"[1]

कश्मीर में जनता की दर्दनाक दास्तान कभी खत्म नहीं होगी । नीलकण्ठ के कथन में यह स्पष्ट है "मगर लड़ाई बन्द कहाँ हुई ?"... जम्मू के रघुनाथ मन्दिर में गोलीबारी...बी.एस.एफ के सेण्टर पर आत्मघाती दस्तों का हमला.. मस्जिद में तीन मिलिटेण्टों का घुसना ।"[2] फिर भी लेखिका ने कहानी में उम्मीद की किरण दर्शायी है । रहमतउल्ला कहता है - "उम्मीद पर दुनिया कायम है भाया!"[3] उम्मीद नहीं है तो जीने की ललक भी मिट जाएंगी । गोलीबारी हमला का सिलसिला अब भी थमा नहीं । बाहर गोलियों की आवाज़ें बराबर आ रही हैं, शायद फिर किसी आत्मधाती दस्ते ने बी.एस.एफ कैंप पर धावा बोल दिया है।

❖ ❖ ❖

1. चन्द्रकान्ता - अब्बू ने कहा था, पृ. 111
2. वही - पृ. 112
3. वही - 113

छठा अध्याय

कहानी के शिल्प पक्ष का अध्ययन

कहानी के शिल्प पक्ष का अध्ययन

हिन्दी कहानी के विकास की मुख्य विभाजन रेखा देश की स्वतन्त्रता हैं । सन् 1940 के आसपास से हिन्दी के समूचे साहित्य एवं वैचारिक क्षेत्र पर पाश्चात्य साहित्य एवं सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ने लगा था । यह प्रभाव सिर्फ वैचारिक स्तर पर सीमित न था । शिल्प पक्ष पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था । इसप्रकार हिन्दी कहानी में भी शिल्पगत विविधता और भाषिक जागरूकता दिखाई देने लगी । यानी कहानी का स्वरूप आज़ादी के साथ तेज़ी से बदलता रहा । कहानी लेखन की उपलब्धियाँ की चर्चा दो आयामों के आधार पर हो सकती है -भाषिक और शैल्पिक । कहानी में भाषा की अपनी अलग भूमिका है । आधुनिक कहानी में इस भूमिका का महत्व और अधिक बढ़ गया है क्योंकि सामाजीक यथार्थ के विभिन्न आयामों की अभिव्यक्ति नई भाषा में शिल्प के ज़रिए ही हो सकती है ।

इसी कारण शिल्प और भाषा के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों का मार्ग प्रशस्त होता है । डॉ. पुष्पपाल सिंह के अनुसार “वस्तुतः शिल्प कथ्य की अन्तः प्रवृत्ति का सहज प्रतिफलन है।”[1] भाषा केवल प्रेषण का माध्यम नहीं है, वह भावों एवं संवेदनाओं को रूप भी देती है । “अर्थात भाषा को भावों की अनुगामिनी न मानकर भावों और संवेदनाओं की प्रकृति का भाषा द्वारा अनुशासित और निर्धारित होना माना जाए।”[2] राजनीतिक कहानियों में भाषा

1. डॉ. पुष्पपाल सिंह - समकालीन हिन्दी कहानी, युग बोध का सन्दर्भ, पृ. 290
2. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी भाषा और संवेदना, पृ. 97

का यह रूप साफ-साफ दिखाई देता है, चाहे 'अमृतसर आ गया है या 'पार्टीशन' 'ज़ख्म' हो या कबीरदास' । इसप्रकार भाषा कहानी में एक वैचारिक माहौल भी पैदा करती है, यही माहौल भाषा की संवेदनशील शक्ति है । इस तरह कहानी में कहीं कहीं उसके कथ्य और भाषा को अलग करके देखना नामुमकिन होता है । "भाषिक संवेदना से आशय है भाषा के सटीक प्रयोग की । भाषा स्वयं में इतनी समर्थ लगे कि वह कहानी की मूल संवेदना के समानान्तर प्रभाव उत्पन्न करती चली जाय।"[1] कहानी में भाषा की अपेक्षा अनुभव मुख्य है । कहानी को और भी गहन संवेद्य बनाने के लिए अनुभव खुद-व-खुद भाषा को लेकर आता है । "आज कहानी की भाषा अपनी सरलता, सहजता और अनगढ़ता में ही नयी अर्थ छवियाँ भरती है । जिसप्रकार कहानी आज जीवन के अत्यधिक निकट है उसीप्रकार कहानी भाषा भी जीवन की निकटता में ही अपना साहित्यिक अभिजात्य स्थापित कर रकी है।"[2] आज कहानी की भाषा में जो जीवन धर्मी गंध-अनुभूत होती है, उसका रहस्य कहानी द्वारा यथार्थ को पूर्ण रूप से अपनाने में है । इस सन्दर्भ में लेखक को भाषा एवं शब्दों को संवारना पडता है जिससे उसकी दक्षता बढ़ जाय । इसके बारे में कमलेश्वर का मत ध्यान देने योग्य है "हर लेखक को भाषा की खोज करनी पड़ती है, क्योंकि आदमी के अन्दर और बाहर जो खामोशी है और उसके अन्दर और बाहर जो शोर है वह हर समय

1. बटरोही - कहानी संवाद का तीसरा आयाम, पृ. 176-177
2. डॉ. पुष्पपाल सिंह - समकालीन हिन्दी कहानी, युग बोध का सन्दर्भ, पृ. 261

एक सा नहीं होता और उसी को कथाकार शब्द देता है।"[1]

कृष्णा सोबती की कहानियों में पात्रों के संवादों के माध्यम से मानवीय संवेदना को प्रस्तुत किया गया है । लेखिका एक विशेष संवेदना को जिस केन्द्र पात्र के द्वारा व्यक्त करती है, उसकी विरोधी संवेदना से जुड़ा हुआ पात्र भी उतनी ही पाठकीय सहानुभूति अर्जित कर लेता है, जितना कि कहानी का केन्द्र पात्र । जीवन स्थितियों की यह तटस्थ और सहज प्रस्तुति पाठकों को गहराई से प्रभावित करती है । मोहन राकेश, स्वयं प्रकाश, नीलाक्षी सिंह, अखिलेश आदि अनेक कहानीकारों ने भाषा की संवेदनात्मक प्रयोग सफल ढंग से किया है । "आज शाहजी क्या, कोई भी कुछ नहीं कर सकता । यह होके रहेगा-क्यों न हो? हमारे ही भाई-बंदों से सूद ले-लेकर शाहजी सोने की बोरियाँ तोल करते थे । प्रतिहिंसा की आग शेरे की आँखों में उतर आयी । गँडासे की याद आ गयी । ... और फिर लालटेन की रोशनी में देखता था, शाहनी के ममता - भरे हाथ दूध का कटोरा थामे हुए 'शेरे, शेरे उठ पी ले, शेरे ने शाहनी के झुर्रियाँ पड़े मुँह की ओर देखा तो शाहनी धीरे धीरे से मुस्कुरा रही थी । शेरा विचलित हो गया - 'आखिर शाहनी ने क्या बिगाड़ा है हमारा? शाहजी की बात शाहजी के साथ गयी, वह शाहनी को ज़रूर बचाएगा । लेकिन कल रातवाला मशवरा । वह कैसे मान गया था फिरोज़ की बात ? सब कुछ ठीक हो जाएगा । सामान बांट लिया जाएगा। "शाहनी चलो तुम्हें घर तक छोड़ आऊँ।"[2] स्वार्थ भरा प्रतिशोध और

1. कमलेश्वर - नई कहानी की भूमिका, पृ. 167
2. कृष्णा सोबती - बादलों के घेरे, पृ. 124

मानवीय करुणा को साथ रखकर मनुष्य के अंतर्द्वन्द्व को कहाँ तक संप्रेषित कर सकता है, इसका उदाहरण ही कृष्णा सोबती प्रस्तुत करती है । एक अन्य कहानी डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करुँगा' में लेखिका मानवीय त्रासदी को निर्मम ढंग से व्यक्त करने का प्रयास करती है, जहाँ भाषा और भी सशक्त हो जाती है । "एक सुनसान दुपहरी में कैंप के सामने कुछ लारियाँ आ खड़ी हुई । बच्चे, बूढ़े, घायल उतर रहे हैं । भूख से और प्यास से विकल । गिरते-पड़ते लेकिन इस पिछड़ी सीट पर...? एक निर्जीव युवक... पथरायी आँखें सूखे बाल और नीले अधर... ड्राइवर ने हमदर्दी के गीले स्वर में उस बेजान शरीर को झकझोर कर कहा "उठो भाई अपना वतन आ गया... वतन! ओठ फड़फड़ाये - दो सोयी-सोयी भरी हुई बाँहें उठी, ओठ फड़फड़ाये -' 'डरो मत मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा...' आवाज़ मौत की खामोशी में खो गयी । पथराई हुई आँखों की पलकें जड़ हो गयीं वतन की यात्रा खत्म हो गयी और रक्षा करनेवाली बाँह हमेशा के लिए स्थिर हो गयी ।"[1]

दंगाइयों के चरित्र के उतार चढ़ाव और उसके असली रूप को अभिव्यक्त करने में 'मलबे का मालिक' के कहानीकार मोहन राकेश सफल हुए हैं । मानवीय संवेदना को यह भाषा पूर्णतया मुखरित करती है, जिससे कहानी के चरित्र ही नहीं, सांप्रदायिक दंगे के साथ तत्कालीन मनुष्य की संबन्ध हीनता को भी व्यक्त करती है । भाषा यहाँ मानवीय संवेदना का इतिहास लिख रही है । "ऐसे ही है" रक्खे को स्वयं लगा कि उसकी आवाज़

1. कृष्णा सोबती - बादलों के घेरे, पृ. 106

में एक अस्वाभाविक सी गूँज है । उसके होंठ गाढ़े लाट से चिपक गये थे। मूँछों के बीच से, पसीना उसके होंठों पर आ रहा था । उसे माथे पर किसी चीज़ का दवाब महसूस हो रहा था और उसकी रीढ़ की हड्डी सहारा चाह रही थी।"[1]

स्वयंप्रकाश यथार्थवादी भाषा के पक्षधर हैं । वे अपनी भाषा के द्वारा बहुसंख्यक सांप्रदायिकता से दम घुटते मनुष्य के असली जीवन को उनकी परेशानियों के साथ व्यक्त करते हैं- "पाकिस्तान चले जाते... तो लाख गुरबत बर्दाश्त कर लेते.. कम से कम ऐसी ओछी बात तो नहीं सुननी पड़ती । हैफ है । धिक्कार है । लानत है ऐसे ज़िन्दगी पर । अल्लाह । या अल्लाह।"[2] सांप्रदायिक ताकतें मनुष्य होने की गरिमा को बनाये रखने नहीं देती हैं । जहाँ मनुष्यता मुख्य नहीं होती स्वार्थता मुख्य भूमिका निभा रही है, वहाँ जीना मुमकिन नहीं है । उसी का और एक चित्र स्वयंप्रकाश ने 'रशीद का पाजामा' में खींचा है । "आ रहा हूँ', रशीद मरी-सी आवाज़ में बोला । इस पर सबको, गुस्सा आ गया और उसे डाँटते-बकने लगे । आखिर रशीद पाजामा पहनकर उसे दोनों हाथों से पकड़े-पकड़े ही बाहर निकला और किसी को कोई सफाई नहीं दे सका और लेटरीन में उसे उतारकर मैली पतलून पहन आया ।... उसे बताना पड़ा कि पाजामे का नाड़ा नेफे के भीतर घुस गया था । बाकी सारे लड़के एक साथ हँस पड़े । तब स्नेहलता भी ज़रा

1. सं. विजय देव झारी नफीस अफरीदी - मुस्लिम परिवेश की विशिष्ट कहानियाँ - पृ. 65
2. स्वयं प्रकाश - आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 40

भी सुन्दर नहीं लग रही थी । नंदकिशोर चिल्लाकर बोला, 'पाजामा। साले पाजामे । तू टॉवेल लपेटकर बाहर नहीं निकल सकता था ।"[1] स्वयंप्रकाश के समान नीलाक्षी सिंह भी भय से सन्त्रस्त अल्पसंख्यकों की ज़िन्दगी की कारुणिक स्थिति की बहुत कम शब्दों में अभिव्यक्ति दी है । उनकी कहानी परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ में "पाकर नहीं.. खोकर । वह खौफ... जो मुझे इंसान की तरह जीने नहीं देता था । हमेशा एक, औरत... एक मुसलमान बना डालने की धौंस देता था... उस खौफ को खोकर अब लौटना होगा।"[2] इस तरह शब्दों के ज़रिए पात्रों की कारुणिक स्थिति अद्विग्नता संत्रस्त अवस्था, पीड़ा के साथ सांप्रदायिक ताकतों की कूट राजनीति, स्वार्थपरता एवं कुटिलता की भी अभिव्यक्ति मिलती है ।

स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में परिवेश के प्रति आत्मनिष्ठ रुझानों और वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं की भरमार है । अधिकार कहानियों में करुणा और पीड़ा के मनोभावों और मनोदशाओं की अभिव्यक्ति हुई हैं । रचनाकार तत्कालीन स्थितियों और समस्याओं को एक निजी और अंतरंग दृष्टिकोण से संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करते है, यह संवेदना पाठकों तक ले जाने में भाषा ही सबके कारगर ज़रिया बनी है

भाषा की शक्ति

आज कहानी की भाषा जीवन के अत्यधिक निकट है । उसे

1. स्वयं प्रकाश - आदमी जात का आदमी, पृ. 38
2. नीलाक्ष सिंह - परिंदो का इंतज़ार - सा कुछ, पृ. 198

नुकीली बना दी गई है कि मात्र एक स्थिति नहीं स्थिति की विसंगतियों का बोध भी उससे होने लगता है । कहानी में शब्द चयन और वाक्य विन्यास केवल एक स्थिति को ही नहीं पूरे समसामयिक सन्दर्भ को भी उजागर कर देते हैं । कहानीकार सामान्य से शब्दों को हेर-फेर करके एक नयी शक्ति उसमें भर देते है । भाषा को अद्‌भुत शक्ति प्रदान कर उसकी कथ्य-क्षमता और संप्रेषणीयता का भरपूर विकास किया जाता है । सामाजिक यथार्थ के रूप में कहानी जीवन की किसी एक संवेदना की संपूर्ण अभिव्यक्ति है । वर्तमान कहानीकारों में यथार्थ संदर्भों और स्थितियों को अभिव्यक्त करने की भरपूर क्षमता है । 'मलबे का मालिक', या 'परमात्मा का कुत्ता' को लेकर आज तक की कई कहानियों में संदर्भानुकूल और पात्रानुकूल भाषा को ही नहीं परिवेश के अनुकूल भी भाषा शैली प्रयुक्त हुई है । यथार्थ स्थितियों की अभिव्यंजना में छोटे-छोटे वाक्य, सरल-सपाट शैली और रंगहीन, किन्तु अर्थगर्भित शब्दों का प्रयोग करने में भी रचनाकार कुशल दिखाई देते है । छोटे वाक्य, चुस्त शब्द और व्यंजक शैली का मिला-जुला रूप स्वातंत्र्योत्तर कहानी की विशिष्टता के द्योतक है । हिन्दी कथा भाषा के जीवन धर्मी स्वभाव ने भाषा की अनेक अर्थ-क्षमताओं को उद्‌घाटित कर हिन्दी गद्य को नया रंग और रस प्रदान किया है । कभी-कभी कम शब्दों में कई अर्थतलों के संग्रह करने में भी कथा भाषा सक्षम हो रही है ।

भाषा एवं शब्दों के प्रयोग में मोहन राकेश, भीष्म साहनी, कृष्णा

सोबती, "स्वयंप्रकाश, असगर वजाहत, नीलाक्षी सिंह, हरिओम, वंदना राग, कैलाश वनवासी, गीतांजली श्री, आदि के नाम उल्लेखनीय है । कम शब्दों में बहुआयामी अर्थतलों को द्योतित करने में उनकी भाषा सक्षम है । स्वयंप्रकाश की 'पार्टीशन' कहानी देखिए । छोटे छोटे वाक्यों के ज़रिए उन्होंने तत्कालीन मानवीय संवेदना एवं सांप्रदायिकता को ही नहीं, बल्कि इस प्रवृत्ति के लंबे इतिहास एवं भविष्य को भी व्यक्त करने का प्रयास किया है। "आप क्या खाक् हिस्ट्री पढ़ाते है ? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था । हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है... और मुझे देखते ही चुप होकर काम में लग गए।"[1]

प्रकृति के बदलाव के चित्रण के ज़रिए विष्णु प्रभाकर, कृष्णा सोबती, मोहन राकेश, भीष्म साहनी आदि ने सांप्रदायिक आतंक एवं उसकी भयावहना को अभिव्यक्त किया है । कभी-कभी समर्थ भाषा प्रयागों के द्वारा पात्रों की मनःस्थिति की एक-एक परत को उसके परिवेश के साथ उघाडे जाते हैं । चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'मास्टर साहब' में इसप्रकार की भाषा का प्रयोग है "प्रभात की लाली आसमान पर दिखाई देने लगी ही थी कि मास्टर साहब की नींद टूट गयी । सहसा उन्होंने पाया कि वातावरण अभी तक एकदम नीरव है । यहाँ, तक कि चिड़ियों की चहचहाहट भी उन्होंने सुनाई नहीं, दी, मास्टर साहब, उठ खड़े हुए और तेज़ी से गाँव की ओर चल पड़े । .. राह के किसानों के चेहरे ज़रूर गंभीर थे, परंतु मास्टर साहब से किसी ने कुछ भी नहीं कहा ।.. मास्टर, साहब की चाल और भी तेज़ हो

1. स्वयं प्रकाश - आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 42

गयी। बूढ़ा मास्टर प्रार्थना करने लगा और चाहे जो कुछ हो, यह अग्निकांड उसके गाँव में न हुआ हो । मगर यह तो स्पष्ट ही है कि उनका गाँव जलकर भस्म हो जाय, उनके गाँव के सभी निवासी ही सलामत बच जायें । मास्टर साहब दौड़ने लगे ।.. प्रार्थना की माँग और भी कम कर दी - चाहे कितने ही लोग कत्ल भी क्यों न हो जायें, उनके गाँव की किसी लड़की का अपमान न होने पाये।"[1] भाषा पात्र के मानसिक परिवर्तन को, परिवेश के तनाव को भी समग्रता के साथ व्यक्त करती है । आतंकित पात्र के मनोभावों के अनुसार एक अस्तव्यस्त विन्यास भी कथा भाषा की शक्ति को व्यक्त करता है । विष्णु प्रभाकर की कहानी 'मेरा वतन' में इस तरह का भाषा प्रयोग है - "मिस्टर पुरी ने एक बार फिर आँखें खोलीं । वे धीमे स्वर में फुसफुसाये, मैं यहाँ क्यों आया ? मैं यहाँ से जा ही कहाँ सकता हूँ?"[2] यह मेरा वतन है हसन! मेरा वतन... इस तरह के कई उदाहरण पुरानी पीढ़ी की कहानियों में देख सकते हैं । एकदम समकालीन कथाकारों की भाषा भी इससे मिलती जुलती है । हरिओम की कहानी 'ये धुआँ धुआँ अँधेरा' की पक्तियाँ देखिए "कामरेड । चुप्पी को चीखते हुए सुना है कभी ? नहीं सुना तो आज-रात यहाँ रुक कर सुन लो । दिन में अधूरी दिखनेवाली ये दास्तान पूरी-की-पूरी समझ में आ जाएगी।"[3] हरिओम, कैलाश वनवासी जैसे युवा कहानीकार भी भाषा-प्रयोग में माहिर हैं । स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के समान समकालीन कहानी

1. चन्द्रगुप्त विधालंकर - मास्टर साहब, पृ. 270
2. विष्णु प्रभाकर - इक्यावन कहानियाँ, पृ. 148
3. हरिओम - ये धुआँ अँधेरा, नया ज्ञानोदय, पृ. 49

भी संकेतों की कहानी है । इसलिए बहुत कम कहानीकार ही विवरण देते हैं, अधिकांश कहानीकार अर्ध वाक्यों, प्रश्नचिह्नों, विरामों-अर्धविरामों से भाषा' को ताकतवार बनाते हैं ।

अब्दुल बिसमिल्लाह की भाषा उनके कथ्य और उसके निर्वाह की भाँति सीधी सरल है । उसमें उर्दू शब्दों की स्वाभाविक रूप में से बहुलता है । उर्दू के अतिरिक्त अंग्रेज़ी के प्रचलित शब्दों का भी सहज प्रयोग मिलता है ।

धर्म एवं भाषा का संबन्ध

भाषा को धर्म से जोड़कर अपनाने की प्रवृत्ति आज चारों ओर बढ़ रही है । इसके साथ व्यक्ति का धर्म भी स्पष्ट होता है । यह प्रवृत्ति धर्मनिरपेक्ष वातावरण के लिए हितकर नहीं है । यह असल में दोहरे विभाजन का हेतु बन जाती है । इसे इसकी संकीर्णता के साथ व्यक्त करने के लिए लेखक कथा भाषा में ध्यान देते आ रहे हैं । पात्रों के नाम, वार्तालाप आदि धर्म और प्रांत के अनुसार बदल दिए जाते हैं । पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग से बढकर समाजिक जीवन के यथार्थ तनाव को सहज ढंग से प्रस्तुत करने में लेखक सफल होते हैं । कभी कभी रचनाकार हिन्दी-उर्दू के मिश्रित प्रयोग भी करते हैं, जिससे सेकुलर माहौल रचा सकें । इसप्रकार पाठकों के सामने एक ऐसी मिसाल भी पेश करते हैं, जिसे गंगा -जमुनी शैली कहते हैं । इसका मकसद

यह है कि भाषा में भी एक मिली-जुली संस्कृति का भाव उभर आए जिससे धर्मनिरपेक्ष चरित्र को और बढ़ा सकें । धर्म और भाषा की समस्या भारत में ही नहीं विश्व के अन्य देशों में भी है । मोहनदास साही के मंत में"…. यह मामला तेज़ी से कुछ अन्य समस्याओं की तरह सांप्रदायिक समस्या में तब्दील होकर विगड़ता जा रहा है । प्रांतीय ईर्ष्या और सांप्रदायिक जुनून को अनावश्यक रूप से बढ़ावा दिया जा रहा है । जिन लोगों को विद्वत्ता, "भाषा-प्रेम और साहित्य प्रेम से कोई लेना-देना नहीं है, वे इस कलह में अनावश्यक रुचि ले रहे है पर जिन्हें भाषा शब्द योग, संगीत और ताल के कारण संस्कृति की प्रतिमूर्ति के समान प्रिय है, घृणावश खुद को इस विवाद से दूर रखते हैं।"[1] स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान की प्रेमचंद और उग्र की भाषा विशेष गौर करने योग्य है । दोनों की भाषा पात्रानुकूलता से बढ़कर जनभाषा है, जिससे धर्म की बू नहीं आती है । उसी वक्त सांप्रदायिक शक्तियों ने इसका विरोध किया था । प्रेमचंद ने उन्हें उचित जवाब देने का प्रयास भी किया था। सांप्रदायिक ताकतों के अनुसार धर्म के अनुसार भाषा का प्रयोग करना चाहिए । तब से वे सेकुलर भाषा का विरोध करते आ रहे हैं । 'जहूरबरव्श' का प्रसंग इसका सही उदाहरण है । जहूरबख्श हिन्दी में, देवनागरी में लिख रहे थे, उसी कारण उनकी हत्या सांप्रदायिक ताकतों ने की थी । कहानीकार ने भी यह बात बतायी है । सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों ने हिन्दी में साहित्य कार्य करते जहूरबरव्श पर धावा बोल दिया "म्लेच्छ ! हिन्दी में लिखता है । यही

1. डॉ. शंभूनाथ - सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़, पृ. 273

वाक्य जहूरबख्श के कानों में पड़ा और और उसकी चेतना जड़ हो गयी।"[1] यहाँ न केवल जहूरबख्श की चेतना जड़ हो गयी है साथ-ही-साथ भारत की साझी सांस्कृतिक मूल्यों की चेतना भी जड़ हो गई है । "निस्सन्देह सभी धर्मों के लोगों ने क्षेत्र विस्तार के अपने भौतिक तथा लौकिक लक्ष्यों के लिए धर्म की भाषा और आवरण का प्रयोग किया है।"[2] आज भाषा के आधार पर भी धर्म को समझने या समझाने का प्रयास हो रहा है । उग्र जी की कहानी 'खुदाराम' में इसका ज़िक्र इसप्रकार किया है - "भाई इनायत बड़ी शुद्ध हिन्दी बोलते हो जी हाँ, शर्मा जी, मैं बहुत शुद्ध हिन्दी बोल सकता हूँ, इसका कारण यही है कि मेरी नसों में बहुत शुद्ध हिन्दू रक्त बह रहा है ।"[3] समकालीन कहानीकार अखिलेश ने इसका ज़िक्र इसप्रकार किया है कि "ऐं तुम तो उर्दू शब्दों का बहुत प्रयोग कर रही है।"[4] असगर वजाहत की कहानी 'गुरु-चेल संवाद' में भी धर्म को भाषा के साथ जोड़ने की प्रक्रिया को व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है ।

गुरु : चेला, हिन्दू - मुसलमान एक साथ नहीं रह सकता।...

गुरु : उनकी भाषा अलग है ... हमारी अलग है ।

चेला : क्या हिन्दी, कश्मीरी, गुजराती मराठी, मलयालम, तमिल, तेलुंगु, उड़िया, बंगाली आदि भाषाएँ मुसलमान नहीं बोलते... वे सिर्फ उर्दू

1. भीष्ण साहनी - निशाचर, पृ. 125
2. राम पुनियानी- सांप्रदायिक राष्ट्रवाद तथ्य एवं मिथस, पृ. 235
3. जैनेन्द्र कुमार - तेई हिन्दी कहानियाँ, पृ. 123
4. अखिलेश - अँधेरा, पृ. 164

बोलते हैं ?

गुरु : भाषा का अंतर नहीं है....

धर्म का अंतर है ।"[1] इसके विपरीत धर्मनिरपक्षता का संबन्ध किसी धर्म संप्रदाय से नहीं, सभी धर्मावलंबियों से हो सकता है, इसकी सूचना देने के लिए रचनाकार ने अपने पात्र को किसी धर्म विशेष के साथ न जोड़ने का प्रयास भी किया है । प्रियंवद (लाल गोदाम का भूत) का अगनू, सुशांत सुप्रिय (कबीरदास) का कबीरदास, कृष्णा सोबती की कहानी (डरो मत मैं तुम्हारी रक्षा करुँगा) का युवक आदि इसके उदाहरण हैं। कृष्णा सोबती की कहानी 'डरो मत मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' की भाषा की विशेषता यह है कि कहानी के पात्रों को पुरुष-स्त्री, हिन्दू-मुसलमान, या देशी - विदेशी जैसे वर्गों में नहीं बांटा गया है । वे सिर्फ आदमी हैं और उनका संघर्ष आदमियत के सनातन घरातलों के साथ जुड़ा हुआ है । अवश्य वे पात्र बाहर से पुरुष या स्त्री भी दिखाई देते है । मगर कथाकार का ध्यान उनके इस वर्गीकृत रूप के प्रति है ही नहीं। 'सिक्का बदल गया' विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी बहुचर्चित कहानी है । यह कहानी शाहनी के अत्यंत सामान्य प्रतिक्रिया के साथ ही समाप्त हो जाती है । जिस सिक्के ने दो देशों को, दो धर्मों को आपस में बांट दिया था, शाहनी उस सिक्के के बारे में सोचती हुई कहती है 'राज पलट गया है... सिक्का क्या बदलेगा ? वह तो मैं वही छोड़ आयी..।"[2] अविभाजित भारत के सामान्य व्यक्ति चरित्र का सहज-मार्मिक

1. असगर वजाहत - मैं हिन्दू हूँ, पृ. 101
2. कृष्णा सोबती - बादलों के घेरे, पृ. 128

चित्र कहानी में है । शाहनी न हिन्दू है, न मुसलमान । हिन्दू की वह पत्नी है और मुसलमान उसके बेटे हैं एक ही सिक्के के दो पहलू । इन कहानयों की पृष्ठभूमि सांप्रदायिक हो लेकिन इनके माध्यम से दो देशों या धर्मों के इतिहास को नहीं, बल्कि आदमी के सनातन चरित्र को रेखांकित किया गया है ।

संकेत

नए समय और नयी समस्याओं को व्यक्त करने के लिए नए प्रयोगों की ज़रूरत है । आज कहानी का मकसद केवल मनोरंजन प्रदान करना मात्र नहीं है । बल्कि लोगों को अपने समय और समस्याओं के प्रति जागरूक करना भी है । कहानी एक ऐसी विधा है जो बहुआयामी स्तर पर सुझावात्मक संकेत देती है और एक ही कहानी अनेक पाठकों को अलग-अलग स्तरों पर प्रभावित तथा संवेदित कर सकती है । आधुनिक युग के बहुस्तरीय यथार्थ को प्रस्तुत करने में संकेतों द्वारा कथ्य की प्रस्तुति बहुत प्रभावी हो सकता है - "सांकेतिकता कथाकार के व्यक्ति मन और परिवेश को भी अच्छी तरह व्यक्त करती है । इसके नियोजन केलिए कथानक चरित्र, संवेदना वातावरण के अतः संबंधों की जानकारी आवश्यक है।"[1] नयी कहानी की सांकेतिकता के बारे में नामवर सिंह ने जो कहा है, परवर्ती कहानी के लिए भी वह लागू है ही । नयी कहानी का समूचा रूप गठन (स्ट्रेक्चर) और शब्द गठन

1. डॉ. पांडेय शशिभूषण शितांशु - नई कहानी के विविध प्रयोग, पृ. 142

(टेक्चर) की सांकेतिक है ।"[1] कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' को ही देखिए- "उछल उछल आते पानी के भँवरों से टकराकर कगारे गिर रहे थे, लेकिन दूर-दूर तक बिछी रेत आज न जाने क्यों खामोश लगती थी।"[2] यहाँ लेखिका ने कहानी के आरंभ में कुछ संकेतों द्वारा आनेवाली भीषणता की ओर इशारा किया है । इसके अलावा बीच-बीच में ऐसे संकेतों का प्रयोग लेखिका ने किया है जिससे कहानी का शिल्प ही नहीं, कथ्य भी मुखर होते हैं । "शाहनी ने कपडे पहने, इधर-उधर देखा कहीं किसी की परछाई तक न थी । पर नीचे रेत में अगणित पावों के निशान थे । वह कुछ सहम - सी उठी।"[3]

सांकेतिकता के विभिन्न स्तरों का विकास कहानी की विशेष उपलब्धि है । हर उत्तम कहानी की यह अनिवार्य विशेषता है । स्वातन्त्र्योत्तर और समकालीन की अनेक कहानियों में इस तत्व का प्रयोग गहन स्तरों पर हुआ है । अमरकान्त, चन्द्रकान्ता, हरिओम, नीलाक्षी सिंह आदि की कहानियों में साकेतिकता एक उपलब्धि बनकर आयी है जो लेखक के गहन जीवनबोध उसकी अर्थवान भाषा और पूरे परिवेश के भीतर उसकी दृष्टि की निजता आदि को व्यक्त करती है । 'मौत का नगर' का संकेत देखिए - "उसने कौए की भाँति सिर घुमाकर शंका से दोनों ओर देखा । ऊपर आकाश एक स्वच्छ

---

1. नामवर सिंह- नयी कहानी, पृ. 36
2. कृष्णा सोबती - बादलों के घेरे, पृ. 122
3. कृष्णा सोबती - बादलों के घेरे, पृ. 122

नीले तंबू की तरह तना था । सामने पार्क में तथा मकानों और वृक्षों के शिखरों पर एक सुहावनी धूप फैली थी । इस समय तक सारा मुहल्ला एक मीठे शोरगुल से गूँजने और चहचहाने लगता था।"[1] चन्द्रकान्ता की काली बर्फ' में भी इस कलातत्व की सफलता देखी जा सकती है । "हुआ यों कि जाडों की एक सुबह, सोनमार्ग की पहाड़ियाँ चढ़ते कुछ पहाड़ी गड़रियों ने रात गिरी बर्फ पर पैर रखा तो डर से पत्थर हो गए । आँखें फाडकर चौतरफ नज़रे दौड़ाई, पहाड तो पहाड, चीड़, देवदार और चिनार की ठूँठ डालिया भी स्याह बर्फ की परत से ढक गई थीं । जी हाँ । अनहोनी होकर रह गई थी । काली बर्फ ने पूरी वादी को अपने लपेट में ले लिया था। प्रलय की संभावना सूंध लोग बदहवास हो गए, 'हे शंभो रक्षा कर ! या अल्लाह ! खैर कर।"[2] संकेतों द्वारा कथ्य की प्रस्तुति स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों की विशेषता है । आज के बहुआयामी यथार्थ के नए-नए पहलुओं को उभारने और उसके अन्दर जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों को पिरोने में संकेतों की भूमिका महत्वपूर्ण हैं ।

बिंब

भाषा की कलात्मकता शिल्प की कसावट और बिंबों का वैभव स्वातन्त्र्योत्तर कहानी की विशेषताएँ हैं । आज की कहानियों की भाषा अत्यंत भाव प्रवण है । कहानी की भाषा में मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए

1. अमरकांत - चर्चित कहानियाँ, पृ. 30
2. चन्द्रकांता - चर्चित कहानियां, पृ. 123

प्रतीकों तथा बिंबों का आश्रय लेकर शब्दों की अर्थ छवि का विस्तार किया गया है । मन के अन्दर झाँकने की कला में वे सिद्धहस्त हैं । बिंब अंग्रेज़ी के 'इमेज' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है । "लेविस बिंब को शब्द निर्मित चित्र मानते है।"[1] बिंब के बारे में बच्चन सिंह का मत है कि "बिंब योजना विभाग के अंतर्गत होती है, चित्रण उसका मुख्य धर्म है । इसकी दूसरी विशेषता संश्लिष्ट रूप विधान है । बिंब व्यक्ति या विशेष का होगा, सामान्य या जाति का नही।"[2] बिंबों के द्वारा लेखक अपनी कृति को विविधेता एवं व्यापकता प्रदान करता है । उनके प्रयोग द्वारा लेखक अपने विषय को स्पष्ट करता है व्यक्तियों और पदार्थो को जोड़ता हैं । मोहन राकेश की कहानियाँ मलबे का मालिक', क्लेम' परमात्मा का कुत्ता' आदि में बिंबों का सफल प्रयोग है । विभाजन की भयानकता, मोहभंग इत्यादी के बाद पुनःजीवन अंकुरित होने लगा । मनुष्य सांप्रदायिक उन्माद से मुक्त होने लगे पुनः मनुष्यता से एक दूसरे को देखने समझने लगे । इसे मोहन राकेश ने बिंब के ज़रिए 'मलबे का मालिक में' यों व्यक्त किया है । जैसे - "अब साढे सात साल में उनमें से कई इमारतें फिर खड़ी हो गयी थीं । मगर जगह जगह मलबे के ढेर एक अजीब वातावरण प्रस्तुत करते थे।"[3] 'क्लेम' कहानी में तांगेवाले के सुन्दर, एवं हरी भरी ज़िन्दगी का चित्र यादों के ज़रिए व्यक्त किया गया है, जो सिर्फ प्रकृति का नहीं है- "उसका मन उस समय उस आम के पेड़ की

---

1. बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी कहानी के बीज शब्द, पृ. 76
2. बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, पृ. 77
3. सं. विजय देव झारी - मुस्लिम परिवेश की विषिष्ट - कहानियाँ, पृ. 66

डालों में मँडरा रहा था, जो उसने बड़े चाव से अपने पत्तोकी को घर के आँगन में लगाया था । नौ रुपये महीने का वह घर बरसों के परिचय के कारण अपना घर ही लगता था । कई बार हीरा ने कहा था कि पराये घर में पेड़ लगा रहे हो, इसकी पालना करके दूसरों के लिए छोड़ जाओगे।.. आम का पेड़ इन दिनों खूब फल दे रहा होगा ।... और हीरा? उस साल पेड़ पर पहली बार फल आया था । फल आने की खुशी में उसने जाने कितनी कच्ची अमियाँ खा डाली थीं ।... आम हरे से पीले और पीले से सुर्ख हो आए थे, जब बलवा शुरु हुआ।"[1] 'परमात्मा का कुत्ता' का प्रारंभ ही बिंब प्रधान भाषा शैली में किया गया है । उसने सरकारी दफतरों के बाहर के परिवेश और तत्संबन्धित व्यक्तयों का यह बिंब "बहुत से लोग वहाँ वहाँ सिर लटकाए बैठे थे, जैसे किसी का मातम करने आए हो । लोग अपनी पोटलियाँ खोलकर खाना खा रहे थे । दो एक व्यक्ति पगड़ियाँ सिर के नीचे रखकर कम्पाउंड के बाहर सड़क के किनारे बिखर गए थे । छोले-कुचले वाले का रोज़गार गरम था । उसके माथे से बहकर पसीना उसके होठों पर आ रहा था, लेकिन उसे पोंछने की फुरसत नहीं थी।"[2] कहानी का अंत बिंब से होता है । मुख्य पात्र दफ्तर के बाबुओं को भला-बुरा कहकर उनके बेईमानी का पर्दाफाश करके विजय हासिल करता है, और विजयी की मानसिकता और गर्व का चित्रण बिंबों के ज़रिए यों किया गया है - "उसकी भौजाई दोनों बच्चों के साथ गेट

---

1. मोहन राकेश - जानवर और जानवर, पृ. 117
2. सं. मार्कण्डेय - हिन्दी के प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 67

के पास खड़ी इंतज़ार कर रही थी । लड़के और लडकी के कंधों पर हाथ रखे हुए वह सचमुच वादशाह, की तरह सड़क पर चलने लगा ।"[1] मोहन राकेश की बिंबोत्भावना की यह क्षमता प्रकृति की अछूती छवियों पर पात्र की मानसिक स्थिति परिस्थिति आदि को उभारती है ।

कृष्णा सोबती ने प्रधान बिंबों का प्रयोग 'मेरी माँ कहाँ' में किया है "चाँद नीचे उतरता जा रहा है, दूध सी चाँदनी नीली पड़ गयी है । शायद पृथ्वी का रक्त ऊपर विष बनकर फैल गया है।"[2] सिक्का बदल गया' का प्रारंभ भी बिंब प्रधान है । इससे पात्र के वेश-भूषा, विभिन्न चेष्टाओं और मनोभावों का बोध होता है । पौ फटने के पहले रोज़ की भाँति नहाने उतरती शाहनी किनारे के बदलाव पर नज़र डालती है, अस्वाभाविकता उसके मन को घेरती है । सुनसान रेत के चित्रण के ज़रिए चारों ओर घुमडते अनिष्टों को व्यक्त करती है । "उछल-उछल आते पानी के भँवरों से टकराकर कगोर गिर रहे थे, लेकिन दूर-दूर, तक बिछी रेत आज न जाने क्यों खामोश लगती थी । शाहनी ने कपड़े पहने, इधर-उधर देखा, कहीं किसी की परछाई तक न थी । पर नीचे रेत में अगणित पाँव के निशान थे । वह कुछ सहम सी उठी।"[3]

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'मासटर साहब' में उपमा प्रधान बिंब है । इससे वे पात्र की मनोदशा और वातावरण की सृष्टि करते हैं

1. सं. मार्कण्डेय - हिन्दी के प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 73
2. कृष्णा सोबती - बादलों के घेरे, पृ. 170
3. वही - पृ. 122

"ओह, मेरे भगवान! यह सब क्या सच है।' तुलसी के उस झाड़ के नीचे नन्हें सत्तों और नन्हें प्रकाश के क्षत-विक्षत निष्प्राण देह पड़े हैं, मानों अनजान शिशु डरकर माँ तुलसी की गोद में आसरा पाने आये हों । उधर चबूतरे पर माँ-बेटी मास्टर साहब की जीवन संगिनी अपनी बड़ी लड़की से चिपककर - पड रही है निष्प्राण निस्पंद । क्षण भर के लिए मास्टर साहब को, प्रतीत हुआ , जैसे वे स्वयं निष्प्राण हो गये हैं उनके हृदय की संपूर्ण अनुभूति होकर निष्क्रिय बन गयी है ।"[1]

पुरानी पीढी के कहानीकार के समान समकालीन कहानीकार भी बिंब योजना में सफल निकले है । उदाहरण के लिए प्रियंवद की कहानी 'लाल गोदाम की भूत' को देखिए- "मुझे तिलस्मी लगता । डूबते सूरज की लाली भी अहाते में आती थी । दूसरी तरफ से दीवार की उखड़ी ईंटों के बीच की दरारों पर... उनके बीच उसी घास पर और खाली के ढेर से उतरती हुई । लाल गोदाम की छत से देखने पर वह उतरती हुई छूप बहुत साफ तरीके से दिखती । यतीम खाना... कोतवाली.. घंटाघर... चर्च पर एक सुनहरे कपड़े की तरह... जाली की तरह धीरे-धीरे फैलती... फिर सिमटती दिखती थी । जहाँ जहाँ से धूप गुज़र जाती थी, वे चीज़ें कत्थई रंग की तरलता में डूबती हुई स्याह होने लगती थी।"[2] प्रियंवद का यह भाषा प्रयोग वातावरण को प्रभावी बनाने में सफल हुआ है ।

1. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार - मास्टर साहब, पृ. 270
2. प्रियंवद - लाल गोदाम की भीत हंस -अगस्त 2001, पृ. 27

स्वतन्त्रता के बाद की कहानियों में स्थान-स्थान पर ऐसे बिंबों का इस्तेमाल हुआ है । जो वातावरण और स्थितियों को अधिक सघन बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं । पहले काव्य के उपकरण के रूप में प्रयुक्त यह 'बिंब' आज की कहानी में कलात्मक अभिव्यक्ति के मूल उपकरण के रूप में स्वीकृत हो चुका है । स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकार उसके माध्यम से वातावरण की सृष्टि करता है । बिंब प्रयोग से कहानी में स्पष्टता, संप्रेषणीयता और सजीवता में वृद्धि हुई है ।

प्रतीक

आधुनिक हिन्दी कहानी में प्रतीतकात्मकता कथ्य और शिल्प दोनों में प्राप्त होती है । व्यवहार के साथ साथ विभिन्न मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रतीकात्मकता का आश्रय लिया गया है । यों शब्दों की अर्थ-छवि का विस्तार भी हो गया है । लोक भारती प्रामाणिक हिन्दी कोश में प्रतीक का अर्थ इसप्रकार दिया गया है - "वह जो किसी समष्टि के प्रतिनिधि के रूप में और उसकी सब बातों का सूचक या प्रतिनिधि हो ।"[1] प्रतीक सदैव अपने से इतर संकेत देता है । "प्रतीक एक प्रकार का संकेत ही है, पर संकेत और प्रतीक दोनों में व्यापकत्व और संकोचन का अंतर है । प्रत्येक प्रतीक संकेत हो सकता है, पर प्रत्येक संकेत प्रतीक नहीं हो सकता, संकेत का सांचा प्रतीक से अधिक-अनिश्चित और अनेक विधा

---

1. सं. आचार्य रामचन्द्र वर्मा - लोकभारती प्रामाणिक कोश, पृ. 540

होता है।"[1] कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न, अंशरूपी विभूति या भाग प्रतीक हो सकता है । प्रतीक में अर्थ की निश्चयात्मकता होती है पर संकेत में अनिश्चयात्मकता विद्यमान है । प्रतीक के द्वारा किसी अनिश्चित वस्तु, भाव या विचार का संकेत मिलता है । प्रतीकों के माध्यम से निगूढ़तम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है । बार-बार प्रयुक्त होने पर बिंब प्रतीक बन जाते हैं।

कहानी कला की प्रमुख विशेषता है प्रतीक विधान । कहानी को मौलिक और रोचक बनाने में उसका स्थान कम नहीं है । कहानी रचना के प्रारंभ से ही प्रतीकों का इस्तेमाल हो रहा है । शीर्षक से लेकर कहानी में प्रतीकों का प्रयोग शुरु होता है । उदाहरण केलिए 'चारा काटने की मशीन', 'मलबे का मालिक', 'सिक्का नदल गया', 'काला शुक्रवार', 'क्लेम', 'अंधेरा', 'पार्टीशन' 'यूटोपिया', 'ये धुआ धुआ अंधेरा', 'कबीरदास' आदि। असल में कहानी के पात्र भी प्रतीकात्मक होते हैं । कबीरदास, कबीर, अगनू, शाहनी आदि धर्मनिर्पेक्षता के प्रतीक हैं तो पार्टीशन' का वकील ऊखचंद, राजा का चौक' का सेठ दुरगासरन आदि सांप्रदायिक राष्ट्रवादी के प्रतीक हैं। भीष्म साहनी की 'अमृतसर आ गया है' की बूढी औरत मानवता के प्रतीक के रूप में उपस्थिति होती है । कहानी में प्राकृतिक उपादानों जैसे अंधेरा, कालिमा, बर्फ, रोशनी, बाढ़, तूफान, आग आदि के अलावा पेड़-पौधों और जानवरों के नाम भी प्रतीक बनकर आए हैं । मलबा, कुत्ता,

---

1. डॉ. पाण्डेय शशिभूषण, शशिभूषण 'शितांशु'-नई कहानी के बिन्धि प्रयोग, पृ. 143

कौआ, कीडा, मगरमच्छ, बाघ आदि कई कहानियों में प्रतीक बनकर आए हैं । स्वातन्त्र्योत्तर, कहानियों में भी प्रतीकों का सफल प्रयोग हुआ है । उपेन्द्रनाथ अश्क, अमरकान्त, महीप सिंह, स्वयं प्रकाश, अखिलेश, नीलाक्षी सिंह, नमिता सिंह आदि, अनेक कहानीकारों की कहानियों में प्रतीकों के द्वारा भाषा और शैली को रोचक बनायी गयी हैं । उपेन्द्रनाथ अश्क की 'चारा काटने की मशीन' में संकेतों द्वारा पात्र की मनस्थिति और परिवेश का चित्रण है । "दो ढाई घण्टे के असफल बावेल के बाद जब सरदार लहनासिंह रात आ गयी जानकर वापस अपने अहाते को चले तो उनके बीवी-बच्चे पैदल जा रहे थे और बैलगाडी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई थी।"[1] यहाँ चारा काटने की मशीन निर्ममता का प्रतीक बन गया है ।

अमरकान्त ने प्रतीकों द्वारा मानसिक संघर्षों का चित्र प्रस्तुत किया है । शाम के वक्त घर लौटने की बात याद आते ही राम का मन पथराने लगा। चारों ओर अमानवीयता का शोर सुनाई पडता है । ऐसे घोर अंधकार में भी मानवीयता का प्रकाश चमकता है । किसी भी हालत में मिटनेवाली मानवता के प्रतीक के रूप में कहानीकार ने कोयल की कल का चित्रण किया है - "उसके मन फिर डूबने लगा । हवा तेज़ चल रही थी । उसको लगा कि हवा की हरहराहट किसी स्त्री के रोने की आवाज़ ले आ रही है या बच्चों के कराहने की आवाज़ ? तभी किसी वृक्ष पर कोयल बोलने लगी थी।

---

1. उपेन्द्रन्थ अश्क - चारा काटने की मशीन, पृ. 179

कोयल की कूक! जब से झगड़ा हुआ था, पता नहीं कितनी बार कोयल कूकी होगी, लेकिन उसकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता था । पर इस समय उसके कूक बराबर सुनाई देती रही ।"[1]

महीप सिंह की कहानी 'पानी और पुल' में भौगोलिक एवं राजनीतिक विभाजन होने पर भी मानवता जेहलम नदी के पानी की तरह बहते रहने का चित्रण है - हमारी गाड़ी जेहंलम के पुल पर आ गई थी । रात्री की नीरवता में खडर... खडर की तेज़ आवाज़ आ रही थी । मैं खिड़की से झाँककर जेहलम का पुल देखने लगा । मैंने सुना था, जेहलम का पुल, बहुत मज़बूत है । पत्थर और लोहे के बने उस मज़बूत पुल को अंधेरे में मैं देख रहा था। मेरी दृष्टि और नीचे की ओर भी जा रही थी, वहाँ पानी है, जेहलम नदी का कल-कल करता हुआ स्वच्छ और निर्मल पानी, जो उस पत्थर और लोहे के बने हुए पुल के नीचे से बह रहा था ।"[2] यहाँ पुल के समान मज़बूत राष्ट्र, धर्म, आदि के नीचे अबाध गति से बहती मानवता को दिखाया गया है ।

समकालीन कहानीकारों की भाषा में भी सफल ढंग से प्रतीकों का इस्तेमाल हुआ है । स्वयंप्रकाश की 'पार्टीशन' पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक है । यह कहानी को और भी मज़बूत बना देती है - "बात वस यही बची है कि कई दिन बाद जब एक दोपहर मैं आज़ाद चौक से गुज़र रहा था - जिसका नाम अब संजय चौक कर दिया गया है - और वह शुक्रवार का ही दिन था

---

1. अमरकान्त - चर्चित कहानियाँ, पृ. 37
2. महीप सिंह - चर्चित कहानियाँ, पृ. 38

- मैंने देखा कि कुर्बान भाई की दूकान के सामने लतीफ भाई खड़े हैं ... । और कुर्बान भाई दूकान में ताला लगा रहे हैं । और उन्होंने टोपी पहन रखी है.. और फिर दोनों मस्जिद की तरफ चल दिए हैं ।"[1] यहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की संकीर्ण राजनीति से तंग आकर बंटती मानवता को प्रतीकात्मक ढंग से चित्रित किया गया है । इस तरह कहानी में जीवन के सभी पहलुओं को प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त करने का प्रयास कथाकारों ने किया है । प्रतीक कहानियों को संश्लिष्ट बना देता है, साथ ही अर्थ विस्तार भी प्रदान करता है ।

फैंटसी

'फैंटसी' मनोविज्ञान से जुडा हुआ शब्द है । इसका संबन्ध स्वप्न और अवचेतन मन में घटित होनेवाली घटनाओं की विघटित और बेतरतीब बिंबावलियों से है । 'फैंटसी की कल्पना प्रकृति के एक ऐसे माहौल की रचना करती है जिससे यथार्थ व्यक्त होता है।"[2] यद्यपि फैंटसी जैसे कुछ प्रयोग नयी कहानी से पूर्व की कहानी में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, जैनेन्द्र, प्रसाद आदि के द्वारा भी हुए थे - किन्तु फैंटसी में जीवन की विसंगतियाँ एवं विद्रुपताओं के प्रति जो तीव्र आक्रोश व्यंग्य की तीक्षणता के साथ अभिव्यक्त करने की प्रचुर प्रवृत्ति नयी कहानी और परवर्ती कहानी में ही दिखाई देती है। फैंटसी सिर्फ कल्पित नाम सृष्टि ही नहीं, इसमें कई अर्थ निहित हैं । आज के समय

1. स्वयं प्रकाश - आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 42
2. निर्मला जैन - आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन, पृ. 124

के जटिल यथार्य को व्यक्त करने के लिए फैंटसी का प्रयोग प्रभावी बन जाता है । सांप्रदायिकता की भीषणता को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत विषयक कहानी में लेखकों ने फैंटसी का सहारा लिया है । उग्र ने अपनी कई कहानियों में फैंटसी का प्रयोग किया है । उनकी कहानी 'शाप' में फैंटसी के सहारे यथार्थ धर्मावलंबी की ओर कहानीकार ने संकेत किया है । कहानी का पात्र परमहंसजी धर्मिक सद्भावना का समर्थक है । वह हिन्दु-मुसलमान भेद की परवाह न करके हर घर से मधुकरी माँगता है । लेकिन हिन्दुओं ने इसके विरुद्ध अपनी अनिच्छा प्रकट की । क्योंकि मुसलमान गोश्त खाते हैं । एक दिन परीक्षणार्थ एक मुसलमान परमहंस जी को गोश्त देता है । लेकिन 'परमहंसजी ने प्रभु का स्मरण कर झोली का आवरण हटाया । उस समय लोगों ने साश्चर्य देखा कि मधुकरी में चावल, दाल और रोटियों को छोड़कर गोश्त का एक टुकड़ा भी न था । इस घटना से परमहंसजी पर 'हिन्दुओं की श्रद्धा और भी बढ़ गई।"[1] इस कहानी के अंत में भी उग्र जी ने फैंटसी का इस्तेमाल किया है । हिन्दू-मुस्लिम झगड़े के दौराम एक नेकदिल मुसलमान की हत्या की गयी, जिसने परमहंसजी की गाय की रक्षा करने का असफल प्रयास किया था । गाय और इसहाक के मृतशरीर को देखकर परमहंसजी ने उस गाँववालों को शाप दिया- "याद रखो मैं तुम्हें बद्दुआ देता हूँ । यदि ईश्वर या खुदा सच्चा है तो तुम्हारा नाश हो जाएगा और जल्द ही तुम्हारे इस नकली मजहब का लोप हो जाएगा । तुम नहीं देख सकते, अंधे हो । मैं देख रहा

1. पाण्डेय बेचन शर्मा - उग्र विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 147

हूँ । वह देखो । खून का तूफान आ रहा है । उसी में पाप को पुण्य, अधर्म को धर्म समझनेवाले राक्षसों-हिन्दुओं और मुसलमानों का अस्तित्व डूब जाएगा । मैं जाता हूँ । तुम लोग नाचो, कूदो और खून की होली खेलों । ईश्वर की इच्छा। उसी रात को हमारे गाँव में भयानक आँधी आई और आयी अपने साथ आग की एक चिनगारी लेकर । देखते-देखते सारा-का-सारा गाँव जलकर राख हो गया । निरपराध और अपराधी दोनों ही गृहहीन अन्नहीन और वस्त्रहीन हो गए । जौ के साथ धुन भी पिस गये।"[1] उग्र जी की दोजख की आग और खुदाराम' में भी फैंटसी का प्रयोग किया गया है ।

इसप्रकार फैंटसी द्वारा सांप्रदायिकता के भीषण यथार्थ को व्यक्त करने का प्रयास असगर वजाहत, अवधेश प्रीत, सुशांत सुप्रिय आदि कहानीकारों ने भी किया है । असगर वजाहत की कहानी 'शाह आलाम कैंप की रूहें' का पूरा कथ्य बिन्दु यह है कि कैंप पर दंगे से बच गए लोगों को रखा गया है, उनसे मिलने के लिए आत्माएँ आती हैं ।' आत्माओं से फिर उनका संवाद होता है । उस कहानी के विषय और त्रासदी को ज़्यादा' प्रभावशाली' बनाने के लिए फैंटसी का इस्तेमाल किया है - "रात के वक्त रूहें अपने, बाल-बच्चों से मिलने आती हैं । रूहें अपने यतीम बच्चों के सिरों पर हाथ फेरती हैं, उनकी सूनी आँखों में उनकी सूनी आँखें डालकर कुछ कहती है । ... सारा कैंप जब सो जाता है तो बच्चे जागते हैं । उन्हें इंतज़ार रहता है अपनी माँओं को देखने का... अब्बा के साथ खाना खाने का

पाण्डेय बेचन शर्मा - उग्र विशिष्ट कहानियाँ, पृ. 149

।... 'माँ खुश नज़र आ रही थी । बोली-सिराज.. अब मैं रूह हूँ... अब मुझे कोई जला नहीं सकता ।'

"अम्मा.. क्या मैं भी तुम्हारी तरह हो सकता हूँ।"[1]

अवधेश प्रीत की कहानी 'हमज़मीन' में दो रूहों के वार्तालाप के माध्यम से सांप्रदायिकता की विभीषिका और धर्म के बीच की दीवार को व्यक्त करने की कोशिश है। "पहले ने हमदर्दी जताते हुए कहा, 'थका लगता है तू, आराम कर ले ।"

'आराम!' दूसरे की आवाज़ में गहरा तंज शामिल हो आया था, इत्ती - सी जगह में क्या तो आराम, कैसा आराम ? कहता तो ठीक है । गुड़ी मुड़ी पड़े-पड़े रसाली देह अकड़ गई है । एक काम करते हैं । दूसरे ने कुछ सोचते हुए सुझाया, हम दोनों के बीच जो दीवार है न, इसकी मिट्टी कुछ नम लगती है । तू अपनी और से कुरेदे । मैं अपनी ओर से कुरेदता हूँ ।' 'राजमिस्त्री है न, तू! पहला अपनी पीड़ा के बावजूद चुहल से बाज़ नहीं आया, कब्र में भी कारीगरी सूझ रही है?"[2] सुशांत सुप्रिय की कहानी 'कबीरदास' में भी फैंटसी का प्रयोग किया गया है । पागल आदमी के मुँह से विद्वता की बात, उसकी मृत्यु पर सारे-के-सारे देश के तमाम पागलखानों के सभी पागलों का बेचैन होकर घंटों तक रोते रहना आदि फैंटसी के

---

1. असगर वजाहत - मैं हिन्दू हूँ, पृ. 147
2. अवधेश प्रीत - हमज़मीन, पृ. 65

उदाहरण हैं । कहानी फैंटसी के साथ समाप्त होती है - "इलाके के लोगों का कहना है कि खिड़की-दराज़े बंद कर लेने के बाद भी कबीरदास की भारी आवाज़ खिड़की-दरवाज़ों की झिर्रियों में से प्रवेश कर के इलाके के घरों में देर तक गूँजती रहती है । अगर आपको मेरी बातों पर यकीन नहीं आता तो कबीरदास के इलाके रामपुरा शरीफ में आप का भी स्वागत है ।"[1]

फैंटसी (अतिरंजित कल्पना) के द्वारा आधुनिक कहानीकार कहानी का कथा घटना-क्रम को एक कल्पना लोक में प्रेक्षेपित कर वर्तमान जीवन की विसंगतियों का पर्दाफाश करते हुए पाठक को जागरूक बनाते है । यह जीवन-यथार्थ की कटुताओं का तीखा एहसास कराने का व्यंग्यात्मक साधन है ।

शौलियें का प्रयोग

वर्णनात्मक शैली

कहानी की परंपरागत शेलियों में वर्णनात्मक शैली मुख्य है । कहानी की वर्णन शैली सरल सुबोध, सरस, प्रवाहपूर्ण और धारावाहिक होनी चाहिए । सुन्दर शैली द्वारा ही लेखक गूढ़-से-गूढ़ भावनाओं और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में सफल होते हैं । कथा को आगे बढ़ाने के लिए लेखक विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों और आख्यानों को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं । स्थानों, पात्रों की आकृति, वेश-भूषा, चेष्टाओं और

1. सुशांत सुप्रिय - कबीरदास बाक् 6, पृ. 146

क्रिया-कलापों का सूक्ष्म-चित्रण आदि के लिए वर्णनात्मक शैली उपयोगी होती है । पात्रों के स्वाभाविक चरित्रांकन वर्णनात्मक शैली की विशेषता है।

इससे पाठकों को यथार्थ का बोध होता है । हिन्दी की कई समकालीन कहानियों में ऐसी वर्णनात्मक शैली का इस्तेमाल हो रहा है । उदाहरण के लिए उदयप्रकाश की कहानी 'और अन्त में प्रार्थना' का प्रसंग कुछ इसप्रकार है - "अब इसका क्या किया जाए कि डाक्टर दिनेश मनोहर वाकणकर किसी कहानी या उपन्यास के पात्र नहीं है । उन्हें किसी कहानीकार की कल्पना ने नहीं पैदा किया है । डॉ. वाकणकर किसी कहानीकार या रचना के होने या न होने के बावजूद हैं । कुछ-कुछ उसी तरह जैसे हम और आप हैं । क्या हमें होने के लिए किसी लेखक या रचना के होने की ज़रूरत है । डॉ. दिनेश मनोहर वाकणकर की उम्र अडतालीस वर्ष की है । उनका सिर गंजा है । जिस पर वे अपनी पत्नि ज्योत्सना वाकणकर द्वारा बुनी गई जालीदार सूची टोपी चढ़ा लेते हैं । उनका शरीर भारी है । थुल-थुल और गोल-मटोल । पत्नि के अलावा उनके परिवार में चार बेटियाँ हैं । सभी का नाम उन्होंने अपनी पसंद से रखा है। "पूजा, उपासना, प्रार्थना और तपस्या।"[1] उदयप्रकाश ने पात्रों के स्वाभाविक चरित्रांकन वर्णनात्मक शैली द्वारा प्रस्तुत किया है । भीष्म साहनी की कहानी 'पाली' में देश और काल का चित्रण वर्णनात्मक शैली द्वारा किया गया है - "मनोहरलाल और उसके परिवार की

---

1. उदयप्रकाश - और अन्त में प्रार्थना, पृ. 86

ज़िन्दगी का एक छोर तो दूर-पार के एक कस्बे में उस वक्त रह गया था जब देश का बँटवारा हुआ था और सैकड़ों लोगों के साथ वे भी अपना बोरिया-बिस्तर उठाए, शरणार्थियों के काफिले में चलने लगे थे, और उनके कदमों की खाक से सारे माहौल में गबार-सा भर गया था । जिस भाँति अलग-अलग नदियाँ अपने-अपने प्रवाह में सागर की ओर बढ़ने लगती हैं, शरणार्थियों के काफिले भी, किसी विभाजन रेखा की ओर बढ़ने लगे थे जो उन्हीं दिनों एक देश को काटकर दो देश बनाने के लिए खींची गई थी ।"[1]

उदयप्रकाश के अलावा अन्य समकालीन कहानीकारों की शैली में भी वर्णनात्मकता का प्रयोग देखने को मिलता है । नमिता सिंह, नासिरा शर्मा, वंदना राग, सुशांत सुप्रिय, गीतेंजलि श्री आदि भी कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए उक्त शैली को अपनाने हैं । सुशांत सुप्रिय की कहानी 'कबीरदास' का एक उदाहरण देखिए - "पिछले कई सालों से शहर के इलाके रामपुरा शरीफ में एक अर्द्ध-विक्षिप्त बूढ़ा फटकता हुआ दिख जाता था । वेश भूषा और हरकतों से वह कोई पागल भिखारी लगता था । कोई नहीं जानता था कि उसका नाम क्या था या वह कहाँ से आया था । कोई कहता था कि वह एक स्वतन्त्रता सेनानी था, जिसके बहु-बेटियों ने बुढ़ापे में उसे घर से बाहर निकाल दिया था । इसी सदमे से वह पागल हो गया था । किसी का कहना है कि हिन्दी का एक कवि और कहानीकार था जिसकी

---

1. भीष्म साहनी - पाली, पृ. 9

रचनाओं को हिन्दी साहित्य के आलोचकों ने कोई महत्व नहीं दिया था । धीरे-धीरे वह अर्द्ध-विक्षिप्त हो गया था । उसके घरवालों ने उसका इलाज कराने के बजाय उसे घर से बाहर निकाल दिया था । कुछ लोगों का यह भी कहना था कि 1947 में देश के विभाजन के समय हुए दंगों में उसके माँ-बाप मारे गये थे । दिसंबर 1992 में बावरी मस्जिद के विध्वंस के बाद हुए दंगों में उनकी बीवी-बच्चे भी मारे गए थे । इसी सदमे की वजह से वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा था । सच क्या था, कोई नहीं जानता था। इलाके के लोगों ने उसका नाम 'कबीरदास' रख दिया था।"[1] इसप्रकार कहानीकार ने पात्र के चरित्र को पूर्णतः उजागर किया है । वंदना राग की 'यूटोपिया' में भी इसप्रकार पात्र के वेश-भूषा, व्यक्तित्व आदि का वर्णन मिलता है- "उन्होंने धीरे से नज्जो को गोद से उतारा उसकी फ्राक खींच कर उसे घुटनों से नीचे करने का असफल प्रयास किया और समझ गई, फ्राक अब नहीं खींच पाएगी । लड़की बड़ी हो गई है । जल्द सलवार कमीज़ॉ पहनाने पडेंगे । टाँगें गुदुंमी था और मोटी काली आँख थी । आँखों का कजरापन साँप, बन लोगों को डसता रहता था।"[2] पात्रों के व्यक्तित्व की पूर्णता को उजागर करने के लिए उनके परिवेश, स्थान, रूप, काल का पूरा विवरण देना अनिवार्य हैं । वातावरण में यथार्थ की सृष्टि के लिए काल एवं, स्थिति का बोध कहानी को अधिक रोचक बनाता है ।

---

1. सुशांत सुप्रि.- कबीरदास वाक् 6- पृ. 146
2. वंदना राग, यूटोपिया -पहल- 57, पृ. 42

कहानी के शीर्षक

कहानी के बाह्य रुपाकार में कुछ परिवर्तन सहज ही लक्षित होते है। वर्तमान दौर की कहानी के रूपबद्ध के स्वरूप का विवेचन के संदर्भ में कहानी शीर्षक की खास अहमियत है । समकालीन कहानियों के शीर्षक, परंपरा तथा नवीनता-दोनों के योग से बने हैं । कहानी के मुख्य पात्र, घटना अथवा स्थान के नाम पर कहानी का नामकरण प्रेमचन्द युग से प्रचलित रहा है । वर्तमान दौर में भी इसप्रकार कहानियों का नामकरण होता रहा है । मुख्य पात्र के आधार पर शीर्षकों के प्रमाण (वाङचू जहूरबरव्श) तथा स्थान के आधार पर (राजा का चौक) हैं । नमिता सिंह की राजा का चौक' के आरंभ में लेखिका ने चौक का वर्णन किया है - "राजा का चौक देख रहे है न कितना बदल गया है । कौन कह सकता है कि पाँच-छ साल पहले तक यहाँ भुरभुरी मिट्टी और कीचड हुआ करती थी । चौक के बीच में ही एक अहात उखडीःधकड़ी ईंटों और मिट्टी की दीवारों से घिरा राजा का हाता कहलाता था । हाते के अन्दर मकान रहे होंगे कोई पच्चीस तीस । ज़्यादातर जुलाहे और सक्के । तीन चार घर मेहतरों के । इस भुरियल मैदान में सुअर भी डोलते रहते और उनके ही बीच होते के नंग-धडंग बच्चे मिट्टी में खेलते नज़र आते ।"[1]

कथ्य को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने में कहानी के साथ उसके

---

1. नमिता सिंह - कर्फ्यू तथा कहानियाँ, पृ. 24

शीर्षक की सार्थकता का भी उपयोग रहता है । स्वयं प्रकाश की कहानी "क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा', यद्यपि लंबी कहानी है किन्तु कहानी के वृद्ध सरदार की जिजीविषा और जीवट को उभारने में सक्षम हैं । भीष्म साहनी की कहानी (सरदारनी) सांप्रदायिकता के घोर अन्धेरे में जुगुनू की तरह ओझल मानवीयता का अंकन है । "सिर्फ मानवता के बल पर वह गुरु गोविन्द सिंह का कटार लेकर गुरु गोविन्दसिंह के अन्ध धर्मावलंबियों के बीच से गुज़रती है और मनुष्य के वास्ते अपने दायित्व की पूर्ति करती है ।"[1]

उनकी अन्य कहानी पाली के 'पाली' नामक बच्चे की मानसिकता और यंत्रणाओं का अंकन करके धर्मान्धता के बीच दबी मानवता को रेखांकित करती है । कहानी के अन्त में जब मनोहरलाल (बच्चे का पिता) शकूर-जैनब दम्पति से अपने बच्चे को ले जाने के लिए आता है तो मनोहरलाल जैनब के आगे बिनती करता है 'बहन' मैं तुमसे बच्चे छीन लेने को नहीं अपनी घरवाली की जान की भीख माँगने आया हूँ तुम्हारी दौलत है। बहन ! तुमने इसे पालकर बड़ा किया है । मैं वायदा करता हूँ । मैं जन्म-जन्म तक तुम्हारा एहसान नहीं भूलूँगा।"[2]

संवाद -शैली

संवाद कहानी का प्रमुख तत्व है । यह भावों-विचारों के प्रकाशन

1. भीष्म साहनी - निशाचर, पृ. 135
2. भीष्म साहनी - पाली, पृ. 13

का प्रधान साधन भी है । इसकी महत्ता नाटकों में होती है किन्तु कहानी कला के सन्दर्भ में भी इन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता । इसके प्रयोग से कहानी में आकर्षण सजीवता और पाठकों की जिज्ञासा वृत्ति को भी बढ़ावा मिलती है । यह घटनाओं या स्थितियों को जोड़ता है, कथा को गति प्रदान करता है । इसके द्वारा कहानी की मूल संवेदना और पात्रों के बीच सीधा संपर्क बना रहता है । वस्तुतः यह पाठक और कहानी, कहानी की संवेदना व पात्रों के बीच एक सेतु का काम करता है । कई हिन्दी कहानियों में संवादी शैली से कहानी आगे बढ़ती है । संवाद शैली का प्रयोग अनेक कहानीकारों ने किया है । अमरकान्त, मोहन राकेश, कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, असगर वजाहत, नमिता सिंह, अवधेश प्रीत, गीतांजलि श्री, राजेन्द्र जोशी आदि उनमें प्रमुख हैं । सांप्रदायिक दंगे के दौरान हुए अत्याचार के शिकार को जनता इंसान के रूप में नहीं देखती । हिन्दू, मुसलमान, सिख आदि के रूप में देखती है । अमरकान्त ने 'मौत का नगर में इसका चित्रण किया है - "स्टेशन के पास एक आदमी को छुरा लगा है । दूसरे ने सूचना दी । हिन्दू है ? 'नहीं मोहम्मडन है ।"[1]

संवाद द्वारा पाठक शीघ्र ही अर्थ ग्रहण कर लेते हैं । एक ही संवाद द्वारा कहानी पूरे इतिहास को संप्रेषित करने में सफल हुई हैं । स्वयंप्रकाश की 'पार्टीशन' का संवाद देखिए "कह रहे है पार्टीशन हुआ था । हुआ था नहीं,

---

1. अमरकांत - मौत का नगर, पृ. 37

हो रहा है, जारी है...।"[1] इसप्रकार राजेन्द्र जोशी की कहानी 'दूसरा कबीर' का संवाद देखिए- "दिन के सांप्रदायिक दंगे के बाद रात के टी.वी न्यूज़ पर साधुओं और मुल्लाओं को एकता की इतनी पड़ी है कि पूरे देश में जो तूफान चल रहा है, वह क्या है, कौन करवा रहा है।"[2] सांप्रदायिकता के कारण ही नहीं, उसके पूरे इतिहास एवं उसके पीछे की राजनीति को भी यह संवाद व्यक्त करता है । इसप्रकार संवाद पात्रों की मानसिक स्थिति और वातावरण को स्पष्ट करने में सहायक है । 'हमज़मीन ' की दो रूहों के आपसी संवादों के माध्यम से लेखक यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जहाँ कोई आर्थिक और राजनीतिक कारण नहीं होता, वहाँ आदमी के बीच कोई दीवार नहीं होती है। 'तू अपनी तरफ से मिट्टी खोद । मैं अपनी तरफ से खोदता हूँ । दीवार गिरी कि समझ थोड़ी ज़्यादा जगह निकल आएगी । दूसरे ने संजीदा स्वर में पहले को समझाया, 'कम से कम करवट लेना आसान हो जाएगा । क्या पता आड़े-तिरछे हाथ-पाँव फैलना भी मुमकिन हो जाए ।... 'नहीं पहले ने दुगुने ज़ोर से जवाब दिया, ' 'मैं अपनी तरफ की मिट्टी खोदने लगा था । 'ठीक है । फिर मैं भी शुरु करता हूँ । दूसरे ने आश्वस्त किया । ... और अचानक अब तक का सबसे नामुमकिन वाक्या वजूद में आया । सहमे हुए समय ने गौर से देखा, ज़मीन में ज़िन्दगी की सी हरकत हो रही है।" इस संवाद से लेखक इस बात की तरफ संकेत करते हैं कि यदि मनुष्य चाहे तो मजहब

---

1. स्वयंप्रकाश- आएँगे अच्छे दिन भी, पृ. 42
2. राजेन्द्र जोशी-दूसरा कबीर, पृ. 15

की दीवार को तोड़कर एक बेहतर समाज बना सकता है ।

नीलाक्षी सिंह की कहानी 'परिंदे का इंतज़ार सा कुछ' की नसरीन के संवाद द्वारा लेखिका ने यह सूचित किया है कि धर्म का बुरा प्रभाव पुरुष से ज़्यादा स्त्री पर पड़ता है । 'कभी मेरा जेण्डर मुझे पीछे खींच रहा था, तो कभी मेरा मजहब । मैं अगर लड़का होता तो न शिरीश मेरे बारे में उस तरीके से सोचता न मैं ही डरती रहती । हम कितने प्यारे दोस्त हो सकते थे तब । या कि यह मजहब ही हमारे बीच नहीं आता तो हम कितनी बेफिक्र ज़िन्दगी जी पाते ।"[1] प्रस्तुत संवाद से पात्र की मनस्थिति के उद्‌घाटन के साथ कथा का विकास भी होता है । आधुनिक कहानी कला में संवाद आता तो है, किन्तु अपेक्षाकृत कम और परिवर्तित परिवेश में ही उसका निधान होता है । कथा को गतिशीलता और पात्रों की मनःस्थिति को निरूपित करनेवाले संवादों का प्रयोग ही ज़्यादातर हो रहा है ।

आत्मकथात्मक शैली

प्रथम पुरुष की ओर से प्रस्तुत की जाने वाली सभी प्रकार की कथाओं को आत्मकथात्मक शैली के अन्तर्गत लिया जा सकता है । व्यक्ति के अन्तर्गत का लेखा-जोखा इस शैली द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है । आत्मकथा में आदमी अपनी जीवनी आप ही कहता है । चन्द्रकान्ता की कहानी "एक और कहानी' एक अध्याय के अंत' में प्रयुक्त आत्मकथात्मक

---

1. अवधेश प्रीत - हमज़मीन, पृ. 65

शैली का एक अंश देखिए- "हो सकता है कि तुम्हें इस बार याद भी न रहा हो कि मैं घंटों तुम्हारी प्रतीक्षा में रीगल की भीड़ का दबाव झेलती, आखिरकार, सभी बेहूदा विश्वासों की अंत्येष्टि करके घर लौटी है क्योंकि तुम्हारे विशिष्ट मूड और सुविधाओं पर टिकी इन मुलाकातों में, मुझे आदिम पुरुष की फितरत की बासी गध आने लगी है और इस सड़ी हुई गंध को सहना मेरे बूते का नहीं है।"[1] हरि भटनागर की कहानी "उसके गले का राम' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गयी है । मधुरेश के अनुसार मनुष्य की लाचारी को हरि भटनागर गहरी करुणा के साथ अंकित करते है । कहानियों में गरीबी, भूख और अभावों से घिरे लोग हमेशा ही गोलबन्द होकर टकराने की स्थिति में है, लेकिन उनका भय, करुणा और लाचारी भी वही काम करते हैं। हरि भटनागर अपनी कहानियों में मुस्लिम पात्रों का अंकन बहुत विश्वसनीयता के साथ करते हैं । उनके पास सीधी-सादी एक खास डिक्शन वाली भाषा है, जिसपर कभी-कभी ज्ञानरंजन का प्रभाव साफ दिखाई देता है । 'उसके गले का राम' में से एक प्रसंग देखिए - "यकायक मैं घिन से भर उठा । यह घिन बदन से उठ रही पसीने और पीले-पीले दाँतों की बास से उतनी न थी जितनी उसके मुसलमान होने की वजह से थी । मैं उसे बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था।"[2] हरि भटनागर की कहानियों में भाषा अनायास ही प्रकट होती है । वह गढी-छोली, बनयी गयी नहीं होती । अर्थात वह निर्मिति की शिकार नहीं होती। यह सहजता व अनायासता ही उसकी भाषिक संरचना

---

1. चन्द्रकान्ता - दहलीज़ पर न्याय, पृ. 60
2. हरि भटनागर - नाम में क्या रखा है, पृ. 54

की जान है ।

पात्रों के अनुकूल देशज शब्दों का प्रयोग स्वतंत्र्योंत्तर कहानी की उपलब्धि है । रामदरश मिश्र के अनुसार "भाषा ऊपर से ओढ़ी हुई चीज़ नहीं होती । वह स्थान विशेष के लोगों के संस्कारों और अनुभव के साथ अनिवार्य भाव से संपृक्त होती है।"[1] नदीउज़्ज़माँ, कैलाश वनवासी, चन्द्रकांता सुधा अरोडा, स्वयंप्रकाश, नमिता सिंह आदि की कहानियों में देशज शब्दों का प्रयोग है । उदाहरण के लिए कितने के लिए 'कै' का प्रयोग, के मेर, कित्ते, देखला, भइवा बहिनिया, हियाँ, गेलई, हमनी, आऊ आदि । इन जनपदीय प्रयोगों ने कथा भाषा को जहाँ एक ओर यथार्थ के निकट रखा है, उसकी अर्थ समृद्धि में भी योग दिया है । भीष्म साहनी, महीप सिंह आदि की भाषा में पंजाबी शब्दों का प्रयोग भी है । कुछ पंजाबी शब्द हैं - ज्ञानी, भरजाई, किरपा, दराज आदि । विविध भाषा के प्रयोगों से स्वतंत्र्योत्तर कहानी अधिक प्राणवान, सशक्त, प्रवाहयुक्त और प्रामाणिक हो गई है । कथ्यानुरूप भाषा विविधोन्मुख है । शब्दों की बहुलता ने हिन्दी कहानी भाषा को एक नयी भंगिमा प्रदान की है । विभिन्न भाषी शब्दों के प्रयोग से कहानी को अर्थ विस्तार भी प्रदान करता है ।

शब्द भण्डार की बहुलता

कहानी की भाषा अपनी बदली हुई संवेदना के अनुरूप है ।

---

1. रामदरश मिश्र-हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, पृ. 192

स्वतान्त्र्योत्तर कहानी पंजाबी, बंगगाली अंग्रेज़ी, उर्दू, संस्कृत भाषाओं की शब्द संपदा से समृद्ध है । परिवेशों वस्तुः नए कहानीकार भिन्न-भिन्न परिवेश से जुड़े हुए हैं, जिनका चित्रण उन्होंने अपनी कहानी में किया है । विभिन्न पात्रों के आयुवर्ग, शैक्षिक-योग्यता, मानसिक स्तर, मनःस्थिति तथा परिवेश का प्रभाव उनके संवादों की भाषा पर पड़ा है । लेखक ने कहानी की रोचकता बढ़ाने के लिए पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है । आज मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय ही नहीं सामान्य व्यक्ति भी अंग्रेज़ी शब्दावली, वाक्यों तक का निस्संकोच प्रयोग कर रहा है । ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग उसकी भाषा का अनिवार्य हिस्सा हो गया है । स्वाभाविक है कि व्यक्ति के यथार्थ का चित्रण करने के लिए प्रतिबद्ध आधुनिक कहानी में भी यह भाषा संस्कार का पूरी तरह उतरना । कभी-कभी कहानी का शीर्षक भी अंग्रेज़ी में आता है । जैसे कि 'लेटर-वक्स', 'पार्टीशन', 'टेबल-लैंड' 'क्लेम', 'आर्मी' आदि । कहानी के बीच-बीच में पात्रों की स्वाभाविकता और प्रभाविष्णुता बनने के लिए भी अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

उर्दू से हिन्दी में आकर प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा भाषा को एक नयी रंगत देकर उसके विकास के नए क्षितिज उद्घाटित किए थे । 1950 के बाद कुछ कहानीकारों ने उर्दू मिश्रित खूबसूरत भाषा रची है ।असगर वजाहत, कृष्णा सोबती, बदीउज्जमाँ की कहानियों में उर्दू शब्दों की बहुलता को देखा जा सकता है । उदाहरण के लिए ज़ख्म, गुसलखाना, रोज़ा, पेशाब, नमाज़, कत्ल, मजहब, वक्त, अंदाज, कागज़ात, फिज़ा, जन्नत आदि ।

विभिन्न भाषाओं तथा बोलियो के प्रयोग से एक भाषा की संपन्नता में प्रगति होती है । वह विभिन्न अर्थ-छवियों को व्यक्त करने में सक्षम होती है । वह अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से ऊपर उठती है । उर्दू भाषा की शब्दावली ने हिन्दी कहानी की भाषा में उपर्युक्त आयाम जोड़ने में उल्लेखनीय कार्य किया है ।

मुस्लिम समाज पर लिखनेवाले एवं मुस्लिम कहानीकारों ने संस्कारों से प्राप्त उर्दू शब्दावली से हिन्दी कथा-भाषा को नयी कथन-भंगिमाएँ प्रदान की है । बदीउज़्ज़माँ, नासिरा शर्मा, नफीस अफ्रीदी, शानी, निश्तर खानकाही जैसे उर्दू संस्कारों से लैस कथाकारों की भाषा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । बदीउज्ज़माँ की कहानी 'अन्तिम इच्छा' में देखिए दिन तो रोज़ी के झमेले में किसी तरह बीत जाता है लेकिन रात के सन्नाटे में एक अजीब पुर असरार वीरानी का एहसास छाने लगता है । एक अजीब अस्पष्ट-सा ख्याल दिल और दिमाग पर हावी होने लगता है, जैसे, फिर वहीं लौट जाना है जहाँ से आये थे ।"[1]

उर्दू के शब्द हिन्दी में रच-खप गये दो अत्यन्त सहज उदाहरण क्रमशः अफ्रीदी की कहानी तथा निरन्तर खानकाही की कहानी 'जलता हुआ सवाल' में द्रष्टव्य हैं, "मुझे तो यकीन भी नहीं होता कि मेरी औलाद इस हद तक गिर भी सकती है।" तथा कभी (गाय) थककर सींग बदलती है तो धरती पर ज़लज़ला आता है।"[2]

1. बदीउज़्ज़ामाँ - पुल टूटते हुए, पृ- 66
2. सं. गिरिराज शरण - सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 86

भावों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए पात्रों के अनुकूल संस्कृत शब्दों एवं पदों का भी प्रयोग लेखकों ने किया है । जैसे 'अतिथि देवो भवः', 'रमंते तंत्र देवताः' 'एक धर्म सनातन', 'अधेरा', 'शरणादाता' आदि ।

हिन्दी में हिन्दीतर भाषी कहानीकारों की संख्या बहुत है । इनमें विशेषतः पंजाबी और बंगाली भाषा के कहानीकारों ने अपनी मातृभाषा से प्रचलित शब्दों को सामान्यतः अथवा पात्र विशेष के चित्रण के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया है । इस वर्ग में भीष्म साहनी, महीप सिंह द्रोणवीर कोहली, सुरेश सैठ, चन्द्रकान्ता आदि उल्लेखनीय है ।

संक्षेप में स्वतन्त्रता के बाद कहानी की भाषा और शैली में नए नए प्रयोगों के ज़रिए ज़बरदस्त परिवर्तन आ गया । नए यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए नए शब्दों, बिंबों व प्रतीकों का धड़ल्ले से इस्तेमाल होने लगा । पात्र, स्थान और समय के अनुकूल भाषा प्रयोग में विविधता आ गयी । कम शब्दों में कई अर्थों को भरने की भाषा की सक्षमता भी बढ़ गई । सांप्रदायिकता पर लिखी कहानियों की भाषा की उसके सभी आयामों के साथ उसकी विडंबनाओं व हैवानियत को भी उकेरने में सक्षम बनी है ।

❖ ❖ ❖

उपसंहार

उपसंहार

समाज तथा व्यक्ति जीवन में राजनीति और धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है । धर्म बेशक मानवनिर्मित है । देश काल की माँग के अनुसार मनुष्य के आचरण, शील व दायित्व को बारे में महामनीषियों द्वारा की गई एवं संग्रहीत बातें ही धर्म का आधार है । मानवीय सभ्यता के विकास यात्रा में धर्म की अनिवार्यता को पूरी तरह से कभी भी नकारा नहीं गया है ।

पर धर्म का गलत इस्तेमाल सांप्रदायिकता है । जब धर्म में राजनीति और राजनीति में धर्म दखल देता है, तब धर्म अपनी सामाजिक पहचान खोकर संस्थागत धर्म में तब्दील होता है । संस्थागत धर्म सत्तामोही होता है। सत्ता को हडपने के लिए धर्म राजनीति का सहारा लेता है । यों धर्म और राजनीति का गठबंधन यानी सांप्रदायिकता देश एवं जनता के लिए खतरा बनता है ।

भारतीय समाज में धर्म के नाम पर संघर्षों की परंपरा एकदम नयी तो नहीं है । यहाँ हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष इतना प्रबल रहा कि इसका एक लंबा इतिहास भी है जो स्वतन्त्रता आंन्दोलन के समानांतर बढ़ रहा था । सांप्रदायिकता मुसलमान सामंतों हिन्दू ज़मींदारों की नीतियों व अंग्रेज़ों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के कारण पैदा हुई । मुस्लिम सांप्रदायिकता का नेतृत्व मुस्लिम लीग ने किया और हिन्दू सांप्रदायिक ताकतों ने खुद को हिन्दू राष्ट्र के निर्माण में लगा दिया । दोनों ही समूहों का

यह मानना था कि धर्म राष्ट्र का आधार होना चाहिए । इसप्रकार सांप्रदायिक विचारधारा को आगे बढानेवाले तीन मुख्य तत्व थे (क) अंग्रेज़ों की फूट डालो और शासन करो की नीति (ख) मुस्लिम सांप्रदायिक राजनीति (ग) हिन्दू सांप्रदायिक राजनीति । धर्म आज अपने पारलौकिक स्तर से परे होकर राजनीति का पहलू हो गया है । यह सांप्रदायिक राष्ट्रवादी प्रवृत्ति अब सांप्रदायिक फासीवाद का रूप ले रही है, जहाँ अन्य धर्मावलंबियों के प्रति एक स्थायी विरोधभाव लोगों के मन में उत्पन्न कर दिया जाता है और यों संवाद एवं बहस की सारी संभावनाएँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। इसप्रकार धर्म अपने लक्ष्यों से छद्म राजनीति का हिस्सा बन गया है ।

आज सांप्रदायिक राष्ट्रवाद और भी भयानक रूप और नया नाम लेकर आया है । वह संप्रदाय या धर्म के खाने में संस्कृति की व्यापकता को समेटने की सुनियोजित कोशिश कर रहा है । इससे संस्कृति का मूल्य और महत्व नष्ट हो रहा है । संस्कृति को धर्म और राजनीति की घटिया चाल से घसीटा जा रहा है । सांप्रदायिक राष्ट्रवाद का नया रूप ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है । अंग्रेज़ों की एक निर्धारित नीति ने सांप्रदायिक जीवन के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया । व्यक्ति-व्यक्ति से अलग हो गया और भारतीय सांस्कृतिक विरासत को खण्डित कर दिया । आज सभी धर्म साझी राष्ट्रीय संस्कृति का विखण्डन कर रही है । भारत में ताकतवर धर्म सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर सदैव मनुष्यता को चुनौती देकर आगे बढ़ रहा है ।

इसप्रकार भारत में हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता का इतिहास स्वतन्त्रता आन्दोलन काल से प्रारंभ होकर आज भी खतरनाक स्थिति में आगे बढ़ रहा है । इसका प्रमाण है 'ब्लू स्टार ऑपरेशन, इंदिरा गाँधी की हत्या, अयोध्या विवाद और गुजरात का नरसंहार'।

सन् 1940 से 1970 तक के सांप्रदायिकता से जुडे साहित्य का मुख्य मुद्दा था विभाजन । प्रेमचंद के ज़माने में सांप्रदायिक ताकतें सक्रिय हो चुकी थीं, लेकिन राष्ट्रीय जागरण ने फैलते सांप्रदायिक विद्वेष को कमज़ोर कर दिया । प्रेमचंद के ज़माने का स्वर सामान्यतः संप्रदायवाद पर मानवतावादी अदर्शवाद की प्रबलता का था । विभाजन ने एक ओर मूल्यों को ध्वस्त किया । विभाजन के दौर में साधारण आदमी कहीं भी सांप्रदायिक नहीं था। परिवेश का जोश, आतंक, भडकाव में लोग फँस गये व दंगों में जाने अनजाने हिस्सा लेने को मजबूर हुए । परिवेश का नशा उतरते ही वे पछताने लगे । इसका ज़िक्र उस समय के कहानीकार 'उग्र', यशपाल, अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश आदि ने अपनी कहानियों में दर्ज किया है ।

स्वतन्त्रता पूर्व हिन्दी कहानी अपने ढंग से सांप्रदायिकता का अंकन कर रही थी जिसमें आदर्श का पुट है फिर भी उद्देश्य स्पष्ट एवं नेक है । भारत के सौ वर्ष का इतिहास सांप्रदायिक दंगों के खून से रंगीन है । ये सांप्रदायिक दंगे हमेशा राजनीतिज्ञों द्वारा अपनी रोटियाँ सेंकने के लिए कराये गए हैं। ऐसे दंगों की आड में गुण्डे और समाजविरोधी ताकतें आतंक

फैलाती हैं । स्वातंत्र्योत्तर कहानी में दंगों का यथार्थ चित्र अंकित है । सांप्रदायिकता की राजनीति ने अपनी नृशंसता के ज़रिए नैतिक संकल्पनाओं तथा मानवीय मूल्यों को कुचल दिया । धार्मिक असहिष्णुता व सांप्रदायिक संकीर्णता का ज़हर मानव समाज के भेदों को अधिक तीव्र और तीखा करता है । मानव को मानव का दुश्मन बनाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना सांप्रदायिक राजनीति का लक्ष्य रहा है । भारत विभाजन निस्संदेह इतिहास की एक भयानक त्रासदी है । बँटवारे के समय अत्याचारियों एवं आतंकवादियों के हाथ में मानवता एकदम जड़ हो गयी थी । मानवीय संबन्धों और मानवीयता को मिटा दिया गया था । मानव के वर्तमान और भविष्य अनिश्चय में डाले गये थे। मनुष्य अपनी भाषा संस्कृति, मिट्टी, रीति-रिवाज़, सगे-संबन्धी से बिछुड गये थे। इन सब का मार्मिक एवं बारीकी चित्रण 'जिहाद', 'जुलूस', 'पंच परमेश्वर', 'खुदा और खुदा की लड़ाई', 'हाय राम... ये बच्चें', 'बदला', 'शरणदाता', 'हिंसा पेरमा धर्म', 'नारंगियाँ', 'मुस्लिम-मुस्लिम भाई भाई', 'मेरा बेटा', 'अधूरी कहानी', 'परदेशी', 'अन्तिम इच्छा', 'मलबे का मालिक', 'पानी और पुल', 'एक मरा हुआ दिन', 'सहमे हुए', 'अमृतसर आ गया', 'सरदारनी', 'जहूरबख्श' आदि कहानियों में हुआ है ।

भारतीय संस्कृति, समाज, भाषा और राजनीति के तेज़ी से बदलते चेहरे की झलक विभाजन संबन्धी कहानियों में मिलती है । विभाजन के समय जो नरसंहार हुआ वह भारतीय इतिहास की नहीं, विश्व इतिहास की

एक ऐब ही है । विभाजन सांप्रदायिकता के बहाने राजनीतिक स्वार्थ मात्र रह गया । आज़ादी के बाद देश में धर्म और राजनीति को अलग करना आवश्यक था, यह नहीं किया गया । उसके विपरीत धर्म के आधार पर चुनावों के लिए वोट बटोरने की होड़ चल पड़ी। इससे भेद-भाव बढ़ा, सांप्रदायिकता को बल मिला ।

सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगों की शिकार अक्सर आम जनता ही है । भारत के सामाजिक परिवर्तन में आम आदमी का महत्वपूर्ण योगदान है । वे समाज के बदलाव के दौर में यह नहीं जानती कि वह सचमुच कौन है? किस समूह का है ? उसकी पहचान क्या है ? नेताओं का काम होता है उन्हें यह सब बताना और समझाना । लेकिन वे आम जनता को असली शत्रु के विरुद्ध लड़ने के बजाय आपस में अपने मित्रों, भाइयों के विरुद्ध लड़वाते हैं । सही दुश्मन हमेशा बचता रहता है ।

राजनीतिक एवं धार्मिक नेताओं की यह स्वार्थता एवं तंग दृष्टि से आम जनता सबसे पीड़ित है । मनुष्य के सत्तामोह एवं स्वार्थ मोह उसे धर्मांध बना देते हैं । ये सभी घटनाएँ संवेदनशील लेखकों को संवेदित कर रही हैं। इस परिप्रेक्ष्य में समकालीन कहानीकारी ने भी समाज में सांप्रदायिकता के बदलाव को पहचानते हुए उसका रेखांकन बखूबी अपनी कहानी में दी है ।

इस सन्दर्भ में 'पार्टीशन' 'रशीद का पाजामा', 'राजा का चौक', 'बदली तुम हो सादिया', 'सारी तालीमात', 'ज़ख्म', 'मुर्दाबाद', 'क्या कहना

है जटायु', 'दंगाई', 'अतिथि देवो भव', 'जलता हुआ सवाल', 'ये धुआँ धुआँ अंधेरा', 'कबीरदास', 'दूसरा कबीर', 'काला शुक्रवार', 'लाल गोदाम की भूत', 'फसाद', आदि कहानियों की चर्चा की गई है ।

आज़ादी के पाँच-छः महीनों के भीतर ही आज़ाद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में गाँधिजी की हत्या मुस्लिम पक्षधर घोषित करते हुए हिन्दू सांप्रदायिकतावादियों ने की थी। यह इसलिए भी की गई कि गाँधीजी हिन्दू समाज के रूपान्तरण कर रहे थे जो सांप्रदायिक शक्तियों के लिए अहित कार्य था । गाँधीजी की हत्या के बाद कई सांप्रदायिक शक्तियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और नेहरू युग के अंत तक उल्लेखनीय सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए।

सन् 1970 के आसपास भिवंडी मुंबई जैसी जगहों में दंगे हुए । इनके अलावा 1980 तक सांप्रदायिक शक्तियों का प्रत्यक्ष हमला कम ही हुआ था। तब तक एक ओर संघपरिवार पुनः शक्ति अर्जित करने लगा तो दूसरी ओर इंदिरा गाँधी की हत्या के साथ शुरु हुआ सिख हत्याकाण्ड शासन की आड़ में ही संपन्न हुआ । उसके बाद राजनीति में सांप्रदायिकता की प्रत्यक्ष घुसपैठ होने लगी । नेहरू का काँग्रेस दल, जिसने सेकुलरवाद पर अडिग रहना चाहते भी, इससे अलग नहीं रह सका । तब तक राजनीति सिर्फ सत्ता की राजनीति में पूर्णतया तब्दील हो गयी थी। सन् 1947 के बाद 1984 में मनुष्यता की होली जलाई गयी । यह वर्ष भारतीय इतिहास में काला वर्ष के रूप में याद किया जाएगा । 'काला नवंबर संग्रह' की कहानियाँ इस तथ्य को उजागर करती हैं कि आदमी चाहे जितना भी हैवान बन जाये, कहीं न कहीं

वह भी आदमी है, एक दूसरे से प्रेम विश्वास करनेवाला, एक दूसरे के मान-सम्मान एवं जीवन मूल्य को समझनेवाला । इस संग्रह की कथाकारों ने दानवों और पशुओं के बीच इनसानियत पर आस्था रखनेवाले इनसानों की खोज की है। इस संग्रह में ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें यह रेखांकित किया गया है कि मानवीय जीवन में जाति और धर्म प्रमुख नहीं हैं, आस्था और विश्वास, प्रेम और सहयोग ही प्रमुख हैं। कई कहानियाँ उन स्वार्थी तत्वों से हमारा साक्षात्कार कराती हैं जो भाई-भाई के बीच कटुता और शत्रुता की दीवार खड़ी करते हैं । इस सन्दर्भ में 'झुटपुटा', 'स्याह घर', 'अफवाहें', 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा', '... कुंजरो वा', 'उसके गले का राम', 'जय श्रीराम', 'जलकुण्ठ का रंग और नुसरत की आँखें', 'शरणागत-दीनार्थ', 'पायथन', 'नवशीन मुबारक', 'काली बर्फ' आदि कहानियाँ गौरतलब हैं ।

कहानी में भाषा की अलग भूमिका है । भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं है, वह भावों एवं संवेदनाओं को रूप भी देती है । अर्थात भाषा को भावों व संवेदनाओं की सिर्फ संवाहक न मानकर उनकी प्रकृति का अनुशासक एवं निर्धारक भी माना जाता है । सांप्रदायिकता विरोधी कहानियों में भाषा का यह रूप साफ साफ दिखाई देता है चाहे वह 'अमृतसर आ गया', 'पार्टीशन' या 'ज़ख्म' हो । भाषा कहानी में एक वैचारिक माहौल भी पैदा करती है । यही माहौल भाषा की संवेदना शक्ति है । कहानी में उसके कथ्य और भाषा को अलग करके देखना भी नामुमकिन होता है । आज कहानी की

भाषा में जो जीवन गंध अनुभूत होती है उसका रहस्य कहानी द्वारा यथार्थ को पूर्ण रूप से अपनाने में है । इस सन्दर्भ में लेखक को भाषा एवं शब्दों को संवारना पड़ता है जिससे उसकी दक्षता बढ़ जाती है । कहानियों में विभिन्न शौलियों का प्रयोग किया गया है जैसे कि प्रतीकात्मक शैली, संवाद शैली, फैंटसी, वर्णनात्मक शौली, आत्मकथात्मक शैली आदि । नए यथार्थ को व्यक्त करने के लिए रचनाकार विम्बों व प्रतीकों का इस्तेमाल करते आये हैं। पात्र स्थान व समय के अनुकूल भाषा प्रयोग में विविधता आयी है । सांप्रदायिकता सम्बन्धी कहानियों की भाषा में धर्म, संस्कृति इत्यादी के साथ उनके आपसी संबन्ध भी उजागर होता है । भाषा के कई रूप हैं, उनमें उसका यथार्थवादी रूप ही सक्षम है जिसका सही प्रयोग इन कहानियों में हुआ है।

भारत में फिलहाल सांप्रदायिकता बढ़ती आ रही है । शुरु से वह सत्ता की राजनीति के ज़रिए कार्यरत थी । आज भी उसमें बदलाव नहीं आया है । इतना ही नहीं वह सत्ता की राजनीति से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन के हर पहलू में ज़हर खोलती नज़र आ रही है । गत एक सौ तीस साल के इतिहास पर नज़र डाले तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी । आरंभ में संस्कृतिकर्मियों ने इसका विरोध किया था । साहित्यकार ने खासकर कहानीकारों ने अपनी सर्जना के ज़रिए जो पहल की है और आज भी कर रहे हैं वाकई काबिलेतारीफ के योग्य हैं ।

❖ ❖ ❖

संदर्भ ग्रंथसूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ सूची

1.	अंधेरा	अखिलेश वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2007
2.	अब्बू ने कहा था	चन्द्रकांता भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2004
3.	ये तेरे प्रतिरूप	अज्ञेय राजपाल प्रकाशन सं. 1961
4.	हम ज़मीन	अवंधेश प्रीत राजकमल प्रकाशन सं. 2006
5.	उनका डर तथा अन्य कहानियाँ	असगर वजाहत शिल्पायन, सं. 2004
6.	मैं हिन्दू हूँ	असगर वजाहत राजकमल प्रकाशन, सं.
7.	सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ	गिरिराज शरण (सं) प्रभात प्रकाशन, सं. 2002
8.	काली बर्फ	चन्द्रकान्ता किताबघर प्रकाशन सं. 1996
9.	कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ	नमिता सिंह शिल्पायन, सं. 2004

10.	निकम्मा लड़का	नमिता सिंह वाणी प्रकाशन - सं. 1987
11.	परिंदे का इंतज़ार सा कुछ	नीलाक्षी सिंह भारतीय ज्ञानपीठ, सं. 2005
12.	टुण्ड्रा प्रदेश तथा अन्य	पंकड विष्ट किताबघर प्रकाशन, सं. 1995
13.	बच्चे गवाह नहीं हो सकते	पंकज विष्ट किताबधर, प्र.सं. 1994
14.	विशिष्ट कहानियाँ	पाण्ड़ेय बेचन शर्मा उग्र शारदा प्रकाशन, सं. 1998
15.	प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ खण्ड-2	प्रेमचंद लोकभारती प्रकाशन, तृ. सं. 1999
16.	निशाचर	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन सं. 1983
17.	पाली	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन सं. 1989
18.	प्रतिनिधि कहानियाँ	भीष्म साहनी सामयिक प्रकाशन सं. 2005
19.	चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह सामयिक प्रकाशन सं. 2005

20.	हिन्दी की प्रतिनिधी कहानियाँ	मार्कण्डेय (सं) गायत्री पब्लिकेशन सं. 2005
21.	जानवर और जानवर	मोहन राकेश राजकमल प्रकाशन, सं. 1958
22.	वारिस	मोहन राकेश राजपाल एन्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली सं. 1972
23.	सच बोलने की भूल	यशपाल लोकबारती प्र.सं.
24.	चित्र का शीर्षक	यशपाल विप्लव कार्यालय सं. 1962
25.	युटोपिया	वंदना राग राजकमल प्रकाशन सं. 2010
26.	मुस्लिम परिवेश की विशिष्ट कहानियाँ	नफीस अफ्रीदी, विजय देव झारी शारदा, प्र,सं. 1994
27.	इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर अभिव्यंजना प्रकाशन
28.	काला शुक्रवार	सुधा अरोडा राजकमल प्रकाशन सं. 2004

29.	काला नवम्बर	सुरेन्द्र तिवारी अभिव्यंजना, प्र. 1987
30.	सांझा संस्कृति भारतीय फासीवाद का स्त्री प्रत्युत्तर	सुधा सिंह (सं) अनामिका प्रकाशन, सं. 2008
31.	आएँगे अच्छे दिन भी	स्वयं प्रकाश राजकमल प्रकाशन प्र. सं. 2004
32.	आदमी जात का आदमी	स्वयं प्रकाश किताबघर प्रकाशन सं. 1995
33.	मजहब नहीं सिखाता	सत्येन्द्र शरत (सं)
34.	नाम में क्या रखा है	हरि भटनागर आधार प्रकाशन, सं. 1997
35.	कथाश्री	श्री. चक्रधर (सं) लोक भारती प्रकाशन सं. 1996

सहायक ग्रंथ

1.	धर्म का मर्म	अखिलेश राजकमल प्रकाशन प्र. सं. 2003
2.	अतीत का वर्तमान	अमर्त्यसेन ग्रंथ शिल्पी, सं. 2002
3.	लोकतंत्र के सात अध्याय	अभयकुमार दुबे (सं) वाणी प्रकाशन, सं. 2002

4.	राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड	अभयकुमार दुबा (सं) वाणी प्रकाशन, सं. 2005
5.	फासीवाद	अयोध्या सिंह ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन सं. 1980
6.	सांप्रदायिकता इतिहास और अनुभव	असगर अली इंजिनीयर इतिहासबोध प्रकाशन प्र. सं. 2004
7.	खामोशी के उस पार	उर्वशी बुटालिया वाणी प्रकाशन, सं. 2002
8.	हिन्दी कहानी के सौ वर्ष	डॉ. एन.एम सण्णी और डॉ. ई. एम. अन्नासाली (सं) जवाहर पुस्तकालय मधुरा, सं. 2008
9.	संपूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड - 18	एम के गाँधी अहमदाबाद नवजीवन ट्रस्त, सं. 1960
10.	नई कहानी की भूमिका	कमलेश्वर शब्दाकार, सं. 1978
11.	विकल्पहीन नहीं है दुनिया	किशन पटनायक सं. 2000
12.	उत्तर आधुनिकता की ओर	कृष्णदत्त पालीवाल आर्य प्रकाशन मण्डल गान्धी नगर, सं. 2005
13.	प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास	कृष्णकुमार श्री सरस्वती सदन सं. 1993

14.	लगता है बेकार गए है हम	कुंवरपाल सिंह (सं) वाणी प्रकाशन, सं. 1999
15.	भगतसिंह का संपूर्ण दस्ताबेज़	चमनलाल (सं) आधार प्र. पंचकला, सं. 2006
16.	आधुनिक भारत का राजनीतिक इतिहास	डॉ. देशबंधु त्यागी जैन एण्ड जैन जयपुर 3, सं. 1991
17.	धर्म और सांप्रदायिकता	नरेन्द्र मोहन प्रभात प्रकाशन, असिफ अली रोड नई दिल्ली - 1996
18.	समकालीन हिन्दी कहानियाँ	नरेन्द्र मोहन भारतीय प्रकाशन संस्थान सं. 2003
19.	विभाजदन की त्रासदी और भारतीय कथा दृष्टि	नरेन्द्र मोहन भारतीय ज्ञानपीठ सं. 2008
20.	कहानी : नई कहानी -	नामवर सिंह लोक भारती प्रकाशन सं. 1994
21.	आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन	निर्मला जैन राजकमल प्रकाशन सं. 2004

22. नई कहानी कि विविधझ प्रयोग — शशिभूषण शितांशु, डॉ. पाण्डेय, लोक भारती प्रकाशन, सं. 1974
23. विभाजन और भारतीय कहानियाँ — डॉ. पी. रवि, गीता बुक्स, केरल 670 501, सं. 1989
24. समकालीन हिन्दी कहानी यगबोध का सन्दर्भ — पुष्पपाल सिंह, सं. 1986
25. आज के अतीत — भीष्ण साहनी, राजकमल प्रकाशन, सं. 2003
26. मेरे साक्षात्कार — भीष्म साहनी, किताब घर प्रकाशन, सं. 1996
27. भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास — शैलेन्द्र श्रीवास्तव, चेतना प्रकाशन, नागपुर, सं. 1993
28. राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म — मधुपूर्णिमा किश्वर, वाणी प्रकाशन, सं. 2005
29. आज़ादी की कहानी — मौलना अब्दुलकलाम आज़ाद, ओरियंड लग्मन लिमिटेड़, हैदराबाद, सं. 1987
30. हिन्दी कहानी का विकास — मधुरेश, समुति प्रकाशन, दू, सं. 2000

31.	हिन्दी कहानीः अस्मिता की तलाश	मधुरेश आधार प्रकाशन प्र. सं. 1997
32.	विभाजन की कहानियाँ	मुशरफ आलम ज़ैकी वाणी प्रकाशन, सं. 2006
33.	अयोध्याः कुछ सवाल,	रफीक ज़करिया साराश, प्र.सं. 1994
34.	सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे	रमणिका गुप्ता वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1988
35.	साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	रमेश चन्द्र तिवारी प्रभात प्रकाशन दिल्ली - 6, सं. 1988
36.	अयोध्या और उससे आगे	राजकिशोर वाणी प्रकाशन, 1995
37.	नैतिकता के नए सवाल	राजकिशोर वाणी प्रकाशन, सं. 2006
38.	भारत का राजनीतिक संकट	राजकिशोर वाणी प्रकाशन, सं. 2004
39.	मुसलमान क्या सोचता है	राजकिशोर वाणी प्रकाशन, 1995
40.	दंगे क्यों?	राजेन्द्र मोहन भटनागर विद्या पुस्तक सदन सं. 1998
41.	एक दुनिया समानान्तर	राजेन्द्र यादव राधाकृष्ण प्रकाशन, सं. 1993

42.	हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा	रामदरश मिश्र राजकमल प्रकाशन सं. 1968
43.	लोकतांत्रिक भारत या हिन्दू राष्ट्र	राम पुनियानी वाणी प्रकाशन. सं. 2004
44.	सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक	राम पुनियानी वाणी प्रकाशन सं. 2005
45.	भारत विभाजन के गुनहगार	राम मनोहर लोहिया लोक भारती प्रकाशन पंचन् सं. 1998
46.	विश्व की महान क्रांतियाँ	राम लाल विवेक श्यां प्रकाशन, जयपुर सं. 1994
47.	भाषा और संवेदना	डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी भारतीय ज्ञानपीठ सं. 1964
48.	छोटे आदमी की बड़ी कहानी	राही मासूम रज़ा शिल्पायन, सं. 2005
49.	इतिहास की पुनर्त्यास्था	रोमिला थापर (सं) राजकमल प्रकाशन पुनर्त्याख्या, सं. 2004
50.	आधुनिकक हिन्दी कहानी	डॉ. लक्ष्मी नारयण लाल वाणी प्रकाशन
51.	द्वितीय विश्व महायुद्दोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास	लक्ष्मी सागर वाष्णेय राजपाल प्रकाशन सं. 1982

52.	कहानी संवाद का तीसरा आयाम	बटरोही नाशनल पब्लिशिंग हाउस सं. 1983
53.	सांप्रदायिकता एक अध्ययन	बिपिन चन्द्र अनामिक पब्लिशेर्श एण्ड ड़िस्ट्रिब्यूटर्स
54.	कथा साहित्य के सौ बरस	विभूति नारायण लाल शिल्पायन प्रकाशन सं. 2001
55.	हिन्दी कहानी का समकालीन परिदृश्य	वेदप्रकाश अमिताब सं. 2005
56.	भारत में अलगाववाद और धर्म	शमसुल इस्लाम वाणी प्रकाशन, सं. 2006
57.	प्रेमचंद, विरासत का सवाल	शिवकुमार मिश्र वाणी प्रकाशन, सं. 1994
58.	धर्म का दुखान्त	शंभूनाथ आधार प्रकाशन, सं. 2000
59.	सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़	शंभूनाथ वाणी प्रकाशन, सं. 2000
60.	आधुनिक हिन्दी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ	डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा राधा पब्लिकेशन्स सं. 1996
61.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानवीय प्रतिमा	डॉ. हेतु भरद्वाज पंचशील प्रकाशन जयपुर, 1983

62.	संक्रमण की पीड़ा	श्यमाचरण दुबे वाणी प्रकाशन, सं. 1998
63.	प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध	सत्यप्रकाश मिश्र ज्योति प्रकाशन सं. 1998
64.	हिन्दुत्व और उत्तर-आधुनिकता	सुधीश पचौरी राधाकृष्ण प्रकाशन सं. 2002
65.	हिन्दी कहानी प्रक्रिया और पाठ	सुरेन्द्र चौधरी राधाकृष्ण प्रकाशन सं. 1995
66.	धर्म और समाज	सर्वपल्ली राधाकृष्णन सिल्वर वैर शाहदारा दिल्ली, सं. 2002
67.	समकालीन कहानी - सोच और समझ	सं. पुष्पपाल सिंह आत्माराम एण्ड सन्स सं. 1986
68.	समकालीन हिन्दी कहानी	डॉ. एन मोहनन सं. 2007
69.	डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिंतन	डॉ. राजेनद्र प्रसाद शर्मा साहित्यागार, प्र. सं. 1990

अंग्रेज़ी ग्रंथ सूची

1.	Communalism and communal Violence in India, an analatical approach to Hindu Muslim Conflict	Asgar Ali Engineer Ajanta Publications P. 1989

2.	Communalism in India, a historical and Emperical study	Asgar Ali Engineer Vikas publication New Delhi, P. 1995
3.	Creating a nationality, The Ramjanmabhumi movement and fear of the self	Ashish Nandy Shikha Thrivedi Shail Mayaram Achut Yagnik Oxford University Delhi
4.	Freedom at Midnight	Larry Collins, Dominic Lapierre Vikas Publishing House, New Delhi P. 1976
5.	Communalism- An Illustrated primer	Ram Puniyani J & P Publications
6.	Hitler, Great Biographies	Francisco Luis, Cardona Castro C/Primavera, 35 Pol. Ind. El Malvar, Spain

पत्र-पत्रिकाऐं

1.	वसुधा	- 78
2.	संचेतना	- सितंबर - 1982
3.	प्रकर	- फरवरी 1984
4.	संचेतना	- मार्च 1984
5.	संचेतना	- जुलाई 1985

6.	पहल	- 1987
7.	धर्मयुग	- जनवरी 1988
8.	धर्मयुग	- फरवरी 1988
9.	साक्षात्कार	- जुलाई - दिसंबर 1988
10.	दस्तावेज़	- अक्तूबर - दिसंबर 1991
11.	नवभारत टाइम्स	- जुलाई 1993
12.	मधुमति	- सितंबर 1996
13.	आलोचना	- मार्च 2000
14.	इन्द्रप्रश्थ भारती	- जुलाई -दिसंबर 2000
15.	नुक्कड जनम् संवाद	- दिसंबर 2001
16.	हंस	- अगस्त 2001
17.	हंस	- मई 2001
18.	सामयांतर	- मार्च 2003
19.	मधुमत	- फरवरी 2003
20.	माध्यम	- अक्तूबर - दिसंबर - 2005
21.	वाङ्मय	- अक्तूबर - दिसंबर - 2005
22.	कथन	- जुलाई - सितंबर 2007
23.	हंस	- नवंबर 2007
24.	संबोधन	- अप्रैल-जून 2008
25.	संबोधन	- जनवरी -मार्च 2009
26.	नया ज्ञानोदय	- जून 2009
27.	नई धारा	- अप्रैल मई 2013
28.	वागर्थ	- अगस्त 2013
29.	उम्मीद	- 2014